जैन साहित्य का समाजशास्त्रीय इतिहास

उषा अग्रवाल

पुस्तक परिचय

''जैन सामाजिक विचारों का इतिहास'' जैन वाङ्गमय पर आधारित है। जैन वाङ्गमय भारतीय वाङ्गमय का एक अभिन्न अंग हैं। जैनाचार्यों एवं साहित्यकारों ने समय, परिस्थितियों एवं सामाजिक गतिविधियों के अनुकूल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, गुजराती, मारठी एवं तमिल आदि सभी भाषाओं में धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थों का सृजन किया। जैन दर्शन की प्रवृत्ति समन्वयवदी एवं उदारवादी होने के कारण जैन धार्मिक ग्रन्थों एवं साहित्य में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं भोगोलिक इतिहास भी विविध पक्षों के साथ स्वत: प्रतिफलित हुआ है।

''साहित्य'' समाज का दर्पण माना गया है। जैन साहित्य के विभिन्न स्वरुप-पुराण, चरित काव्य, कथासाहित्य एवं अभिलेख भारतीय संस्कृति के विश्वकोष हैं। अतएवं भारतीय समाज एवं संस्कृति का सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक अध्ययन करने हेतु ''जैन सामाजिक विचारों के इतिहास'' को अध्ययन केन्द्र (विषय) बनाया गया है।

जैन सामाजिक विचारों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करने हेतु ऐतिहासिक एवं तुलानात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन समाज उदारवादी, निवृत्तिमार्गी एवं आदर्शोन्मुखी होते हुए भी यथार्थवादी धरातल पर टिका है। यह यथार्थवादी धरातल ऐतिहासिक घटनाओं एवं सामाजिक जीवन के विविध पक्षों से निर्मित हुआ हैं। भारतीय राष्ट्र, विविध प्रकार के समाज, विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के आचार, व्यवहार, सिद्धान्त, पुरूषार्थ, संस्कार, आश्रम व्यवस्था, रीतिनीति, जनजीवन पद्धति, राजतन्त्र, वाणिज्य, व्यवसाय अर्थोपार्जन एवं समाज संगठन के बहुविध वैज्ञानिक विचार भारतीय समाज के धरोहर रूप में प्राप्त होते हैं।

लेखिका परिचय

डॉ. उषा अग्रवाल, एम. ए. (समाजशास्त्र एवं इतिहास) विश्वविद्यालयीय योग्यता सूची में क्रमश: द्वितीय एवं तृतीय स्थान, पी.एच. डी., रीडर एवं विभागाध्यक्षा, समाजशास्त्र, कुँ. आर. सी. म. पी. जी., कालेज मैनपुरी (उ. प्र.) में सितम्बर 1982 से कार्यरत अनेकों सम्मेलनों एवं गोष्ठियों में सक्रिय भूमिका, विभिन्न शोध पत्रिकाओं में कई शोध पत्र प्रकाशित, ''व्यावहारिक समाजशास्त्र'' पर शीघ्र ही पुस्तक प्रकाशित होने वाली है।

ISBN 81-7054-350-9 Rs. 400.00

जैन साहित्य का समाजशास्त्रीय इतिहास

मेरी ऊर्जा के प्रेरणा–स्रोत
मेरे अन्तस के सारस्वत आलोक के ज्योति 'पुंज'
पूज्य पिताजी श्री गौरगोपाल 'मानसिंहका'
को सादर समर्पित

जैन साहित्य का समाजशास्त्रीय इतिहास

डॉ० उषा अग्रवाल
रीडर एवं विभागाध्यक्षा (समाजशास्त्र)
कुँ० आर.सी.म.पी.जी. कॉलेज
मैनपुरी

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली

ISBN : 81-7054-350-9

© – डॉ. (श्रीमती) उषा अग्रवाल

प्रथम संस्करण – सन् 2002

प्रकाशक :
बी. के. तनेजा
क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
28, शॉपिंग काम्प्लैक्स, क़र्मपुरा,
नई दिल्ली–110015

लेज़र टाइपसैटिंग :
एलीगैंट प्रिंटोग्राफिक्स
74, सवेरा अपार्टमैंट, सैक्टर–13
रोहिणी, दिल्ली–110085

मूल्य - 400.00

मुद्रक :
नागरी प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा,
दिल्ली–110032

आमुख

समाजिक विचारक अपने मौलिक चिन्तन, मनन एवं अध्ययन द्वारा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों एवं गतिविधियों को अपने साहित्य में प्रतिफलित करते हैं। भारतीय इतिहास एवं तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के विविध पक्षों का ज्ञान कराने में जैन सामाजिक विचारक अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। "जैन समाज" भारतीय समाज का एक अभिन्न एवं प्राचीन समाज है। जैन धर्म के अंतर्गत चौबीस तीर्थकरों द्वारा दिये गये उपदेशों के आधार पर जैन पुराणों, चरितकाव्यों, कथासाहित्य एवं अभिलेखीय साहित्य की रचना की गई। धार्मिक ग्रन्थ एवं तत्कालीन लिखा गया साहित्य ही इतिहास निर्माण की परंपरा को स्पष्ट करते हैं।

"साहित्य समाज का दर्पण" होता है। किसी भी समूह, समुदाय, समाज, समिति संस्था एवं राष्ट्र का हम तब तक संपूर्ण एवं समीचीन अध्ययन नहीं कर सकते, जब तक कि उसके इतिहास का सम्यक् रूप से संकलन करके उसका विशद अध्ययन न कर लें। अतः जैन समाज का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक परंपराओं को इतिहास निर्माण के निमिल खोज निकालने, ऐतिहासिक मान्यताओं का इतिहास निर्माण की दृष्टि में उपयोग करने की दिशा निर्दिष्ट करने, एवं आधुनिक इतिहासकारों की दृष्टि में इतिहास निर्माण की दृष्टि में इनका किना विशाल योगदान हो सकता है, की जानकारी हेतु ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

जैन साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अभिन्न अंग है। जैन साहित्य का सूत्रपात महावीर के निर्वाणोपरान्त १६० ई. पू. में हुआ। समय–समय पर जैन इतिहासकारों एवं साहित्यकारों ने युग की परिस्थितियों एवं गतिविधियों को परखते हुए विभिन्न भाषाओं में साहित्य निर्माण किया। अपने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को स्थायी एवं व्यापक रूप प्रदान करने के साथ ही भारतीय संस्कृति के वदलते हुए जीवन मूल्यों को दृष्टिगत करते हुए नवीन प्रतिमानों के अनुसार साहित्य सृजन किया गया।

छठी शताब्दी ई. वी. के पूर्वयुगीन एवं उत्तरयुगीन साहित्य के पर्यवलोकन से स्पष्ट होता है कि जैन इतिहासकारों एवं सामाजिक विचारकों ने संस्कृति के अन्य पक्षों की अपेक्षा धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों के साथ आचार व्यवहार को विशेष स्थान दिया है वहीं उत्तरयुगीन साहित्य में धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों, आचार व्यवहारों के साथ ही भारतीय संस्कृति अपने विविध पक्षों – सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक रूपों में प्रतिफलित हुई है।

जैन इतिहासकारों एवं सामाजिक विचारकों द्वारा अपने ग्रन्थों में किये गये

कालनिर्देश इतिहास निर्माण एवं समाज की परिवर्तनशील प्रकृति को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। छठी शताब्दी ई. वी का उत्तरयुगीन साहित्य हिन्दू आख्यानों एवं उपाख्यानों से प्रभावित हुआ। फलतः अनेक जैन साहित्यिक विधाओं–चरितकाव्य, पुराण, कथा साहित्य आदि का प्रणयन हुआ जो रचनाकालीन समाज की परंपराओं और मान्यताओं को समाहित किये हुए है।

जैन सामाजिक विचारकों नेअपनी साहित्यिक विधाओं को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कभड़ गुजराती, मराठी एवं तमिल आदि भाषाओं में लिखा है, इनमें तत्कालीन सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक विवरण प्रस्तुत किये हैं। हिन्दू समाज "वसुधैव–कुटुम्बकम्" की भावना को अपने में संजोये हुए है। फिर भी हिन्दू समाज को और अधिक उदान्त बनाने के दृष्टिकोण से हिन्दू तथ्यों का भी जैन विचारकों ने जैनीकरण किया है। हिन्दू आख्यानों पर आधारित कथा साहित्य एवं अभिलेखीय साहित्य में भारतीय समाज एवं संस्कृति में मान्य संघ, गण, गच्छ, आचार्यों की वंशावलि को स्पष्ट किया गया है।

जैन ऐतिहासिक तथ्यों–भोगभूमि, कर्मभूमि, अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी, भक्तिधारा योग एवं उपासना, तप एवं आचारएवं अन्य धार्मिक सिद्धान्तों, मन्दिर एवं मूर्ति पूजा पद्धति, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरूषार्थ, कर्म सिद्धान्त आदि पर हिन्दू प्रभाव एवं समानता दिखाते हुए जैन तिहासकारों की उदारवादी, धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है।

लेखन शैली में इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि पुस्तक में वर्णित सामग्री को पाठक सरलता पूर्व सम्यक् रूप से समझ सकें। मुझे विश्वास है कि जैन समाज और उसके इतिहास को समझने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी। भारतीय वाङ्मय के महत्वपूर्ण अंग जैन वाङ्मय का इतिहास निर्माण की दृष्टि से अध्ययन, एवं ऐतिहासिक एवं सामाजिक परंपरा के विविध स्वरूपों का इतिहास एवं समाजशास्त्र के नवीन मापदंडों को स्पष्ट करने में यह पुस्तक महत्वपूर्ण एवं दिशा निर्देशित करने में सक्षम सिद्ध होगी।

यहाँ मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना परम दायित्व समझती हूँ जिनकी रचनाओं एवं दिशा निर्देशन का लाभ इस पुस्तक में उठाया गया है। मैं पुस्तक के प्रकाशक श्री बी. के. तनेजा को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूँगी जिनके सद्प्रयत्नों एवं सहयोग से यह पुस्तक अति सुंदर ढंग से प्रकाशित हो पायी है। सहृदय पाठकों एवं विद्वतज्जनों से नम्र निवेदन है कि अपने सुझावों द्वारा अनुग्रहित करें।

डॉ (श्रीमती) उषा अग्रवाल

Abbreviations

जै०शि०सं०	जैनशिलालेख संग्रह
च०म०प०च०	चउपन्नमहापरिसचरियं
आ०क०को०	आराधनाकथाकोष
पु०क०को०	पुण्यास्त्रवकथाकोष
बृ०क०को०	बृहत्कथाकोष
जै०रा०	जैनरामायण
ति०म०	तिलक मंजरी
स०क०	समराइच्चकहा
य०च०	यशोधरचरित
प्र०चि०	प्रबन्धचिन्तामणि
वा०हि०	वासुदेवहिण्डी
ऋ०वे०	ऋग्वेद
अ०वे०	अर्थवेद
पु०वि०	पुराण विमर्श
म०भा०	महाभारत
यो०द०	योगदर्शन
शा०प०	शान्तिपर्व
क०उ०	कठोपनिषद्
म०स्मृति	मनुस्मृति
प्र०सा०	प्रवचनसार
भ०गी०	भगवद्गीता
बा०रा०	बाल्मीकि रामायण
सा०पा०	सामायिक पाठ
र०क०श्रा०	रत्नकाण्ड श्रावकाचार
हि०स०	हिन्दू संस्कार
उ०रा०च०मा	उत्तरामचरितमानस
आ०गृ०सू०	आश्वालयन गृहयसूत्र
आ०श्रु०	आचारांगश्रुत
स०सू०	समवायांगसूत्र
त्रि०ल०म०पु०	त्रिशष्ठिलक्षण महापुराण
आ०पु०	आदिपुराण
म०पु०	महापुराण
उ०पु०	उत्तरपुराण

ह०पु०	हरिवंशपुराण
प०पु०	पद्मपुराण
प०च०	पद्मचरित
प०च०	पउमचरिय विमलसूरि
प०च०	पउमचरिउ स्वयम्भू
भा०पु०	भागवत पुराण
वा०पु०	वायुपुराण
मा०पु०	मार्कण्डेयपुराण
पा०पु०	पार्श्वनाथपुराण
ब्र०पु०	ब्रह्माण्डपुराण
वि०पु०	विष्णुपुराण
शि०म०पु०	शिवमहापुराण
य०च०	यशस्तिलक चम्पू
बं०च०	बंरागचरित
व०च०	बर्द्धमानवरित
ने०नि०म०	नेमिनिर्वाणमहाकाव्य
जी०च०	जीवन्धरचम्पू
त्रि०श०पु०च०	त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित
च०च०	चन्द्रप्रभवरित
ध०श०	धर्मशर्माभ्यूदय
द्वि०सं०म०	द्विसंधानमहाकाव्य
प्र०च०	प्रद्मुम्नवरित
ह०का०	हम्मीरकाव्य
प०का०	पद्मानन्द काव्य
अ०च०	अभयकुमार चरित
ए०इ०	एपिग्रापिका इण्डिका
इ०ए०	इण्डियन एण्टीकवेरी
इ०हि०क्वा०	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वारटली
जि०र०को०	जिनरत्नकोष
प्र०सं०द्वा०	प्रश्नसंवरद्वार
नि०सा०	नियमसार
स०सि०	सर्वार्थ–सिद्धि
क०वि०	कलाविलास
ध०प०	धर्मपरीक्षा
क०स०सा०	कथासरित्सागर

वै०इ०	वैदिक इन्डैक्स
अ०श०	अवदान शतक
कु०पा०प्र०	कुमारपाल प्रतिबोध
वि०क०स०	विनोदकथासंग्रह
ना०प्र०प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
पु०ज०म०अ०	पुराणिक जैन महिला अंक
व०ध०सू०	वशिष्ठ धर्म सूत्र
जै०वि०मी०	जैनविहार मींमासा
शि०व०	शिशुपाल वध
तै०उ०	तैत्तरीय उपनिषद
मृ०क०	मृच्छकटिक
या०स्मृति	याज्ञवलक्य स्मृति
तै०उ०	तैत्तरीय उपनिषद
भ०आ०	भगवती आराधना
भा०स०जै०ध०यो०	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान
जै०सा०बृ०इ०	जैन साहित्य का बृहद इतिहास
सु०म०ग्र०	स्वर्ण महोत्सव ग्रन्थ
त्रि०सा०	त्रिलोकसार
जै०वि०मी०	जैनविहारमीमांसा
क०सू०	कल्पसूत्र
प्रा०भा०अ०अ०	प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन
पू०म०का०भा०	पूर्वमध्यकालीन भारत
हि०क०इ०पी०	हिस्ट्री एण्ड कल्चर औफ इण्डियन पीपुल
पू०म०का०भा०	पूर्वमध्यकालीन भारत
प्रा०भा०शा०प०	प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
प्रा०भा०इ०	प्राचीन भारतीय इतिहास
जै०सा०इ०	जैनिज्म इन साउथ इण्डिया
जै०आ०सा०भा०स०	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
य०च०इ०क०	यशस्तिलक चम्पू एण्ड इण्डियन कल्चर
भा०द०	भारतीय दर्शन
जै०ध०	जैन धर्म
प्रे०अ०ग्र०	प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ
जै०क०सां०अ०	जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन
आ०पु०सां०अ०	आदि पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन अप्रकाशित शोध प्रबन्ध

इ०द०	इतिहास दर्शन
जै०सा०सं०इ०	जैन साहित्यिका संक्षिप्त इतिहास
प्रा०सा०इ०	प्राकृत साहित्य का इतिहास
हि०एड०इ०	हिन्दू एडीमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स
मै०जै०	मैडिवल जैनिज्म
जै०सि०ए०	जैन सिस्टम ऑफ एजुकेशन
आई०फि०	इण्डियन फिलासफी
ए०ऑफ०हि०इ०	एलीमेंटस ऑफ हिन्दू इकोनोग्राफी
स्ट०जै०	स्टडीज इन जैनिज्म
हि०मि०इ०	हिस्ट्री औफ मिडिएवल इंडिया
जी०सू०	जीवाभिगमसूत्र
क०च०	करकंडुचरिउ
क०स०सा०	कथासरित्सागर
जै०व्या०	जैनेन्द्र व्याकरण
प्र०सा०	प्रवचनसार
स्था०सू०क०	स्थानांगसूत्रक्रमांक
भ०आ०	भगवती आराधना
नि०चू०पी०	निशीधचूर्ण पीठिका
ओ०नि०	औधनिमुर्क्ति
ज्ञातू०क०	ज्ञातूधर्मकथा
आ०चू०	आवश्यकचूर्णी
नि०चू०	निशीथचूर्णी
बृहत०भा०पी०	बृहत्कल्पभाष्यपीठिका
व्य०भा०	व्यवहारभाष्य
म०शा०प०	महाभारत शान्तिपूर्व
कौ०अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
जम्बू०प्र०	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
नि०भा०	निशीथभाष्य
उ०टी०	उत्तराध्ययन टीका
व्या०प्र०	व्याख्याप्रज्ञाप्ति
म०नि०	महानिशीथ
पि०सू०	पिपाकसूत्र
औ०सू०	औपपादिक सूत्र
स्था०सू०	स्थानांग सूत्र
राज०प्र०टी०	राजप्रश्नीयटीका

दी०नि०	दीर्घनिकाय
उ०चू०	उत्तराध्ययनचूर्णी
वि०सू०	विपाकसूत्र
आचा०चू०	आचारांगचूर्णी
जै०स०शो०	जैन सन्देश शोधांक
उ०सू०	उत्तराध्ययनसूत्र
नि०सू०	निशीथसूत्र
पि०नि०	पिण्डनिर्युक्ति
प्र०व्या०	प्रश्नव्याकरण
अं०नि०	अंगुत्तरनिकाय
ग०वृ०	गच्छाचारवृत्ति
सू०कृ०	सूत्रकृतांग
या०स्मृति	याज्ञवलक्य स्मृति
दश०चू०	दशवैकालिक चूर्णी
नि०भ	निशीथभाष्य
अंगु०नि०	अंगुन्तरनिकाय
गौ०ध०सू०	गौतमधर्मसूत्र
क०सू०टी	कल्पसूत्रटीका
उ०द०	उपासकदशा
नि०व०	निरियावतिओ
आ०नि०	आवश्यकनियुर्क्ति
इ०लौ०स्ट०	इन्डोलौजिकल स्टडीज
दि०आ०स०औ०गु०	दि आकर्योलौजिकल सर्वे औफ गुजरात
दि०आ०स०औ०मै०	दि आकर्योलौजिकल सर्वे औफ मैसूर
जै०स्तू०ए०अ०ए०औ०म०	जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीकवरीज औफ मथुरा
जै०सो०औ०ए०इ०	जैन सोर्सज औफ एन्शियन्ट इण्डिया
ए०इ०हि०ट्रे०	एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टौरिकल ट्रेडीशन्स
ज०उ०प्र०हि०सो०	जर्नल औफ उत्तर प्रदेश हिस्टौरिकल सोसायटी
का०स०	काठक संहिता
वा०सं०	वाजसनेयी संहिता
इ०मा०	इपिक माइथोलोजी
जै०यु०नि०	जैन युग निर्माण

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पृ०सं०
प्रथम	**जैन इतिहास की उत्पत्ति एंव विकास छठी शताब्दी ई०वी० से बारहवी शताब्दी ई०वी० तक** जैन इतिहास की परिभाषा एंव व्याख्या तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए–१, जैन एंव जैनेतर इतिहास लेखन की पद्धतियाँ–३, जैन इतिहास की प्राचीनता एंव ऐतिहासिकता–४, जैन एंव जैनेतर साहित्यिक एंव पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर जैन इतिहास निर्माण का प्रारम्भ एंव उसका विकास–६, छठी शताब्दी ई०वी० से बारहवीं शताब्दी ई०वी० तक – विविध भाषाओं में संस्कृत साहित्य–१०, प्राकृत साहित्य–२०, अपभ्रंश साहित्य, कन्नड़ साहित्य–३३, तमिल साहित्य.३४, मराठी साहित्य.३५	१
द्वितीय	**जैन इतिहास लेखकों का उद्देश्य एंव उनकी विशेषताऐं** जैन इतिहास निर्माण की तत्कालीन परिस्थितियाँ एंव उनका प्रभाव–३६, राजनैतिक, धार्मिक,संघ व्यवस्था, सामाजिक उद्देश्य – जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्थायी एंव व्यापक रुप देना – ४०, त्रिशष्ठिशलाका – पुरुषों का चरित्र निरुपण एंव तत्सम्बन्धित राजवंशों का उल्लेख . ४५ अरिहंत या तीर्थकंर,चक्रवर्ती, बलभ्रद,नारायण, प्रतिनारायण राजवंश – ५६, इक्ष्वाकु,कुरु,काश्यप,हरि नाग विद्याधर,राक्षस एंव वानरवंश हिन्दू धर्म में मान्य तथ्यों का जैनीकरण करना–६१, जैनधर्म के आश्रयदाताओं से सम्बन्धित घटनाओं, कियाकलापों का वर्णन–६५, तत्कालीन समाज एंव संस्कृति का वर्णन–६६, विशेषताएं–कालनिर्देश–७०,जनसाधारण की भाषा–७२ धार्मिक उपाख्यानों के माध्यम से धटनाओं का वर्णन–७३, समन्वयवादी एंव उदारवादी दृष्टिकोण अपनाना	२५

–७४, आचार,समुदाय,सांस्कृतिक एंव साहित्यिक क्षेत्र में जैनेतर साहित्य का सृजन एंव संरक्षण प्रदान करना–७५, सामाजिक एंव आध्यात्मिक समानता को स्थापित कर प्राणीमात्र के लिए साधना का मार्ग प्रस्तुत करना ७६, शान्तिमय जीवन पर बल–७६, कर्म एंव पूर्वभवों के सम्बन्धों को स्पष्ट करना, आत्मा की अनन्त शक्तियों का वर्णन करना–७७, तत्कालीन जीवन के सभी क्षेत्रों के महत्वपूर्ण पक्षों का उल्लेख करना –७८।

तृतीय **जैन इतिहास का विषय और विकास** ५५

जैन परम्परा में प्राप्त जैन इतिहास का प्रारम्भिक उल्लेख –७६, तीर्थकरों द्वारा समय समय पर दिये गये उपदेशों का कालकमानुसार लुप्त एंव क्षीण होना–८०, जैन इतिहास लेखन का प्रारम्भ एंव आगम साहित्य में वर्णित विषय–८२, आगम साहित्य पर लिखे गये व्याख्यात्मक साहित्य में आगमों में वर्णित विषय का विकास–८३,धार्मिक–८४, निवास स्थान, बैराग्य,दीक्षा, निष्क्रमण संस्कार,मुनिआचार,व्रतसंयम गमनानगमन, विद्यामंत्र एंव विधान,आदर्श एंव अपवाद मार्ग का अवलम्बन जैनसंघ–८६, धार्मिक सहिष्णुता एंव समन्वय वाद–६०, त्रेशठ शलाका पुरुषों के जन्म दीक्षा आदि स्थान एंव तत्कालीन समाज संस्कृति एंव राजनीति का वर्णन–६१, पुराण,चरित,कथा साहित्य एंव अभिलेखीय साहित्य में इन विषयों का विकास एंव सिद्धान्त रुप में वर्णन –६२।

चतुर्थ **पुराण** ६५

पुराण का अर्थ एंव उसकी व्याख्या–६४,जैनपुराणों का उद्देश्य–६५, जैनपुराणों के लक्षण–६५, जैनपुराण लेखन की पद्धति एंव विशेषताऍ–६८, पुराणों में वर्णित विषय – भोगोलिक–लोक सम्बन्धी मान्यताए–१००,जम्बूद्वीप–१०१ क्षेत्र.१०२, कुलाचल.१०४, उत्तरकुरु एंव देवकुरु–१०७, अन्य द्वीप–१०८, उर्ध्वलोक एंव ज्योर्तिलोक–१११, ।

राजनैतिक–राज्य की उत्पत्ति–११२, राज्य के अंग एवं राजनीतिक गतिविधि–११३, अभिषेक – ११४, अन्तःपुर एवं राजकीय आमोद प्रमोद–११५, राजाओं की शिक्षा एवं कर्तव्य–११६, मंत्रिपरिषद–११७, राजनैतिक विभाजन–११८,कर व्यवस्था–१२१, राज्यापराध एंव दण्ड व्यवस्था –१२२

पुराण एंव समाज व्यवस्था – सामाजिक संगठन का आधार–१२३, आश्रम व्यवस्था–१२८, नारी का स्थान १२६, जैनपर्व, उत्सव एंव शकुन,अपशकुन की मान्यताएं –१३० धार्मिक–जैनधर्म की प्रकृति–१३०, त्रयरत्न–१३१, मुनिआचार–१३३,श्रावकाचार–१४१,पंच परमेष्ठी एंव पूजा –१४४, दान–१४५।

पंचम **कथा साहित्य** १०२

जैन कथाकारों का उद्देश्य–१४७, कथासाहित्य की शैली–१४७,धार्मिक–जैन धर्म की मान्यताऐं एंव सिद्धान्त –१४८, सामाजिक–सुव्यवस्थित एंव संगठित समाज–१५१,वर्णव्यवस्था–१५३,विवाह–१५४,आमोदप्रमोद–१५५, नारी की स्थिति–१५६,वेश्या वृत्ति एंव विधवा विवाह–१५७,पर्दा,नियोग,एंव सती प्रथा–१५८,गणिकाऐं–१५८। आर्थिक –अर्थोपार्जन के साधन एंव सामुद्रिक यात्राऐं –१५६,आर्थिक सम्पन्नता–१६०,। राजनैतिक–तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था–१६१,राजा एंव उसके गुण–१६२, दण्ड व्यवस्था–१६२,न्यायव्यवस्था–१६३।

षष्ठ **चरितकाव्य** ११४

चरितकाव्यों का उद्देश्य,वर्ण्य विषय,आधार एंव इतिहास निर्माण में योगदान–१६५, **राजनीतिक** – राजा एंव उसकी उपाधियॉ–१६६,राजा के गुण एंव कर्त्तव्य–१६८,उत्तराधिकार एंव राज्याभिषेक–१७०,मंत्रिपरिषद–१७२,कोष–१७४, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध एंवं षाड्गुण्य नीति–१७५,दूतव्यवस्था –१७७,गुप्तवर व्यवस्था–१७८,दण्डव्यवस्था–१७६,सेन्य व्यवस्था–१८०,युद्ध एंव दिग्विजय–१८२ **सामाजिक**

वर्णव्यवस्था–१८५,संस्कार एंव विवाह–१८८, शिक्षा–
१८६,स्त्रियों की स्थिति–१६० **भोगोलिक**–लोक सम्बन्धी
मान्यताऐं एंव लोक सम्बन्धित पर्वत,नदी,द्वीप क्षेत्र आदि
का वर्णन–१६१ **धार्मिक**–धार्मिक परिस्थिति–१६६,जनवर्ग
एंव राज्याश्रय प्राप्त श्रावक धर्म १६७,गृहस्थ के कर्त्तव्य
–२०१,सल्लेखना–२०२,मोक्ष–२११,

सप्तम **अभिलेखीय साहित्य** १५६
जैन अभिलेख उत्कीर्ण करने के साधन, प्रकार, उद्देश्य
पद्धति एवं भाषा–२३०, अभिलेखों में **वर्णित समाज** वर्णाश्रम
व्यवस्था–२३२, संस्कार–२३८, विवाह एवं सतीप्रथा–२३८,
शिक्षा–२४०, स्त्रियों की स्थिति–२४०, **अर्थव्यवस्था**–कृषि
एवं सिंचाई के साधन–२४१, भूमि एवं उपज की माप–२४३,
व्यापार–२४६।
राजनैतिक स्थिति– विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया–२४७, साम्राज्य
विभाजन–२४६, राजा, युवराज एवं उत्तराधिकार–२५२,
मंत्रिमंडल–२५४, परराष्ट्रविभाग–२५४, सेनाविभाग–२५५,
अर्थविभाग एवं कर व्यवस्था–२५७।
धार्मिक सिद्धान्त एवं स्थिति – मुनिव्रत–२५६–६०,
मंदिर एवं मूर्ति निर्माण–२६१, दान, दान के अवसर एवं
पद्धति–२६४, समाधिमरण–२६७, धार्मिक सहिष्णुता–२६८।
जैनसंघ एवं आचार्यों की वंशावली– संघ, गण, गच्छ,
अन्वय, बलि का प्रारंभ, विकास एवं भेद–२७२।
१. **मूलसंघ** – देवगण, सेनागण, (पोगरि या होगरिगच्छ,
चन्द्रकवाटअन्वय) देशीगण–२७७, (क) पुस्तकगच्छ–पनसोगेवलि,
इंगुलेश्वर वलि, (ख) आग्रसंघग्रहकुल, (ग) चन्द्रराचार्याम्नाय,
(घ) मेणदान्वय सुरस्थगण (कोरूगच्छ, चित्रकूटान्वय) क्राणूरगण,
(तिन्त्रिणीगच्छ, मेषपाषगच्छ, पुस्तक गच्छ) वलात्कारगण।
२. **यापनीय संघ** – नन्दिगण, पुन्नागवृक्षमूलगुण, कुमुदिगण,
कण्डूरगण एवं कारेयगण।
३. द्राविड़सां
४. माथुरसंघ (लाटवागण गण)
५. गौड़ संघ, जम्बूखण्डगण, सिंहवूरगण।

६. मक्लिूर, नमिलूर, मयूर संघ एवं
७. कोलिन्तूर संघ।

अष्ठम **जैन ऐतिहासिक तथ्यों पर हिन्दू प्रभाव** २०२
जैन इतिहास एवं संस्कृति, पुराण एवं पुराण के लक्षण, अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी युग, रामायण, महाभारत एवं अन्य कृतियों एवं शैली पर साहित्य सृजन, जैन मूर्तिकाल, यक्षयक्षिणियाँ एवं गन्धर्वमूर्तियां, हिन्दू देवी देवताओं का जैन देवतासमूह में समावेश, (ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, सिद्ध, गणेश अम्बिका सरस्वती, कृष्ण, बलराम, रेवती या शष्ठी, लोकपाल, चन्द्र, अप्सरा एवं गन्धर्व जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों पर प्रभाव, (पंचमहाव्रत, अणुव्रत, दसधर्म, स्याद्वाद, साम्यवाद, कर्मवाद) जैन उपासना के तीन आयाम, सगुण, एवं निर्गुण भक्ति एवं जैनधर्म, योग, स्थितप्रज्ञ एवं वीतराग, मोक्ष एवं पुरूषार्थ, वर्णाश्रमव्यवस्था, धार्मिक संस्कार (गर्भाधान, प्रियोद्भव, नामकर्म, बहिरिना, अन्नप्राशन, वर्षावर्धन, केश्वा या चोल, उपनयन, व्रताचार्य, व्रताव्रतरण, विवाह।

नवम् **उपसंहार** २२६

सहायक ग्रन्थ सूची २३६

अध्याय – १

जैन इतिहास की उत्पत्ति एंव विकास छठी शताब्दी ई०वी० से बारहवीं शताब्दी ई०वी० तक

हिन्दू परम्परा में इतिहास का उल्लेख अत्यन्त ही प्राचीनकाल से पाया जाता है।[1] छान्दोग्य उपनिषद (७/१) के भाष्य में आचार्य शंकर ने स्पष्ट रुप से इतिहास एंव पुराण के पार्थक्य को स्पष्ट किया है। शंकराचार्य की दृष्टि में प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका सूचक भाग इतिहास है। इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, पर वह तिथिकम एंव घटनाओं का संकलन मात्र न होकर नाना विषयों की शिक्षा देने वाला,लोक व्यवहार के तत्वों को उद्घाटित करने वाला एवं मानव के अन्दर से मोह एंव अज्ञान को निकाल कर उसे एक दिशा प्रदान करता है।

आज जो भी जैन साहित्य उपलब्ध हैं वह महावीर के उत्तरकाल का है। जैनधर्म पूर्णतः निवृत्तिमार्गी धर्म एंव दर्शन रहा है। यही कारण है कि प्रारम्भिक जैन साहित्य के ग्रंथ अपेक्षाकृत दार्शनिक तत्वों एंव धार्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए पाये जातें हैं।[2] सर्वप्रथम आचार्य जिनसेनकृत हरिवंश पुराण में इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आदिपुराण में "इति इह आसीत्" यहाँ ऐसा हुआ अथवा ऐसी अनेक कथाओं का उसमें निरुपण होने से श्रृषियों ने इतिहास कहा है और यही कारण है कि लोग इसे इतिवृत्ति और ऐतिह्य भी मानते हैं।[3]

आचार्य जिनसेन द्वारा प्रतिष्ठापित इतिहास की व्याख्या पर तत्युगीन साहित्य एंव समाज में प्रचलित इतिहास विषयक विचारों का प्रभाव लक्षित होता है। कल्हण के अनुसार कल्हण से पूर्व इतिहास लेखन पर्याप्त उन्नति पर था। कल्हण अपने से पूर्व।। इतिहासकारों में पॉच के नामों का उल्लेख करते हैं[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकाल में इतिहास लेखन की परम्पराऐं प्रचलित थी और उनका निश्चित रुप से आचार्य जिनसेन पर प्रभाव पडा है। जैन धर्म निवृत्तिमार्गी धर्मरहा है फिर भी उसका दृष्टिकोण हमेशा समन्वयवादी रहा। आचार्य द्वारा प्रस्तुत परिभाषा के अन्तर्गत भूतकाल में घटित होने वाले वृतान्त जो आप्त हों, अपने में सत्यता एवं वास्तविकता को लिए हों, इतिहास की श्रेणी में आते हैं। आचार्य जिनसेन की परिभाषा इतनी वास्तविक एंव सत्य है कि उसे--आधुनिक परिभाषाओं के प्रकाश में भी देखा जा सकता है। आधुनिक युग में भी वास्तविक तथ्यों को अपने वास्तविक रुप में प्रस्तुत करना इतिहासकारों की प्रमुख विशेषता मानी गयी है। एक इतिहासकार को तथ्यों को प्रस्तुत करने में वैज्ञानिक की श्रेणी में लोगों ने रखने की चेष्टाऐं की हैं।

छठी ई० के पूर्वयुगीन एंव उत्तरयुगीन जैन साहित्य के अवलोकन से ऐसा ज्ञात होता है कि पूर्वयुगीन जैन साहित्य के सृजन कर्त्ताओं के सम्मुख मात्र धर्म एंव दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना प्रमुख उद्देश्य रहा। छठी ई० के बाद का जो जैन साहित्य है वह अपनी कतिपय विशेषताओं को लिए हुए है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है—समन्वयवाद की प्रवृत्ति।[५] इस प्रवृत्ति का प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त होता है।

इतिहास लेखन की पूर्वयुगीन जैनेतर परम्पराओं से जैन इतिहास लेखन भी प्रभावित जान पड़ता है। हिन्दू परम्परा में इतिहास लेखन का श्री गणेश वैदिक साहित्य की वंशगोत्र प्रवर तालिकाओं में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में संग्रहीत नाराशंसी गाथाओं का उल्लेख भी इतिहास के विकास को लक्षित करने वाला है।[६] पुराण इतिहास लेखन के विकास की प्रक्रिया की सम्पुष्टि करते हैं। पुराणों में प्राचीन वंशों एंव वंशानुचरितों का उल्लेख मिलता है। कल्हण ने इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है—पूर्वकालीन एंव अर्वाचीन। कल्हण के इस विभाजन से बहुत कुछ पूर्वमध्ययुगीन जैन पुराणकार प्रभावित से जान पड़ते हैं। जैन पुराणों में त्रेशठशलाका—पुरुषों के चरित्र निरुपण,परम्परागत जैन इतिहास एंव कथानकों के माध्यम से तत्युगीन समाज की धार्मिक,सांस्कृतिक,राजनैतिक,एंव अन्यान्य विषयों को निवद्ध करने की चेष्टाऐं पूर्वमध्ययुग में की गयी हैं। जैन परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य गौतमगणधर एंव श्रुतकेवलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। परिणामस्वरुप आप्त वचन के रुप में स्वीकृत किया गया है। जैन दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार आप्तवचन सत्यशः होते हैं और इसी कारण जैनदर्शन में आप्त वचनों को प्रमाण रुप में स्वीकार किया गया है। जैन पुराणकार आचार्य जिनसेन द्वारा प्रस्तुत की गयी परिभाषा पर जैनेतर इतिहास लेखन की पद्धतियों का प्रभाव है। जैनदर्शन निवृत्तिमार्गी एंव समन्वयवादी प्रवृत्ति होने के कारण इस धर्म के ग्रन्थों में तत्कालीन सामाजिक एंव सांस्कृतिक इतिहास भी बहुलता के साथ प्रतिफलित हुआ है। पद्मचरित एंव बंरागचरित समाज एंव संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण है।

जैन इतिहास

जैन एंव जैनेतर परम्पराओं द्वारा ज्ञात होता है कि जैन इतिहास अत्यन्त प्राचीन है[७] तथा इसके संस्थापक प्रथम तीर्थंकर ऋषम देव हैं।[८] यजुर्वेद में ऋषभदेव अजितनाथ एंव अरिष्टेनमि इन तीन तीर्थकारों के नामों का उल्लेख है। ऋग्वेद,अर्थवेद,मनुस्मृति,गोपथ ब्राह्मण एंव भागवत आदि ग्रंथों में भगवान ऋषभदेव के अनेक वर्णनों मे उन्हें मूल प्रवर्त्तक के रुप में स्वीकार किया गया है।[९] ऋग्वेद में दासों एंव दस्युओं के वर्णन के साथ पणि का भी उल्लेख मिलता हैं। ये पणि

वैदिक देवता इन्द्र को नहीं मानते थें। आर्यो के साथ होने वाले युद्धों से पणि श्रमण संस्कृति के प्रतीक होते हैं।[१०] ऋग्वेद में "वातरशना" शब्द द्वारा नग्न मूर्तियों का स्मरण किया गया है।[११] "वातरशना" शब्द का प्रयोग दिगम्बर निर्ग्रन्थमुनि के लिए किया गया है। भागवतपुराण में बातरशना मुनियों को "वातरशना श्रमण ऋषि" कहा गया है।[१२] *ऋषभावतार का हेतू बातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रगट करना* बतलाया गया है।[१३] ऋग्वेद में वातरशना ऋषि के साथ ही "केशी" की स्तुति की गयी है जिसका अर्थ इन ऋषियों के प्रधान प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लगाया गया है।[१४] ऋषभ के कुटिल केशों की परम्परा जैनमूर्तिकला में प्राचीन से अर्वाचीन तक अक्षुण्ण है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का उल्लेख मिलता है।[१५] शिवमहापुराण में ऋषभदेव को शिव के अट्ठाइस योगावतारों में गिना गया है।[१६]

साहित्यिक साक्ष्यों की ही भांति पुरातात्विक साक्ष्य भी ऋषभदेव को आदि प्रवर्त्तक मानते हैं। कंकाली टीले से फ्यूहर को प्राप्त जैन शिलालेव में ऋषभदेव की पूजा के लिए दान देने का उल्लेख है। खण्ड गिरि,उदयगिरि की हाथी गुफा से प्राप्त जैन सम्राट खाखेल के शिलालेख से ऋषभदेव के आदि तीर्थकर होने एंव उनकी मूर्तिपूजा होने के उल्लेख मिलते हैं।[१७] सिन्धुसभ्यता से प्राप्त पशुपति की मूर्ति कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए देवताओं की मुद्रा जैनयोगियों की है।[१८] सिन्धुसभ्यता की मुहर पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल बना है, सम्भव है कि ऋषभ का यह पूर्व रुप रहा हो, क्योंकि ऋषभ का अर्थ बैल है जो आदिनाथ का चिन्ह है। राधाकमल मुकर्जी शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक मानते हैं।[१९]

जैन परम्परा बतलाती है कि भारत का इतिहास भोगभूमि की अवस्था से प्रारम्भ होता है। क्रमशः इस अवस्था में परिवर्तन हुआ एंव उस युग का प्रारम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्मभूमि युग कहा है। इस युग को लाने वाले १४ कुलकर माने गये हैं। ऋषभदेव के समय से ही कर्म भूमि युग में ग्राम,नगर आदि की व्यवस्था हुयी[२०] ऋषभदेव ने ही प्रजा को असि,मषी,शिल्प,वाणिज्य,विद्या,कृषि इन षट्कर्मो से आजीविका पालन सिखाया।[२१] इसलिए इन्हें प्रजापति भी कहा गया है। हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि जब ये गर्भ में थे उस समय देवताओं ने स्वर्ण की वृष्टि की इसलिए उन्हें "हिरण्यगर्भ" भी कहते हैं।[२२] इक्षु ग्रहण करने के कारण ऋषभ को "इक्ष्वाकुवंशीय" कहा गया है।[२३] इनके पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर ही इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा।[२४] जैन परम्परानुसार ऋषभदेव की जंघा पर "ऋषभ" का चिन्ह था इसलिए ऋषभदेव नाम पड़ा।[२५] भगवान ऋषभदेव के लिए शास्त्रों में "पदम राया" "पदम भिकखायरे" पढमजिणे,पढमतितंधकरे शब्द प्रयोग किये गये हैं।[२६]

जैन परम्पराओं से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव के पश्चात जैन धर्म के प्रवर्त्तक २३ तीर्थकर और हुए इनमें से कतिपय को छोड़कर अन्यों की ऐतिहासिक

सत्ता ज्ञात नहीं होती है। अन्तिम चार तीर्थकरों की ऐतिहासिकता जैन एंव जैनेतर साहित्य से भी ज्ञात होती हैं। इक्कीसवें तीर्थकर नमि की ऐतिहासिकता हिन्दू पुराण जिसमें उन्हें जनक का पूर्वज माना गया है, से स्पष्ट होती है।[२७] भारतीय अध्यात्म सम्बन्धी निष्काम कर्म एंव अनासक्ति भावना का उल्लेख नमि द्वारा किया गया है।[२८] महाभारत कालीन बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं।[२९] इन्होंने हिंसामयी गार्हस्थ प्रवृत्ति से विरक्त होकर केवल ज्ञान प्राप्त कर श्रमण परम्परा में मान्य अहिंसा को धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धान्तिक रुप दिया। महाभारत युद्ध का काल १००० ई०पू० मान्य किया जाता है लेकिन इस सम्बन्ध में मतभेद है।[३०] वैदिक वागमंय में वेद से पुराण तक के साहित्य में नेमि के वर्णन प्राप्त होते हैं।[३१]

तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता जैन एंव जैनेतर साहित्य से स्पष्ट होती है।[३५] पार्श्वनाथ का निर्वाण जैन पुराणानुसार भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व तदनुसार ई०पू० ५२७ + २५० = ७७७ ई० पू० में हुआ था। ऋषभदेव की सर्वस्व त्याग रुप अकिंचन मुनिवृति,नमि की निरीहता एंव नेमिनाथ की अहिंसा को अपने चातुर्यामरुप सामयिक धर्म में व्यवस्थित किया। जैन आगम से स्पष्ट होता है कि महावीर के पूर्व के तीर्थकरों ने सामयिक संयम का उपदेश दिया था।[३२] जैन आगम बताते हैं कि अन्तिम तीर्थकर महावीर के माता पिता पार्श्व नाथ के अनुयायी थे।[३३] महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्यामिक उपदेश में संशोधन एंव परिवर्द्धन कर उसे पंचयामी बनाया। धर्म का मूलाधार अहिंसा को मानते हुए अहिंसा,अमृषा,अचौर्य,अमैथुन एंव अपरिग्रह इन पाँचों को मुनियों के लिए आवश्यक बताया।

जैन एंव जैनेतर साहित्य से महावीर एंव उनके जीवन आदि की विस्तृत जानकारी मिलती है।[३४] सर्वप्रथम महावीर ने मुनि एंव श्रावक धर्म की अलग अलग व्याख्याकर मुनियों और श्रावक श्राविकाओं को धर्मोपदेश दिया जिन्हें महाव्रत एवं अणुव्रत कहा गया है। महावीर ने २८ वर्ष की उम्र में सांसारिक सुख त्यागकर महाभिनिष्क्रमण किया एंव १२ वर्ष[३६] तक तप[३७] द्वारा आत्मशोधन करके ऋजुवालका नदी के तट पर कैवल्य[३८] प्राप्त किया एंव वे अर्हत् जिन् हो गये।[३९] महावीर को केवल ज्ञान होने पर देवताओं ने समवशरण की रचना की। महावीर ने यह जानकर कि यहाँ उपस्थितों में सर्वविरति के कोई योग्य नहीं है केवल एक क्षण देशना दी।[४०] तत्पश्चात् महावीर ने ३० वर्ष तक देश देशान्तरों में भ्रमण करके तत्कालीन लोकभाषा अर्द्धमागधी में उपदेश दिया।[४१] अन्त में पावा नगरी में निर्वाण प्राप्त किया।[४२] महावीर के निर्वाण स्थान पर देवताओं द्वारा रत्नमय स्तूप की रचना करने की जानकारी होती है।[४३]

महावीर ने स्याद्वाद सिद्धान्त प्रतिपादित किया। स्याव्दाद सिद्धान्त जैन

इतिहास की प्राचीनता सिद्ध करता है क्योंकि जीवन और समाज में समन्वयात्मक विचारों के निरुपण करने वाला सिद्धान्त एकाएक प्रस्तुत नहीं हो सकता। महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम तत्प्रचलित लोकभाषा अर्द्धमागधी को बनाया। इसी भाषा में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को आचारांगादि बारह अंगों में संकलित किया जो द्वादशांग आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान महावीर से पूर्व हमें कोई भी जैन साहित्य अपने शाब्दिक एंव रचनात्मक स्वरुप में नहीं प्राप्त होता है। भगवान महावीर के उपदेशों का संकलन उनके गणधरों द्वारा द्वादशांग आगम में करके उसे बारह अंग एवं चौदह पूर्वो में निबद्ध किया गया। इन पूर्वो में महावीर एंव महावीर से पूर्व की अनेक विचारधाराओं, मतमतान्तरों तथ ज्ञान–विज्ञान का संकलन सर्वप्रथम उनके शिष्य गौतम इन्द्रभूति द्वारा किया गया। इन पूर्व नामक रचनाओं के अन्तर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक दार्शनिक व नैतिक विचारों का संकलन किया गया किन्तु उनके भीतर नाना कलाओं ज्योतिष,आयुर्वेद आदि विज्ञानों द्वारा फलित शकुन–शास्त्र,मन्त्रतन्त्र आदि विषयों का भी समावेश कर दिया गया था।

किन्तु ये मूल आगम ग्रंथ समय के प्रभाव से आज अपने यथार्थ रुप में प्राप्त नहीं है। पश्चात्कालीन साहित्य में इनका स्थान–स्थान पर उल्लेख मिलता है। यह ग्रंथ महावीर निर्वाण से १६२ वर्ष वाद विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। बारह अंग एंव चौदह पूर्वो के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रवाहु हुए। इस तरह कालक्रम से विच्छिन्न होते–होते वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष बीतने पर जब अंगों एंव पूर्वो का सारा ज्ञान लुप्त हो गया तब सर्वप्रथम भूतबलि एंव पुष्पदन्त ने आचार्य धरसेन से श्रुताभ्यास करके षटखन्डागम नाम के सूत्रग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की, इसका रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ई०पू० मान्य किया गया है। षटखण्डागम जैन आगम की परम्परा पर जो साहित्य निर्माण हुआ उसे चार अनुयोगों – प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एंव द्रव्यानुयोग में विभाजित किया गया। षटखण्डागम से जीव द्वारा कर्मबन्ध और उससे उत्पन्न होने वाले परिणामों की व्यवस्था सूक्ष्मता एंव विस्तार से ज्ञात होती है। ई०पू० द्वितीय शताब्दी में ही गणधर ने कषायपाहुड सिद्धान्त ग्रंथ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया। तत्पश्चात् जैन साहित्य निर्माण आन्दोलन का सूत्रपात ई० पू० १६० में कलिंग चक्रवर्ती खाखेल ने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर एक मुनि सम्मेलन बुलाकर किया।[४४]

संस्कृत साहित्य

आचार्य गृद्धपिच्छ ने प्रथम शताब्दि में तत्वार्थसूत्र की रचना की। यह ग्रंथ सूत्र शैली का प्रथम दार्शनिक ग्रंथ है। तत्वार्थसूत्र १० अध्यायों में विभक्त है। पहले

अध्याय में ज्ञान की मीमांसा है छठे से दसवें अध्याय तक चरित्र की। तत्वार्थसूत्र में धर्म क्या है?[४५] मोक्ष के साधन क्या हैं?[४६] पंच महाव्रत क्या है।[४७] आदि जैन दर्शन आचार एंव सिद्धान्तों का निरुपण किया गया है।

गृद्धपिच्छ के बाद संस्कृत भाषा का दार्शनिक कवि समन्तभद्र है। इनका समय प्रायः ईसा की दूसरी सदी है। समन्तभद्रकृत बृहतस्वयम्भू स्तोत्र में चौबीस तीर्थकरों की पृथक पृथक स्तुतियाँ की गयी हैं। समस्त पदों की संख्या १४३ है। इसमें तात्विक, नैतिक एंव धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। इस स्तोत्र में वंशस्थ,इन्द्रवज्रा,बसन्ततिलका आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। दूसरी स्तोत्र परक रचना स्तुति विद्या है इसमें ११६ पद्य हैं। समन्तभद्र कृत देवागम स्तोत्र, सुकत्यानुशासन, रत्नकरण्ड, – श्रावकाचार,जीवसिद्धिविधायी,तत्वानुशासन,प्रमाणपदार्थ,कर्मप्रभृत्त टीका एंव गन्थ हस्ति महाभाष्य नामक ग्रंथ मिलते हैं। इसी शताब्दी में "सन्मतिसूत्र" की रचना प्राकृत में एंव "द्वात्रि–शतिकाओं" की रचना संस्कृत में दार्शनिक कवि सिद्धसेन ने की। कवि परमेष्ठी ने संस्कृत कन्नड़ मिश्रित "वागर्थसंग्रह" नामक पुराण ग्रंथ गंगवंश के शासनकाल में लिखा।[४८] विक्रम की पाचवी शदी के उत्तरार्द्ध में जैनों का पहला संस्कृत व्याकरण ग्रंथ "जैनेन्द्र व्याकरण" वैयाकरण जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद द्वारा लिखा गया।[४९] इसके सूत्र एंव संज्ञाऐं अति सूक्ष्म हैं। जैनेन्द्र व्याकरण के अतिरिक्त सर्वार्थ सिद्धि, समाधितन्त्र और दुर्विनीत के समय हुयी।[५०] श्रवणबेल्गोला के शिलालेख (श०सं० १०८५) भी इसकी पुष्टि करते हैं।[५१] अभयनन्दि ने इस पर महावृत्ति लिखी है। देवनन्दि पूज्यपाद के शिष्य गुरुनन्दि (५५० ई०) ने "जैनेन्द्र प्रक्रिया"[५२] वक्रग्रीव ने "नवशब्द वाच्य", पात्रकेशरी ने "प्रियलक्षणक–दर्शन", श्री वर्धदेव ने "चूड़ामणिशास्त्र", ऋषिपुत्र ने निमित्तशास्त्र और सहिताग्रंथ एंव श्री चन्द्रसेन ने केवल ज्ञान हीरा आदि ग्रंथों का प्रणयन[५३] जैन साहित्य के विकास को दिखाता है। पॉचवी शताब्दी तक के जैन साहित्य में जैनों के तत्वज्ञान दार्शनिक चिन्तन, लोकोक्त अध्यात्म एंव लोकोन्नायक आचार विचार पर अधिक ध्यान दिया।

मूलतः जैनधर्म निवृत्तिमार्गी धर्म रहा है परिणामस्वरुप इस सांसारिक आवागमन में होने वाले क्लेशों से निवृत्ति पाने के उपायों पर ही विशेष रुप से बल दिया गया है यही कारण है कि प्रारंभिक जैन साहित्य के स्वरुप एंव परवर्ती जैन साहित्य के स्वरुप में अन्तर है। पूर्व–मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य से पहले के जैन साहित्य में सूत्र शैली की पद्धति से जैन दर्शन एंव धर्म के सिद्धान्तों की प्रतिस्थापना की गयी हैं। ५५० ई० के बाद का जो जैन साहित्य है वह बहुत कुछ हिन्दू परम्परा के कथानक एंव आख्यानों के जैनीकरण की प्रकिया अपनायी गयी। छठी शताब्दी में विभिन्न राज्यवंशों के प्रश्रय से जैन साहित्य की अधिकाधिक समृद्धि हुयी। इस समय त्रेशठशलाका–पुरुषों के चरित्र निरुपण को परमपुनीत एंव जैनधर्म के अनुकूल माना गया। उस समय के जैन साहित्य में तत्कालीन समाज एंव संस्कृति

की मान्यताओं का प्रतिफलन हुआ हैं। सॉतवी शताब्दी में "भक्तामर–स्तोत्र" का प्रणयन आचार्य मानतुंग ने किया। दिगम्बर एंव श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के लिए यह समादृत है। यह स्तोत्र ४८ पद्यों में है। इसमें आदि तीर्थकर ऋषभ की स्तुति की गयी है। चरितकाव्यों के रुप में तीर्थकर,चक्रवर्ती,नारायण,प्रतिनारायण प्रभृति महापुरुषों के चरित्रों को निबद्ध करने की परम्परा ई० सन् की सातवीं शदी से ही प्रारम्भ होती हैं। रविषेंण ने एंव जटासिंह नन्दी ने रामायण की शैली पर अपने ग्रंथों का सृजन किया है। प्राकृत में जिस रामकथा को विमलसूरि ने निबद्ध किया था उसी रामकथा को संस्कृत में रविषेंण ने ललित छन्दों में निबद्ध किया है। रविषेण ने रामायण के पात्रों के चरित्र को बहुत ही उदार एंव उन्नत रुप में प्रस्तुत किया है। राक्षस और वानर वंश को विद्याधर राजा एंव अंजना,केकयी,सीता एंव मन्दोदरी आदि पात्रों के चरित्रों को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित कर उन्हें दया,ममता एंव वात्सल्य का स्त्रोत सिद्ध किया है। पद्मचरित एंव बंरागचरित समयकालीन समाज एंव संस्कृति का दिग्दर्शन कराते हैं।

८३७ ई० में "विषापहार स्तोत्र" की रचना धनंज्जय द्वारा की गयी। इस स्तोत्र में समाज में विषापहार मणि औषधियों एंव मंत्र और रसायनों की उंपयोगिता एंव प्रयोग की जानकारी होती हैं। इसके अतिरिक्त धनज्जय ने अट्ठारह सर्ग प्रमाण "द्विसन्धान महाकाव्य"[५४], नाम–मालाकोष आदि ग्रंथ भी लिखे। नाममाला में २०६ श्लोक हैं। श्लोक ५ व ६ में भूमि तथ पृथ्वी के २६ पर्यायवाची नाम गिनाये हैं। श्लोक ७ में पर्वत,राजा एंव वृक्ष के २७–२७ पर्यायवाची ८१ नामों की रचना एक छोटे से श्लोक में की है[५५]।

षटखण्डागम की संस्कृत प्राकृत मिश्रित मणि प्रवाल भाषा में ७२ हजार श्लोक प्रमाण "धवलाटीका" एंव गुणधर के कषायपाहुड पर २० हजार श्लोक प्रमाण "जयधवलाटीका" आठवी शताब्दी में वीर–सेनाचार्य द्वारा लिखी गयी[५६] जिससे गणित ज्योतिष,भूगोल,समाजशास्त्र,राजनीतिशास्त्र एंव तत्कालीन समाज के अनेकानेक विषयों की जानकारी होती हैं।

न्याय विषयक संस्कृत जैन साहित्य की महत्वपूर्ण रचना महादार्शनिक अंकलदेव द्वारा ८ वीं शदी में हुयीं। लधीस्त्रयवृत्ति,न्यायविनिश्चय,सिद्धिविनिश्चय–प्रमाण संग्रह,तत्वार्थ–राजवार्तिक एंव अष्टशती प्रभृति ग्रंथों की रचना इसी शताब्दी में हुयी। अकंलक के पश्चात् आचार्य विद्यानन्दि ने अन्न–परीक्षा,पत्र–परीक्षा,तत्वार्थलोकवार्तिक एंव युकत्यानुशासन पर टीका करके अकंलक के न्याय विषयक साहित्य को अधिक परिमार्जित किया है। आचार्य हरिभद्र ने योग एंव दर्शन पर "षड्दर्शनसमुच्चय"[५७] एंव अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथों का निर्माण किया। हरिभद्राचार्य द्वारा १४४० ग्रंथों के निर्माण करने एंव उनमें से ५०–६० ग्रंथों के प्राप्त होने के उल्लेख मिलते हैं।

आठवी शताब्दी में ही जैन साहित्य में एक नया मोड़ दिखायी देता है।

जिस प्रकार प्राकृत में कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है उसी प्रकार संस्कृत में पाया जाता है। जिनसेन ने ई० सन् ७८५ में "हरिवंशपुराण"[५८] की रचना की जबकि उत्तरभारत में इन्द्रायुध,दक्षिण में कृष्ण का पुत्र श्री बल्लभ,पूर्व में अवन्ति नृप–तथा पश्चिम में वत्सराज एंव सौरमंडल में वरिबराह राजाओं का राज्य था। ग्रंथ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। ग्रंथ में सभी शलाका–पुरुषों की स्तुति एंव त्रैलोक्य जीवादि द्रव्यों का भी वर्णन आया है। रविषेण का पद्मचरित[५९] संस्कृत का प्रसिद्ध ग्रंथ है।

नवीं शताब्दी में जिनसेन प्रथम,जिनसेन द्वितीय, गुणभद्र, विद्यानन्दि, बप्पभट्टि, वादीभसिंह, हेमचन्द्र,प्रसिद्ध ग्रंथकार हुए जिन्होंने पुराण एंव चरितकाव्य लिखें। जिनसेन द्वितीय ने महापुराण की रचनाकर के एक नयी द्वितीय साहित्यिक विधा का सृजन किया। इस महापुराण के दो भाग हैं – एक आदिपुराण दूसरा उत्तरपुराण। आदि पुराण में ४७ पर्व हैं शेष पर्व उत्तरपुराण के हैं। उत्तरपुराण की रचना जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा की गयी।[६०] गुणभद्र ने अमोघवर्ष ने राज्याश्रय में "आत्मानुशासन" एंव "जिनदत्तचरित्र" आदि ग्रंथों का भी प्रणयन किया। इसकी रचना भर्तृहरि के "वैराग्यशतक" के ढंग से बहुत प्रभावशालिनी है।[६१] आदिपुराण की उत्थानिका में पूर्वगामी सिद्धसेन,श्रीदत्त,समन्तभद्र,यशोभद्र,शिवकोटि, जटाचार्य, देवनन्दिपूज्यपाद,अकंलक,श्रीपात्र केशरी,वादीभसिंह, वीरसेन,जयसेन एंव कवि परमेश्वर इन आचार्यो की स्तुति की गयी हैं।[६२] आदि–पुराण में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र वर्णन है। शेष २३ तीर्थकरों का चरित्र निरुपण उत्तरपुराण में है। इस प्रकार इस महापुराण में सर्वप्रथम तीर्थकरों का चरित्र निरुपण विधिवत् एक साथ वर्णित पाया जाता है। महापुराण में महापुरुषों के नाम वैदिक पुराणों के अनुसार ही हैं और नाना संस्कारों की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है।

जिनसेन ने पुराण रचना के साथ ही "पार्श्वाभ्युदय" नामक एक काव्य की भी रचना की। वादीभसिंह की "गद्यचिन्तामणि" बाणभट्ट की कादम्बरी की याद दिलाती है। कवि ने अपने गुरु का नाम पुष्पसेन बतलाया है जिनकी कृपा से वादीभसिंहता एंव मुनिपुंगवता प्राप्त की।[६३] वादीभसिंह ने "क्षत्रचूडामणि नामक काव्य भी लिखा।

नवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के राज्याश्रय में जैन साहित्य की अधिकाधिक उन्नति हुयी। वीरसेन स्वामी के शिष्य सेनसंघ के आचार्य जिनसेन स्वामी उसके गुरु थे।[६४] इन्होंने वाटनगर के अधिष्ठान में ८३७ ई०वी० में "जयधवलाटीका" पूर्ण की। महावीराचार्य ने "गणित सार–संग्रह" की रचना अमोध के राज्याश्रय में की। यापनीय संध के आचार्य शाक्टायन पाल्यकीर्ति ने "शाक्टायन" नामक ''शब्दानुशासन'' की रचना की। अमोधवर्ष ने संस्कृत में "प्रश्नोत्तरमालिका"

नामक नीतिग्रंथ लिखा, इसके मंगलाचरण में वर्द्धमान तीर्थकर को नमस्कार किया गया है।

दसवी शताब्दी में *हरिषेण,असग–कवि*,बालचन्द्र,वीरनन्दि एंव हरिश्चन्द्र संस्कृत के महाकवि हुए हैं। असग के "वर्द्धमान चरित" एंव "शान्तिनाथ चरित" महाकाव्य हैं। शान्तिनाथ चरित में सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ का चरित्र निरुपण हुआ है। वीरनन्दि द्वारा रचित "चन्द्र–प्रभचरित" रधुवंश एंव कुमारसंभव के समान सरल है। महाकवि हरिश्चन्द्र का "धर्मशर्माभ्युदय" कवि माध के शिशुपाल वध के समान ही महत्वपूर्ण है। कवि के उपमान,उत्प्रेक्षाऐं एंव कल्पनाऐं एंव बिम्बयोजनाऐं बहुत महत्वपूर्ण हैं। धर्मशर्माभ्युदय की एक संस्कृत टीका मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य यथाकीर्तिकृत मिलती है। जिसका नाम "सन्देहध्वान्त–दीपिका" है।[६५]

ग्यारहवीं शती में पार्श्वनाथ का पूर्णचरित वादिराजकृत (१०२५ ई०वी) "पार्श्वनाथ चरित" में पाया जाता है। यह बारह सर्ग का महाकाव्य है। यह "कामुस्त्थचरित्र" नाम से भी प्रसिद्ध है। यह चालुक्य चकवर्ती जयसिंहदेव की राजधानी में निवास करते हुए लिखा गया था। मल्लिषेणप्रशस्ति के अनुसार ये जयसिंहदेव द्वारा पूजित भी थे।[६६] वादिराज ने "पार्श्वनाथ चरित" में पूर्व कवियों के स्मरण में सम्मति का नाम लिया है जिन्होंने "सुमतिसप्तक" नामक ग्रंथ की रचना की जो अप्राप्य है, लेकिन संदर्भ प्राप्त होते हैं।[६७] पार्श्वनाथ–चरित के अतिरिक्त वादिराज के अन्य चार रचनाओं –"यशोधर चरित"[६८], "एकीभाव स्तोत्र, न्यायविनिश्चय–विवरण, एंव प्रमाण निर्णय प्राप्त होते हैं। यशोधर चरित में भी "जयसिंह का उल्लेख किया गया है।[६९]

इसी शताब्दी में सोमदेव ने "यशस्तिलक चम्पू"[७०], "नीतिवाक्यामृत"[७१] एंव "अध्यात्मतरंगिणी"[७२] ग्रंथों की रचना की। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है। अन्तिम तीन अध्यायों में गृहस्थ धर्म का निरुपण हुआ है। नीतिवाक्यामृत को राजनीतिक एंव आर्थिक विचारों की दृष्टि से कोटिल्य के अर्थशास्त्र के समकक्ष रखा जा सकता है।[७३] सोमदेव के युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्गमहेन्द्र, मातलिसंजल्प, षणवतिप्रकरण एंव स्यादनादोपनिषद, नामक ग्रंथ भी पाये जाते हैं। नीति वाक्यामृत पर संस्कृत टीका प्राप्त होती है। प्रारम्भ का मंगल श्लोक मूल नीतिवाक्यामृत का पूरा अनुकरण है।[७४]

नेमिनाथकृत नीतिवाक्यामृत पर कन्नड़ीटीका प्राप्त होती है।[७५] उन्होंने मेधचन्द्र त्रेविद्यदेव एंव वीरनन्दि का स्मरण किया है[७६] अतएंव टीका रचना का समय बारहवीं शताब्दी का अन्त अथवा तेरहंवी शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। ये सोमदेव राष्ट्रकूटवंशी कृष्णराजदेव (८६७ से ८९४ ई० वी०) के राज्यकाल में था। ग्रंथ से राष्ट्रकूटों द्वारा चालुक्यों पर विजय प्राप्त करने की जानकारी होती है।

इसी शदी में महाकवि महासेन ने "प्रद्मुम्नवरित" महाकाव्य की रचना की। कवि महासेन राजा मुंज द्वारा पूजित थे। मुंज के समय में ही (वि०सं० १०५०) अमितगति ने अपना "सुभाषितरत्नसंदोह" समाप्त किया। इसमें सांसारिक विषय मायाहंकार निरावरण, इन्द्रिय–निग्रहोंपदेश, स्त्रीगुण दोष विचार, देवनिरुपण आदि बत्तीस प्रकरण है। ग्रंथ के उपान्त में २१७ श्लोकों में श्रावक धर्म निरुपण है। अमितगति द्वारा रचित "धर्मपरीक्षा" हरिभद्रसूरि के "धूर्ताख्यान" नामक प्राकृत ग्रंथ की तरह है। इसमें पौराणिक मनगढन्त कथाओं को अविश्वसनीय बतलाया गया है। इसका रचनाकाल १०७० वि०सं० है। अमितगति ने १०७३ वि०सं० में मसूतिकापुर नामक स्थान में संस्कृत श्लोक बद्व "पंचसंग्रह" की रचना की। इसकी प्रशस्ति से अमितगति के गुरु माधवसेन के समय राजा सिन्धुल द्वारा राज्य करने की जानकारी होती है। अमितगति का "उपासकाचार" अमितगति "श्रावकाचार" के नाम से भी प्रसिद्ध है इस ग्रंथ के अन्त में गुरुपरम्परा दी गयी है। इस ग्रंथों के अतिरिक्त अमितगति द्वारा "सामायिक पाठ", भावनाद्वात्रिशतिंका एंव योगसार प्राभृत नामक ग्रंथ भी लिखे गये। न्यायकुमुदचन्द्र एंव प्रमेयमलयार्तण्ड के कर्त्ता प्रभाचन्द्र धारानरेश भोजदेव द्वारा सम्मानित थे।[७७]

धनपाल की "तिलक–मंजरी" इसी शताब्दी की अनुपम गद्य रचना है। ये वाक्पतिराज मुंज की राजसभा के रत्न एंव "सरस्वती" की उपाधि से विभूषित थे।[७८] अपने छोटे भाई शोभनमुनिकृत 'संस्कृतस्तोत्र' पर एक संस्कृत टीका लिखी। प्राकृत एंव अपभ्रंश में भी रचनाऐं प्राप्त होती हैं। ग्यारहवीं शताब्दी (वि०सं० ११९२) में जयकीर्ति ने "छन्दोनुशासन" नामक रचना की।[७९] इसी शती में शान्तिसूरी एंव नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययन की विशाल टीकाऐं लिखी। चालुक्य वंशी सिद्धराज के राजकवि प्राग्वाटवंशी श्री पाल ने सिद्धराज द्वारा निर्मित सप्रसिद्ध "सहस्त्रलिंग–सार" की प्रशस्ति लिखी है।[८०] वादिराज के समसामयिक मल्लिषेण ने ग्यारहवीं शती के अन्त एंव बारहवीं शती के प्रारम्भ में अपना महापुराण पूर्ण किया। इसमें श्रेशठशलाकापुरुषों की संक्षिप्त कथा है मल्लिषेण ने पॉच सर्गो के खण्डकाव्य "नागकुमार काव्य" एंव भैरवपदमावती–कल्प की रचना की। इस मन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ में – १, मंत्रितक्षण २, सकली करण ३, देव्यर्चन ४, द्वादशरजिकामंत्रोद्वार ५, कोधादिस्तम्भन ६, अंगनाकर्षण ७, निमित्त ८, वशीकरणयन्त्र ६, वशीकरणतन्त्र १०, गरुड़तन्त्र नाम के ये दस अधिकार है।[८१]

बारहवीं शताब्दी में यशपाल कवि ने (११७४–७७ ई० वी०) में "मोह राज पराजय" नाटक की रचना की। "नेमिनिर्वाण नामक महाकाव्य की रचना इसी शदी में वाग्भद् द्वारा हुयी। बारहवीं शताब्दी में धनेश्वर, श्रीपाल, हेमचन्द्र, जिनचन्द्र, चन्द्रप्रभ, मुनिचन्द्र, देवचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र एंव विजयपाल संस्कृत के प्रसिद्ध

जैन कवि हुए हैं। हेमचन्द्र ने "त्रिशष्ठिशलाकापुरुष चरित" की रचना की। इसके साथ ही न्याय, व्याकरण, काव्य कोष सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं।

प्राकृत साहित्य

अर्धमागधी प्राकृत के पेंतालीस आगम ग्रंथों के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत आगम ग्रंथों में सर्वप्रथम भूतवलि एंव पुष्पदन्त ने "षटखण्डागम" नाम के सूत्र ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की। वि०सं० की द्वितीय शताब्दी में आचार्य गुणधर ने "कसायपाहुड" नाम का महत्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रंथ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया। इस पद्यमय कसायपाहुड की २३३ गााथाओं में कोध,मान,माया एंव लोभ आदि कथाओं के स्वरुप का विवेचन किया गया है।

प्राकृत पाहुडों की रचना सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा पॉचवी शताब्दी के प्रारंभ में की गयी। कुन्दकुन्द की कुछ रचनाएँ – समयसार प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, दशभक्ति, अष्टपाहुड एंव वारसअणुवेकरवा अधिक प्रसिद्ध हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक प्राकृत "पंचसंग्रह"[८२] पाश्वैर्णि के शिष्य चन्दर्षि द्वारा रचित है। इसमें ६३३ गाथाऐं हैं जो शतक सप्तति, कसायपाहुड, षठकर्म एंव कर्मप्रकृति नामक पॉच द्वारों में विभाजित हैं। ग्रंथ पर मलयगिरि की टीका भी उपलब्ध हैं।

छठी शताब्दी में जिनभद्रगणीकृत "विशेषणवती" में ४०० गााथाऐं हैं। इन गाथाओं के द्वारा ज्ञान,दर्शन,जीव,अजीव, आदि नाना प्रकार से द्रव्य निरुपण किया गया है।

सातवीं शताब्दी में जैन प्राकृत साहित्य में महापुरुषों के चरित्र को नवीन काव्य शैली में लिखने का प्रारम्भ विमलसूरि ने किया[७७]। जिस प्रकार संस्कृत में आदिकाव्य आदिकवि बाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है। उसी प्रकार प्राकृत का आदिकाव्य भी विमलसूरिकृत[८३] "पउमचरिय" है[८४]। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्त्ता एंव रचनाकाल का निर्देश पाया जाता है। स्वयं कर्त्ता के अनुसार इसमें सात अधिकार हैं – स्थिति,वंशोत्पति,प्रस्थान,रण,लवकुश उत्पत्ति,निर्वाण एंव भव। ये अधिकार उद्‌देशों में विभाजित हैं जिसकी संख्या ११८ हैं। प्रथम चौबीस उद्‌देशों में मुख्यतः विद्याधर एंव राक्षसवंशों का वर्णन हैं।

"वसुदेवहिण्डी" भी प्राकृत भाषा का पुराण है। इसमें महाभारत की कथा है यह दो खण्डों में विभाजित हैं। प्रथम खण्ड के रचयिता संधदासगणि एंव दूसरे के धर्मदासगणि हैं। प्रथम प्रकरण के पश्चात् "धम्मिलहिण्डी" नाम के प्रकरण से प्राचीन भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन होता है। इसका मुख्य विषय जैन पुराणों में समाहित

तीर्थकरों, चक्रवर्तियों के उपाख्यान चरित,अर्द्धऐतिहासिक वृत्तों का संकलन करना है। वसुदेवहिन्डी में रामकथा भी प्राप्त होती है जो पउमचरिय से भिन्न है[८५]।

उद्योतनसूरि ने "कुवलयमाला" नामक प्राकृत कथा शं०सं० ७०० में जाबालिपुर में पूर्ण की। वहाँ उस समय वत्सराज का राज्य था[८६]। इसमें संसार परिभ्रमण की कथाऐं दी गयीं हैं।

आंठवी शती में त्रैलोक्य सम्बन्धी समस्त विषयों का ज्ञान कराने वाले "तिलोपण्णति" ग्रन्थ की रचना प्राकृत गाथाओं में हुयी[८७]। इसकी ७७ वीं गाथा के अनुसार यह आठ हजार श्लोक प्रमाण हैं। ग्रन्थ नौ महाधिकारों में विभाजित है – सामान्य लोक, नरकलोक, भवनवासी लोक, मनुष्यलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिलोक, देवलोक एंव सिद्धलोक। मनुष्य लोकान्तर्गत त्रेशठशलाकापुरुषों की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा महावीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है[८८]।

इसी शताब्दी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुनि आचार पर हरि–भद्रसूरि ने "पचवत्युग" नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें १७१४ प्राकृत गाथाऐं हैं जिनमें मुनि दीक्षा,प्रतिनिकृत्य,गच्छाचार,अनुज्ञा एंव सल्लेखना नामक पांचवस्तु अधिकारों का वर्णन किया गया है।

हरिभद्रसूरि ने वि०सं० ७५७ में "समराइच्चकहा" नामक धर्मकथा लिखी। इसमें दो आत्माओं के नौ मानवभवों का विस्तृत वर्णन हैं जिसका उद्देश्य कर्मफल के सिद्धान्त का पुनर्जन्म से सम्बन्ध दिखलाना है[८९]। "धूर्ताख्यान" नामक अपने कथाग्रंथ में हरिभद्रसूरि के धूर्तो के आख्यानों के माध्यम से असंभव मिथ्या एंव अमानवीय बातों का निराकरण कर सम्भव,सदाचारी एंव मानवीय आख्यामों को प्रस्तुत किया हैं। इसमें पॉच आख्यान एंव ४८० गाथाएं हैं[९०]।

संस्कृत भाषा की तरह तीर्थकरों की स्तुति की परम्परा का प्राचीन ग्रंथ "उपसग्गहर स्तोत्र" है जो भद्रबाहुकृत है इसमें पॉच गाथाओं द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थकर की स्तुति की गयी हैं। धनपालकृत "ऋषभ पंचाशिका" में भी ५० पद्यों द्वारा प्रथम तीर्थकर के जीवन चरित्र सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं[९१]। स्तोत्रशैली का विकास जिनसेन कृत नवीं शताब्दी में "जिनसहस्त्रनामस्तोत्र" में मिलता है। इस स्तोत्र में आदि के ३४ श्लोकों में नाना विशेषणों द्वारा परमात्मा तीर्थकर को नमस्कार किया गया है।

शीलंकाचार्य ने ई० सन्० ८६८ में "चउपन्नमहापनिसचरिय" लिखा जिसमें ५४ उत्तमपुरुषों का चरित्रचित्रण किया गया है। तीर्थकरों एंव चक्रवर्तियों का चरित्र यहॉ पूर्वोक्त नामावलियों के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णित किया गया है।

आचार्य सिद्धर्षि ने वि०सं० ६६२ में "उपमितिभवप्रपंचकथा" की रचना

की[६२]। भवप्रंपच की कथा के साथ ही न्याय, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, सामुद्रिक, निमित्तशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, धातुविद्या, युद्धनीति एंव राजनीति का वर्णन भी किया गया है। मनुष्य कर्मो के अनुसार ही मनुष्य,तिर्यच,नारकी एंव देवगति रुप में जाता है[६३]। इसी शताब्दी में (सं० ६७५) में नाइलकुल के समुद्रसूरि के शिष्य विजयसिंह ने ८६११ गाथाओं युक्त (गाथाओं) कथाग्रन्थ की रचना की[६४]।

ईसा की दसवी शताब्दी में दक्षिण में नेमिचन्द्र–सिद्धान्त[६५] ने धवलाटीका, षटखण्डागम् एंव कसायपाहुड इन तीन आगम ग्रन्थों के आधार पर गोम्मटसार तथा लब्धिसार क्षपणासार नाम के दो संग्रह ग्रंथ रचे उनमें भी जीव कर्म एंव कर्मों के विनाश का सुन्दर एंव गहन वर्णन है। नेमिचन्द्रसिद्धान्त चकवर्ति कृत "त्रिलोकसार" १०१८ प्राकृत गाथाओं में वर्णित है इसका रचनाकाल ११ वीं शती है। नाइलगच्छीय गुणपाल मुनि ने अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जीवन चरित्र "जम्बूस्वामीचरिय" में किया। यह १६ उद्देशों में विभाजित है। इसका उद्देश्य जैन धर्म के उपदेशों को प्रभावशाली बनाना है[६६]।

धनपाल ने वि०सं० १०२६ में "पाइअलच्छीनाममाला" नामक प्राकृत कोष की रचना की। इससे परमारराजा सीमकदेव द्वारा राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यरवेट को लूटने की जानकारी होती है[६७]।

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमानसूरि ने सन् ११०३ में ११००० श्लोक प्रमाण "आदिणाहचरिंय" की रचना की। जिनबल्लभसूरिकृत "सार्धशतक" में जैन सिद्धान्तों के कुछ विषयों का सूक्ष्म निरुपण किया गया है। इसका रचनाकाल ११०० ई०वी० मान्य किया गया है। मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ई०वी० में रचित ७०० श्लोक प्रमाण "जीव समाज" नामक रचना २८६ गाथाओं से युक्त है इसमें सत् संख्या आदि सात प्ररुपणों द्वारा जीवादि द्रव्यों का स्वरुप समझाया गया है।

बट्टकेर स्वामी कृत "मूलाचार" दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिधर्म के लिए सर्वोपरि प्रमाण ग्रंथ माना जाता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे "आचारांग" नाम से उद्धृत किया है यह बारह अधिकारों में विभाजित एंव १२४३ गाथाऐं युक्त हैं।

जीवानुशासन (११०५ ई०वी०) में ३२३ गाथाओं द्वारा मुनिसंघ मासकल्प,वन्दना आदि मुनि चरित्र सम्बन्धी विषयों पर विचार किया गया है। इसकी रचना वीरचन्द्र सूरि के शिष्य देवचन्द्र सूरि ने की थी। जिन बल्लभसूरि (११वीं – १२ वीं शती) कृत "द्वादश कुलक" में सम्यकत्व एंव मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायों के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। शान्ति सूरी कृत (१२ वीं सदी में) "धर्म–रत्नप्रकरण" में १८१ गाथाओं द्वारा श्रावकपद प्राप्ति के लिए सौम्यता, पापभीरुता आदि इक्कीस आवश्यक गुणों का वर्णन किया है।

तीर्थकरों के चरित्र निरुपण की दृष्टि से बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ का चरित्रवर्णन जिनेश्वर सूरि ने ११७५ ई० में किया। तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ का चरित अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्रसूरि द्वारा वि०स० ११६८ में रचा गया।

तीर्थकरों के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में अनेक ग्रंथ ऐसे उपलब्ध हैं जिनमें किसी व्यक्ति विशेष के जीवन चरित द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष नियम–संयम, उपवास, पूजा, विधिविधान, पात्रदान आदि की महत्ता वर्णित की है। इनमें सबसे अधिक प्राचीन "तरंगवती कथा" है। महेश्वर सूरिकृत "णायपंचमीकहा" की रचना का समय ई०सन् १०१५ से पूर्वमान्य किया जाता है। इसमें २००० गाथाऐं हैं जो १० कथाओं में विभाजित हैं[६८]। जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरिकृत "सुरसुन्दरीचरियं ४००० गाथाओं में पूर्ण हुआ है इसका रचनाकाल १०६५ ई०वी० है। इस रचना में प्राकृतिक दृश्यों,पुत्रजन्म,विवाहादि उत्सवों,प्रातःसन्ध्या तथा वन,सरोवरों आदि का भी वर्णन किया गया है। उद्योतनसूरि के प्रशिष्य नेमिचन्द्रसूरि ने सं० ११३६ ई० में "महावीर चरिय" एंव "रयणचूडराय–चरिय" लिखा है जिसका उद्देश्य देवपूजादि फल प्रतिपादन करना है। जैन कथाकारों ने स्त्रियों के शील सतीत्व, एंव पतिपरायण स्त्रियों से प्रभावित होकर अनेक चरित एंव कथा ग्रंथों की रचना की। हेमचन्द्र ने कुमारपाल चरित को बारहवीं शताब्दी में पूर्ण किया। इस रचना से चालुक्यवंशीय नरेश कुमारपाल के वंश एंव पूर्वजों का इतिहास ज्ञात होता हैं।

प्राकृत कथा कोष

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओं का उपदेश श्रमण परम्परा में बहुत प्राचीनकाल से प्रभावित रहा है। सर्वप्रथम धर्मदासगणि ने इस शैली को "उपदेशप्रकरण माला" प्राकृत रचना में अपनाया। इसमें ५४४ गाथाऐं है जिनमें विनयशील,व्रत,संयम,दया, ज्ञान एंव ध्यानादि विषयक स्त्री पुरुषों के दृष्टान्त दिये गये हैं। हरिभद्रसूरि ने आठवी शताब्दी में उपदेशपद लिखे। कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंहसूरि ने वि०सं० ९१५ में धर्मदास की कृति के अनुकरण पर "धर्मोपदेश–माला विवरण" नामक रचना लिखी जिसमें शील,दान आदि सद्गुणों का माहात्म्य तथा राग द्वेषादि दुर्भावों के दुष्परिणाम से लेकर चोर जुवारी,शराबी तक सभी स्तरों के व्यक्तियों के वर्णन द्वारा समाज का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जिनेश्वर सूरिकृत "कथाकोषप्रकरण" में (वि०सं० ११०८) में जिनपूजा,सुपात्रदान आदि का महत्व, साथ ही राजनीति व समाज आदि का चित्रण भी किया है। इसी रुप में चन्द्रप्रभ महत्तर ने ११ वीं शताब्दी में विजयचन्द्र केवली एंव जिनचन्द्रसूरि ने बारहंवी शती में "संवेगरंग शाला" की रचना की। बारहवीं शती में गुणचन्द्र ने ५० कथानक युक्त "कथारत्न कोष" की रचना की।

इन कथा एंव काव्यों को मनोरंजक एंव सरल बनाने हेतू विविध सम्वाद,

प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, सुभाषित, सूक्ति, विष्णुगीतिका, चर्चरी गीत एंव प्रगीतों की भी रचना की गयी। दलित एंव पतित समाज का उत्थान तथ समाज के चित्र प्राकृत काव्य,प्राकृत चरितकाव्य और कथाओं में अंकित किये गयें हैं। वैदिक राम,कृष्ण,पाण्डव, हनुमान आदि के आख्यानों का प्राकृत–काव्यों में जैनीकरण किया है।

अपभ्रंश साहित्य

अन्य भाषाओं की तरह अपभ्रंश में भी विद्वानों द्वारा पुराण,चरित एंव कथाओं का निर्माण हुआ है। जैन कवियों ने लोकभाषा को काव्य और साहित्य का माध्यम प्राचीनकाल से ही बनाया है। इसी कारण पुराण–चरित एंव कथाग्रंथों के साथ ही गणित,आयुर्वेद,वास्तुशास्त्र,स्तुतिपूजा,विषयक एंव आध्यात्मिक,सैद्धान्तिक एंव औपदेशिक साहित्य की भी रचना हुयी[९९]। अपभ्रंश साहित्य के इन रुपों के अर्न्तगत हमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य एंव रुपक काव्य आदि सभी आधुनिक विधाओं के लक्षण मिलते हैं।

अपभ्रंश साहित्य का सर्वप्रथम उल्लेख छठी शताब्दी के भामह ने किया है। भामह अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा एंव काव्य का एक विशेष रुप मानते हैं[१००]। दण्डी (सांतवी शदी) ने अपभ्रंश को वागंमय के एक भेद के रुप में निर्देशित किया है[१०१]।

जैन साहित्य के अर्न्तगत अपभ्रंश का सबसे पहला कवि चतुर्मुख है[१०२]। इनका समय आंठवी शताब्दी में माना जाता है। कवि चतुर्मुख ने पद्धड़िया छन्द का आविष्कार किया। यह छन्द अपभ्रंश के अनेक स्तरों को पारकर हिन्दी में इसी नाम से प्रयुक्त हुआ है। कवि चतुर्मुख की तीन कृतियॉ हरिवंशपुराण,पउमचरित एंव पंचमीचरित का उल्लेख मिलता है, किन्तु उपलब्ध एक भी नहीं है। आठवी शदी के विद्वान लेखक उद्योतनसूरि अपभ्रंश को आदर की दृष्टि से देखते एंव उसके साहित्य की प्रशंसा करते थे[१०३]।

चरितकाव्य की दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू[१०४] (७३७ एंव ८४० ई०वी०) का वह कवि है जिसने राम एंव कृष्ण कथा पर पृथक् पृथक् अपभ्रंश में काव्यग्रन्थ लिखे हैं। "पउमचरिय एंव रिट्ठणेमिचरिउ मात्र पुराण ही नहीं बल्कि महाकाव्यों के अनेक तत्व इन काव्यों में समवेत हैं[१०५]। पउमचरिय में विद्याधर,अयोध्या,सुन्दर,युद्ध,उत्तर ये पॉच काण्ड हैं। स्वयम्भू ने ग्रंथ के आदि में पॉच महाकाव्य[१०६],पिंगल के छन्दशास्त्र, भास के न्यायशास्त्र, भामह एंव दण्डि के अलंकारशास्त्र,इन्द्र के व्याकरण,ब्यास,कवि ईशान[१०७],बाण के अक्षराडम्बर, श्री हर्ष के निपुणत्व एंव रविषेंणाचार्य की रामकथा का उल्लेख किया है[१०८]।

राम के चरित में कवि ने आदर्शमानव के समस्त गुणों का संयोजन किया है। स्वयम्भू ने अपने इस पुराण में उदपत्त कल्पना को बहुत अधिक स्थान दिया

है। वह कहता है – "जानकी अपने मन्दिर से क्या निकली, मानों हिमवान् से गंगा निकल पड़ी हों, छन्दस् से गायत्री निकल पड़ी हो एंव शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो[१०६]।

स्वयम्भू की दूसरी अपभ्रंश रचना "रिट्ठणेमिचरिउ" या हरिवंशपुराण है। ग्रंथ में तीन काण्ड हैं – यादव,कुरु एंव युद्ध। इनमें कुल ११२ संधियाँ है। यादव में १३, कुरु में १६ एंव युद्ध में ६० संधियाँ हैं। यादव काण्ड में कृष्ण के जन्म, बालक्रीड़ा, विवाह आदि वर्णन काव्यरीति से किये गये हैं कुरुकाण्ड में कौरव एंव पाण्डवों के जन्म, कुमारकाल, शिक्षा, परस्पर विरोध धूतक्रीड़ा एंव वनवास का वर्णन तथा युद्धकाण्ड में कौरव एंव पाण्डवों के युद्ध का वर्णन रोचक एंव महाभारत के वर्णन के समान है।

स्वयम्भू का "पंचमीचरिऊ" नामक ग्रंथ भी कहा जाता है लेकिन अभी उपलब्ध नहीं हैं। स्वयम्भूकृत स्वयम्भूछन्द एंव व्याकरण भी ग्रंथ कहे जाते हैं।

अपभ्रंश में धवलकवि कृत एक अन्य "हरिवंशपुराण" भी मिलता है। ग्रंथ की उत्थानिका में "महासेनकृत सुलोचनाचरित" रविषेणकृत "पद्मचरित जिनसेनकृत" हरिवंश, जटिल–मुनिकृत "बंरागचरित" असगकविकृत "महावीर चरित" जिनरक्षित श्रावक द्वारा विज्ञापित एंव जयधवला, चतुर्मुख एंव द्रोण कवि के नामोल्लेख कवि के काल निर्णय में सहायक हैं। असग कवि का समय ९८८ ई० है अतएंव धवल कवि ने भी अपनी यह रचना दसंवी ग्यारहवीं शदी में की होगी।

जिस प्रकार प्राकृत में "चउपन्नमहापुरिस चारिय" की तथा संस्कृत में त्रेशठशला का पुरुषचरितों की रचना हुयी, उसी प्रकार अपभ्रंश में महाकवि पुष्पदन्त द्वारा तिसट्ठिमहापुरस्सगुएासंकारु या महापुराण की रचना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय के समय हुयी[११०]। यह शक सं० ८८७ में पूर्ण हुआ। यह महापुराण आदिपुराण एंव उत्तरपुराण में २३ तीर्थकर एंव अन्य महापुरुषों के चरित्र निरुपित है। उत्तरपुराण में पद्मपुराण एंव हरिवंशपुराण[१११] भी शामिल हैं। आदिपुराण में ८० एंव उत्तरपुराण में ४२ संधिया हैं। यह एक ऐसा महाग्रंथ है जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है – "इसमें सब कुछ हैं जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है"[११२]। जैन पुस्तकभण्डारों में ग्रंथ की अनेकानेक प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इस पर अनेक टिप्पणी ग्रन्थ भी लिखे गये हैं जिनमें प्रभाचन्द्र एंव मुनिचन्द्र के उपलब्ध हैं[११३]।

जसहरचरिऊ (यशोधर चरित) भी एक खण्डकाव्य है[११४] इसमें यशोधर नामक पुराण पुरुष का चरित वर्णित है। इसमें चार संधि है। यह कथानक जैन सम्प्रदाय में इतना अधिक प्रिय रहा है कि सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभ्रद, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर एंव श्वेताम्बर लेखकों ने अपने ढंग से प्राकृत एंव संस्कृत में लिखा है।

णायकुमारचरिउ (नागकुमार चरित) यह पुष्पदन्त का एक खण्डकाव्य है इसमें नौ संधियाँ है। इसमें पंचमी के उपवास का फल बतलाने वाला नागकुमार का चरित है[११५]।

पुराणों के अतिरिक्त विविध तीर्थकरों के चरित्र पर स्वतन्त्र काव्य लिखे गये। "पाषणाहचरिऊ" की रचना पद्मकीर्ति ने वि० सं० ६६२ में अट्ठारह संधियों में पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा में सेन संध के चन्द्रसेन एंव जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा "पाषणाह चरिऊ" कवि असवाल कृत पाया जाता है इसमें तेरह संधियॉ हैं।

दसवीं शताब्दी में धनपाल (धक्कड़) द्वारा "भविसयत्तकहा" की रचना हुयी। यह कथा बाइस संधियों में विभाजित हैं। ग्रंथ में बालकीड़ा, समुद्रयात्रा, उजाड़नगर–एंव विमानयात्रा का सजीव वर्णन है। सोलहवें सर्ग में अच्युत स्वर्ग का उल्लेख है। धनपाल ने १०२६ ई० में "सत्पुरीयमहावीर–उत्साह" नामक फुटकर रचना की[११६]।

मुनि कनकामर ने "करकंडुचरिऊ" की रचना की। इसमें कल्चुरी राजा एंव चन्देलवंशीय राजा विजयपाल का उल्लेख हुआ है। ग्रंथ दस संधियों में पूर्ण हुआ है। ग्रंथ में गंगानदी, श्मशान, प्राचीन जिनमूर्ति के भवन से निकलने एंव रतिवेगा के विलाप का वर्णन अत्यन्त रोचक है।

धाहिल द्वारा रचित "पउमसिरि–चरिऊ" (पद्मचरित) चार संधियों में पूर्ण हुआ है। इसका रचनाकाल वि०सं० ११०० है। इस काव्य की नायिका पद्मश्री है। काव्य में देशों व नगरों का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण एंव सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुन्दर है।

प्रकाशित इन चरितकाव्यों के अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित अपभ्रंश चरित ग्रंथ जैन शास्त्रभंडारों में हैं। इनमें कुछ विशेष रचनाऐं इस प्रकार है – वीरकृत "जम्बूस्वामीचरिऊ" (वि०सं० १०७६) नयनन्दिकृत – "सुदंसएावरिऊ" (वि०सं० ११००) श्री धरकृत"सुकुमालचरिऊ" (वि०सं० १२०८) है।

हरिभद्र के प्राकृत "धूर्ताख्यान" कथाग्रंथ के आधार पर हरिषेण ने "धर्मपरिकहा" नामक ग्रंथ ग्यारह संधियों में लिया है। इसकी रचना वि० संव १०४४ में हुयी। वि०सं० ११०० में नयमंन्दि ने "संकलविधिविधानकहा" और श्रीचन्द्र ने "कथाकोष" और "रतनकरंडशास्त्र" की रचना वि०सं० ११२३ में की।

इन कथाग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य में रासाग्रंथों जैसे "उपदेशरसायनशास्त्र, नेमिरास, अन्तरंगरास, जम्बूस्वामीरास, समरास, तथा रंवतगिरिरास जैन कवियों द्वारा प्रणीत रासासाहित्य की प्रमुख रचनाऐं हैं। अपभ्रंश साहित्य रचना में रड्ढा, ढक्का, चौपाई, पद्धड़िया दोहा, सोरठा, धन्ता, दुवई, भुजंगप्रयात् दोधक एंव गाहा आदि छन्दों को भी पर्याप्त स्थान मिला है।

कन्नड़ साहित्य

जैन कन्नड़ साहित्य में मौखिक चेतना तरगित होती है। गम्भीर चिन्तन, सम्मुन्नत हार्दिक प्रसार, एंव गोदावरी एंव कावेरी के द्वन्द्व इस साहित्य में मिलते हैं। नवीं शताब्दी में राष्ट्रकुट राजा नृपतुंग के राज्यकाल से जैनकवियों ने कन्नड़ में काव्यरचना का श्रीगणेश किया। नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय के आश्रय में महाकवि गुणवर्म ने कन्नड़ भाषा में महापुराण की रचना की। कृष्ण ने कन्नड़ भाषा के कवि पोत्र को "उभयभाषाविचक्रवर्ती" की उपाधि से विभूषित किया था। पोत्र ने कृष्ण तृतीय (८६७–८६४ ई० वी०) के समय "शान्तिनाथपुराण" की रचना की।

दसंवी शताब्दी में पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने कन्नड़भाषा के जैन कवि रन्न को आश्रय दिया। तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय ने जैनमुनि विमलचन्द्र पण्डित देव को अपना गुरु बनाया। तैलप ने कवि रन्न को ६६३ ई में "अजितपुराण" या "पुराणतिलक–महाकाव्य" के पूर्ण होने के उपलक्ष्य में कविचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित कर स्वर्णदण्ड, चंवर, छत्र, गज आदि वस्तुऐं देकर पुरस्कृत किया।

कवि पम्प ने "आदिपुराण चम्पू" एंव भारत या "विक्रमार्जुन विजय" ग्रंथ की रचना की। भारतग्रंथ वि० सक० ६८८ में पूर्ण हुआ। दक्षिण के चालुक्य वंशीय अरिकेशरी ने कविपम्प की रचना पर प्रसन्न होकर धर्मपुर नामक ग्राम दान में दिया था। ग्रंथ से अरिकेंशरी की वंशावली ज्ञात होती है।

कन्नड़ भाषा में "चन्द्रप्रभचरित" नामक ग्रंथ की रचना आग्गल कवि ने वि०सं० ११४६ में की। आग्गल कवि ने श्रुतकीर्ति को अपना गुरु बतलाया है। ओडडय कवि द्वारा विरचित" कव्विगरकाव इतिवृत" वस्तुव्यापार वर्णन एंव दृश्यचित्रण की दृष्टि से बेजोड़ है। नयसेन ने "धर्मामृत" नामक कथाग्रन्थ की रचना संस्कृत एंव कन्नड़ मिश्रित भाषा में रचना की। जो साहित्य के क्षेत्र में नयी देन है। महाकवि जन्न ने "यशोधरचरित" एंव "अनन्तनाथचरित" की रचना की है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त वर्णपार्य द्वारा रचित "नेमिनाथ चरित" नेमिचन्द्र का "अर्द्धनेमिपुराण" गुणधर्म का पुष्पदन्तपुराण, रत्नाकरवर्णी के भरतेशवैभव एंव शतक त्रय ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। माधुर्य एंव संगीत तत्व में भरतेशवैभव गीतगोविन्द" की अपेक्षा उच्चकोटि का है[११७]।

चन्द्रालोक एंव दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर कन्नड़ में जैनाचार्यों ने अलंकार शास्त्रों का प्रणयन किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन इतिहास लेखकों ने कन्नड़भाषा में अपने साहित्य की विभिन्न विधाओं का सृजन कर कन्नड़ साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

तमिल साहित्य

तमिल भाषा का साहित्य भी प्रारम्भकाल से ही जैनधर्म एंव संस्कृति से प्रभावित है। जैनाचार्यो द्वारा सर्वप्रथम तमिलभाषा में "नीति–विषयक" साहित्य की रचना की गयी। "पलमोलि" तमिल ग्रंथ में पुरातन सूक्तियॉ हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। "तिलेमालेमुरेम्बतु" नामक ग्रंथ में श्रृंगारपरक एंव युद्धपरक सिद्धान्तों का वर्णन है।

तमिल भाषा के पंचमहाकाव्यों में "जीवक चिन्तामणि, शिलप्पड्क्किारम" एंव बल्लेयापति ये तीन जैन महाकाव्य हैं। "जीवकचिन्तामणि" काव्य में कल्पना शैली की सुन्दरता एंव प्राकृतिक चित्रण अपना विशेष महत्व रखता है।

तमिल साहित्य में प्राप्त श्रेष्ठ व्याकरण ग्रंथों का निर्माण जैन लेखकों द्वारा ही किया गया है। तमिल साहित्य में "कुरलकाव्य" को पंचमवेद की संज्ञा दी गयी है। "नालडियार" भी महत्वपूर्ण गीतिकाव्य हैं। इस प्रकार जैन इतिहास लेखकों ने गणित, ज्योतित्र, काव्य, प्रकृति वर्णन, प्रेम एंव सौन्दर्य सभी क्षेत्रों में रचनाऐं की हैं।

मराठी साहित्य

सर्वप्रथम जैनाचार्यो द्वारा मराठी भाषा में रचनाऐं शक सं० ६८८ में प्रारम्भ की गयी है। जिनदास, गुणदास, मेधराज, कामराज, गुणनन्दि, पुष्प सागर, महेन्द्रचन्द्र, महेन्द्रकीर्ति, विशालकीर्ति इत्यादि मराठी जैन कवि प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अपनी बहुमुखी कृतियों द्वारा मराठी साहित्य को समृद्ध बनाया।

उपर्युक्त अवलोकनों से ऐसा ज्ञात होता है कि भारत की अनेक भाषाओं विशेषकर – संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, प्राकृत एंव मराठी में जैन साहित्य लिखा गया। इसका कारण जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही अपने प्रचार के लिए लोकभाषाओं को अपनाया। अतः ऐतिहासिक कम में विभिन्न काल की लोकभाषाओं में लिखी गयी जैन रचनाऐं प्राप्त होती हैं। ये जैन साहित्य की अनेक विधायों–पुराण, चरितकाव्य कथा–साहित्य, रासा साहित्य, ज्योतिष, साहित्य आदि में लिखा गया है।

संदर्भग्रन्थ

१. अर्थव० १५/६/१०
२. तत्वार्थसूत्र – (आचार्य गृद्धपिच्छ कृत) स्वयम्भू स्तोत्र, स्तुतिविद्या देवागमस्तोत्र, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका,गन्धहस्ति, महाभाष्य। सिद्धसेनकृत–सन्मतिसूत्र, जैनेन्द्र महावृत्ति, द्वाविंशातिका, जैनाचार्य देवनन्दिपूज्यपाद कृत–समाधितन्त्र, दुष्टोपदेश, देशभक्ति।
३. आ०पु० १/२४–२५
४. इ०द०पृ० २०

५. प्रज्ञा पृ० १८२–१८५
६. एन्शियन्ट हिस्होरियन्स ऑफ इण्डिया पृ० ४
७. जैनधर्म पृ १५
८. ह०प० १/३, इ०ए० भाग ६, पृ० १६३, इ०फि०भाग १ पृ० २८७
९. मनुस्मृति १/२–३ भा०पु० ५/६
१०. भारतीय जैन साहित्य संसद–आरा अधिवेशन पृ० २
११. ऋग्वेद १०/१३६/२–३
१२. भ०पु० ५/३/२०
१३. भा०पु० ५/६/१२
१४. ऋग्वेद १०/१३६/१
१५. प०पु० ३/२८८, ह०पु० ६/२०४
१६. शि०महापुराण ७/२/६
१७. जै०शि०ले०न० २ भा०२१
१८. मॉडर्न रिव्यू १६/३५
१९. हि०स०पृ० २३
२०. त्रि०सा० ८०२
२१. आ०पु० १७६–१८०।
२२. ह०पु० ८/२०६
२३. वही ८/२१० आवश्यक सूत्र पूर्वभाग पत्र १६२ (मलयगिरि की टीका) आवश्यक नियुक्ति श्लोक ११६–१२० पृ० २६
२४. भा०खण्ड २ ११/२– पृ० ७१० वा०पु० ३३/५२ वा०हि०प्रथम ख० पृ० १८६।
२५. इ०फि० पृ० २८७
२६. कल्पसूत्र सबोधिका टीका पद्य १४१।
२७. उत्तराध्ययनसूत्र ६/१४
२८. उत्तराध्ययन सूत्र ६/१४ महाजनक जातक, महाभारत शान्तिपर्व।
२९. युगे युगे महापुण्यं दृश्यते द्वारिकापुरी। अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभास – शशिभूषणं। ख–ताडों जिनौ नेमिर्युगादिविर्मलाचले। ऋषीणांमाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्थ कारणं (म०भा०शा०पर्व)
३०. राजारामशास्त्री महाभारत युद्ध का समय ३१०३ ई०पूर्व०,सी०वी० वैद्य – ३००० ई०पू०, आर०बी०वैद्य २७८६ ई०पू०, एंव बी०जी०तिलक १४०० ई०पू० मानते हैं।
३१. "भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान" पृ० १६ "जैनिज्म दि ओल्डस्ट लिविंग रिलीजन" पृ० २२
३२. मूलाचार ७/३६–३८, भगवतीसूत्र २०,८,२५,७ तत्वार्थसूत्र ६/१८ की सिद्धसेनीय

टीका।

३३. आचांराग ३, भावधूलिका ३, सूत्र ४०१।

३४. कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृतभक्तियॉं, यतिवृषभकृत तिलोयपण्णति, पूज्य–पादकृत दशभक्ति आचांराग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि सूत्र ह०पु० २/४१७ उ०पु० ७४/२५१।

३५. हि०क०इ०पी० ख–२ पृ० ४६२, इ०लौ०स्ट०भा० ३ पृ० २३६–३६, कै०हि०इ०भा–२ पृ० १५३

३६. आ०सू० श्रुतस्कन्ध २/२३/३६१–२

३७. महावीरचरियं गाथा १३५८–१३६५ पत्र ५८/१, महावीरचरियं – (गुणभद्रिकृत) २५/२ त्रि०श०पु०च० १०/४/६५२–६५७

३८. आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग पत्र ३२२।

३६. जैन मान्यता के अनुसार – अत्यन्त इन्द्रियनिग्रही एंव महान जगत विजयी ही "अर्हत जिन" कहे जाते हैं एंव उनके अनुयायी जैन कहे जाते हैं।

४०. त्रि०श०पु०च० १०/५/१०, ३६–४७।

४१. "हृ०पु०", वीर विहार मीमांसा", जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १२ किरण। पृ० १६–२२ में विहार किये गये स्थानों का विस्तृत उल्लेख है।

४२. उ०पु० ५०६, ५१० जयधवला खण्ड १ पृ० ८१ तिय तिलोयपण्णति भाग १/४/१२०८ पृ० ३०२ पूज्यपादीयनिर्वाण भक्ति १६–१७ वॉश्लोक

४३. त्रि०श०पु०च० १०/१३/२६६

४४. जै०शि० ले०सं० भाग २ लेख नं० २ पृ० ६ पं० १४–१५

४५. त०सू० ६/६

४६. त०सू० १/१/२

४७. त०सू० ७/१

४८. जै०शि०ले०संग्रह भाग २ ले०स० १०० पृ० ७५ आ०पु०श्लोक ६०

४६. जै०व्या० २,३,४

५०. जै०शि०ले०सं० भाग २ ले०सं० १०५ पृ० ८३।

५१. जै०शि०ले० सं० भाग १ ले०सं० ४०, ६४

५२. जैनेन्द्र प्रकिया का नाम शबदार्णव प्रकिया भी माना गया है।

५३. जै०शि०ले०संग्रह भाग १ भूमिका पृ० ७२।

५४. इसका दूसरा नाम राधवपाण्डवीय महाकाव्य भी है। १८ सर्गो में राधव एंव पाण्डवों अर्थात् रामायण एंव महाभारत की कथा लिखी गयी है। इस ग्रंथ पर दो टीकाएं लिखी गयी है। जैन साहित्य और इतिहास पृ० १०६

५५. यह एक शब्दकोक्ष है। नाममालाकोष श्लोक ५,६,७

५६. जै०सा०और इ० पृ० ११०।

५७. "षट–प्राभृत" टीका पृ० ७६ – षड्दर्शन – सम्मुचय के टीकाकार गुणरत्न के अनुसार यापनीय संघ के मुनि नग्न रहने के साथ मोरों की पिच्छि रखते एंव नग्न मूर्तियों की पूजा करते थे।

५८. कुवलयमाला श्लोक ३८
जैन साहित्य एंव इतिहास पृ० ११४ – इस ग्रंथ के कर्त्ता जिनसेन पुन्नाट संघ के आचार्य थे वे आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन से भिन्न हैं। स्व०डा०पाठक, टी०एस०कुप्पास्वामी आदि ने नाम साम्य के आधार पर दोनों को एक समझ लिया था।

५९. पं०चं० श्लोक १८५।

६०. उ०पु०प्रस्तावना–सर्गो के अन्त में भी गुणभद्राचार्य प्रणीते लिखा गया है

६१. विव्दद्रत्नमाला पृ० ७४–७७।

६२. आ०पु० १/४६

६३. गद्यचिन्तामणि श्लोक ६

६४. उ०पु०प्र० श्लोक ६।

६५. इस टीका की एक प्रति बम्बई के ए०प०सरस्वती भवन में (३८क) है जो वि०सं० १६५२ की है। इसके कर्त्ता का नाम नहीं मालूम हुआ है।

६६. "सिंहसमर्च्यपीठविभव" : मल्लिषेण प्रशस्ति जै०शि०सं० भाग–१।

६७. जै०शि० सं०भाग १, श्रवणबेल्गोला की मल्लिषेण प्रशस्ति।
पार्श्वनाथ – चरित श्लों २२

६८. यशो० चं० १/५

६९. यशोधरचरित ३/८५, सर्ग ४ – उपान्त्य पद्य में।

७०. यशोधर महाराज का चरित अंकित करते समय तृतीय आश्वास में राजनीति की विशद व्याख्या की है।

७१. यह शुद्ध राजनीति का ग्रंथ है।

७२. अध्यात्मतरिगिंणी का नाम योगमार्ग भी है इसकी एक संस्कृत टीका झालरपाटण के सरस्वतीभवन भंडार में है जिसके कर्त्ता गणधर कीर्ति है रचनाकाल वि०सं० ११८६ है।

७३. जैनधर्म का योगदान पृ० १७१

७४. हरिं हरिबलं नत्वा हरवंर्ण हरिप्रभम।
हरीज्यं ब्रुवे टीका नीतिवाक्यामृतोपरि ।। संस्कृत टीका
सोम सोमसमाकारं सोमाभं सोमसम्भवम्।
सोमदेवं मुनि नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे।। नीतिवाक्यामृत"

७५. जै० सि०भा० भाग २ अंक १ – पं०के०भुजवलिशास्त्री

७६. जै०शि०ले०सं० भाग १, श्रवणवेल्गोला के शिलालेख सं० ४७, ५०, ५२।
७७. जै०शि०ले०सं० भाग २ लेखन० ५५
श्री धाराध्यिभोजराजमुकुट प्रोताश्मरश्मिच्छटा श्रीमान्प्रभचन्द्रमा।
७८. श्री मुंजेन सरस्वतीति सदसि क्षोणी भृता व्याहृतः। (तिलक मंजरी)
७९. इति जयकीर्ति कृतौ छन्दोडनुशासन – सम्वत ११९२ आषाढ शुदि १० शनौ लिखितमिदमिती।।
यह ग्रंथ जैसलमेर के पुस्तक भंडार में है। प्रो० वेलण–करने अन्य कई छन्दग्रंथों के साथ "जयरामन" नाम से प्रकाशित किया है।
८०. सहस्त्रलिंगसार प्रशस्ति के अन्त में –
"एकहिनिष्प्रभ महाप्रबन्धः श्री सिद्धराजप्रतिप्रभु वन्धुः ।
श्री पालनांभा कवि प्रशस्तिमेताम करोत्प्रशस्ताम्।।
८१. जै०सा०औ०इ० पृ० ३१६।
८२. प०च० (विमल०) ११७, ११८
८३. प०च० (विमल) १०३ अन्तिमप्रशस्ति
८४. प०च० (विमल) ८
८५. जनरल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा जिल्द २ भाग २ पृ १२८
८६. जैन साहित्य संशोधक खण्ड ३
८७. जयधवलाटीका की प्रस्तावना पृ० ६१–६३
८८. धवला में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है और उसकी बहुत सी गाथाएँ भी उदधृत की है। – ध०पु०३, पृ० ३६, ध०पु०४ पृ० १५७
८९. जिनरत्नकोष पृ० ४१६
९०. जिनरत्नकोष पृ० १९८
९१. जैन साहित्य संशोधक वर्ष ३ अंक ३ में प्रकाशित।
९२. संवत्सरशतनयके द्विषष्टिसहिते तिलंधितेः चास्याः।
ज्येष्ठे सितपंचभ्यां पुर्नवसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत। (प्रशस्तिपद्य)
९३. जिनरत्नकोश पृ० १९०, ३२६, ३२७।
हिस्ट्रीआफ इण्डियन लिटरेचर भाग २ पृ० ५२६–५३२ में विस्तृत वर्णन है।
९४. जै०सा०सं०इ० पृ० १८७
९५. अनेकान्त वर्ष ४, अंक ३–४
९६. जिनरत्नकोश पृ० १३० जै०सा० का वृहद इतिहास भाग ६ पृ० १५४
९७. पाइयलच्छीनाममाला २७६ बीं गाथा।
९८. जै०सा०का०बृ०इ०भाग ६ पृ० ३९०।
९९. अनेकान्त फाइल वर्ष ११, किरण ६ ।
१००. काव्यालंकार १/१६–२८

१०१. काव्यादर्श १/३२

१०२. हरिषेण ने अपनी "धर्मपरिकरवा", पुष्पदन्त ने "महापुराण" कनकामर ने अपने "करकंडुचरिउ, एंव स्वयम्भूदेव ने अपने ग्रन्थों में चतुर्मुख का स्वतन्त्र रुप से स्मरण किया है – "भारतीय विद्या" वर्ष २ अंक १ में नाथूराम प्रेमी का लेख।

१०३. अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० ६७–६८।

१०४. पुष्पदन्त ने अपने "महापुराण" वि०सं० १०१६ एंव हेमचन्द्र ने अपने "छन्दोनुशासन में स्वयम्भू का उल्लेख किया है – निर्णयसागर प्रेस की आवृत्ति पत्र १४ पं० १६।

१०५. जै०सा० और ई०पृ० १६६

१०६. रधुवंश, कुमारसंभव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय एंव भट्टि।

१०७. अडमार ग्राम से प्राप्त तीन ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं उनमें से एक प्रशस्तिकार का नाम ईशान है। पाण्डेय ने इसका समय ई०वी० ७०० के लगभग बताया है।

१०८. प०च० (स्वयम्भू) संधि१ कड़वक २/३–५ पउमचरिउ के अन्तिम अंश के पद्य ३,७,६,१०

१०६. प०च० (स्वयम्भू २/२३/६)

११०. राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त को राज्याश्रय प्रदान किया था और महापुराण जैसे विशालकाय "काव्यगुण पंडित ग्रंथ का प्रणयन करवाया।

१११. केवल हरिवंशपुराण को जर्मनी विद्धान माल्सडर्फ ने जर्मनभाषा में प्रकाशित किया है – जै०सा०व०इ०पृ० २३५

११२. किचांन्यवदिहास्ति जैनचरिंत नान्यत्र तद्धिद्यते।
द्वावेतौ भरतेश पुष्पदन्तौ सिद्धंययोरी दृशम्।।

११३. प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणी परमार राजा जयसिंह देव के राज्यकाल में और श्री चन्द्र का भोजदेव के राज्यकाल में लिखी गयी।

११४. जै०सा०एवं इ० पृ० ३३७

११५. णायकुमारचरिऊ (नागकुमारचरित) १/२/२

११६. जैन साहित्य संशोधक वर्ष ३ अंक ३ में प्रकाशित।

११७. भारतीय जैन साहित्य संसद सन् १६६५ पृ० ६।

जैन इतिहास लेखकों का उद्देश्य एंव उनकी विशेषताऐं

जैन इतिहास का निर्माण जो विविध रुपों–पुराण, चरित, कथा एंव अभिलेखीय साहित्य के रुप में हुआ है, का तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होना था। छठी शताब्दी ईसा का समय साहित्यिक दृष्टिकोण से उदारवादी रहा उसका मुख्य कारण तत्कालीन राज्यवंशों द्वारा प्रश्रय प्राप्त होना था।

उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि ईसा की पांचवी शताब्दी से साहित्य निर्माण प्रारम्भ हो गया था। उस समय हूणों के आक्रमण के कारण केन्द्रीय शासन का अभाव था एंव विभिन्न राज्यवंश अपनी अपनी राज्यसीमा के अन्तर्गत राज्य कर रहे थे। पूर्व–पश्चिम एंव दक्षिण भारत में जैन धर्म व्यापक रुप से फैला था। दक्षिण में पूर्वमध्यकाल में गंग, चालुक्य, कदम्ब, राष्ट्रकूट होय्यसल राज्यवंशों द्वारा जैन धर्म एंव साहित्यकारों को प्रश्रय दिया गया। विशेषकर राष्ट्रकूट राज्यवंश की शाखाओं द्वारा जैनधर्म एंव साहित्य सृजन के लिए योगदान दिया गया। वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, शाक्टायन, महावीराचार्य, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, मल्लिषेण, सोमदेव, एंव पम्प आदि कवियों द्वारा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एंव कन्नड़ भाषाओं में साहित्य का निर्माण अनेक साहित्यिक विधाओं में किया गया। राष्ट्रकूट राजा अमोधवर्ष (८१५–७७ ई०) जैन साहित्यकार जिनसेन के प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखता था जीवन के अन्तिम समय में जैनधर्म स्वीकार किया एंव अनेक जैनग्रन्थों की रचना की। गुजरात में चालुक्य एंव वघेल, राजस्थान में चौहान परमारवंश की शाखाऐं, एंव गहलोत, मालवा एंव चन्देल, कल्चुरि राजाओं द्वारा जैन श्रमणों एंव श्रावकों को साहित्यिक एंव कलात्मक सुविधाऐं प्रदान की गयी फलतः जैन साहित्य एंव कला का बहुमुखी विकास हुआ। राज्यवंशों द्वारा जैन विद्वानों के त्याग एंव वैराग्यमय जीवन एंव विद्वता का अत्यधिक सम्मान किया जाता था।

धार्मिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो छठी शताब्दी में प्रचलित धर्मों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण रहा। ब्राह्मण धर्म सर्वोच्च धर्म के रुप में था जिसके अन्तर्गत अवतारों की पूजा एंव भक्ति की प्रधानता थी लेकिन तत्कालीन राजा धर्मसहिष्णु एंव अन्य धर्मो को संरक्षण देने वाले थे। बौद्ध धर्म भी सुदृढ़ स्थिति में था। जैनधर्म विकसित अवस्था में था। बल्लभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने जैनागमों का पॉचवी शताब्दी में संकलन किया था। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव एंव भगवान बुद्ध हिन्दू अवतारों में गिने जाते थे। तन्त्र मन्त्रों का प्रभाव बढ़ रहा था। जैनाचार्यो ने इन सभी धर्मों एंव इनके रुपों को जैनधर्म में आत्मसात् किया एवं साहित्य का निर्माण किया।

जैन धर्म में पर्व, तीर्थ, मंत्र आदि का माहात्म्य बढ़ने के साथ ही तीर्थयात्राओं का भी महत्व बढ़ने लगा।

जैन श्रमण संध की व्यवस्था भी परिवर्तित हो चुकी थी जैन श्रमण वनों, उद्यानों की अपेक्षा ग्रामों एंव नगरों में रहते थे। जिन्हें "वसतिवास" कहते थे। नगरों एवं ग्रामों में अनेक मठों एंव मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था जिन्हें राज्यवंशों एवं जनसाधारण द्वारा प्रचुर मात्रा में दान दिया जाने लगा। जैन गृहस्थ लोगों को पहले उपासक–उपासिका कहा जाता था। उन्हें धर्मश्रवण नियत रुप से किये जाने एवं धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने के कारण श्रावक एंव श्राविका कहा जाने लगा। श्रमणों एवं गृहस्थ श्रावकों के बीच निकट सम्पर्क ने जैनसंध में मतभेद उत्पन्न कर दिया। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही जैन श्रमण ज्ञानाराधना से दूर होकर मन्दिर निर्माण एंव मूर्तिपूजा की ओर प्रवृत्त हो गये। जिसके लिए वे दानादि ग्रहण करते थे। परिणामतः सांतवी शताब्दी के पश्चात् जिनप्रतिमा, जिनालय निर्माण, पूजा माहात्म्य एंव विधिविधान आदि पर विशेषकर साहित्य निर्माण होने लगा[1]।

इस समय संधों में अनेक गण, गच्छ, अन्वयों, कुलों आदि का उदय होने लगा, इसके साथ ही प्रत्येक गण गच्छ आदि की अपनी अलग अलग परम्पराऐं एंव विधिविधान मान्य होने लगे। जैनागम का श्रवण एंव पठन पाठन जो अब तक श्रमणों एंव आचार्यो के लिए नियत था वह अब श्रावक–श्राविकाओं के लिए भी स्वीकृत हो गया इसके लिए पौराणिक महाकाव्य एंव कथा साहित्य की रचना की गई। ५ वीं से १० वीं शताब्दी के मध्य की गयी ये रचनाऐं परवर्ती रचनाओं का आधार बनीं।

राजनीतिक एंव सामाजिक परिवर्तन के साथ ही सम्प्रदायों के संगठन में अत्यधिक परिवर्तन हुए। परिणाम स्वरुप दिगम्बर एंव श्वेताम्बर सम्प्रदायों, द्वारा राजकीय वर्ग को अपनी ओर आकर्षित करके राज्याश्रय प्राप्त करके दक्षिण एंव पश्चिम में अनेक ज्ञानसत्र एंव शास्त्रभंडारों की स्थापना की गयी[2]। इन शास्त्र भंडारों में आगम, न्याय–साहित्य, व्याकरण एंव दार्शनिक साहित्य का संकलन एंव इनके ज्ञान देने की व्यवस्था की गयी।

सामाजिक दृष्टिकोण से सामाजिक स्थिति सुदृढ़ न थी। समाज अनेक जातियों, उपजातियों एंव व्यावसायिक जातियों में विभक्त था। मानव मानव के बीच सामाजिक एंव धार्मिक क्षेत्रों में भेदभाव बढ़ गया था। कर्मकाण्डों एंव यज्ञ याज्ञिकों की बहुलता से ब्राह्मण वर्ग में छूआ–छूत पनप चुका था। क्षत्रिय वर्ग जो राज्यों के अधिपति होते थे उनसे ये आधिपत्य का अधिकार दूर होने लगा। उत्तरभारत में थानेश्वर के पुष्पभूति वैश्य थे, मौखरी एंव तत्पश्चात् गुप्त राजा अक्षत्रिय थे। बंगाल के पाल एंव सेन राजा शूद्र थे। कन्नोज के गुर्जर प्रतिहार परमार एंव चौहान विदेशी

थे जो बाद में क्षत्रिय बना दिये गये। जैन एंव बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरुप जातिगत पेशे शिथिल हो गये। उत्तरभारत में कृषि की अपेक्षा व्यापार करना अच्छा समझा जाने लगा इसी कारण वैश्य वर्ग कृषिकर्म को छोड़कर व्यापार की और अधिक अग्रसर होने लगे। इसी तरह जैनधर्म की अहिंसात्मक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर क्षत्रिय वर्ग ने शस्त्रोपजीवी जीविका छोड़कर व्यापारिक वृत्ति अपना ली। इस व्यापारी वर्ग द्वारा जैनधर्म एंव साहित्य को प्रश्रय मिला। परिणामतः जैनधर्म का प्रसार एंव प्रचार विदेशों में हुआ। अनेक जैनधर्मानुयायी विभिन्न राज्यवंशों के महामात्य, दण्डनायक, कोषाध्यक्ष आदि जैसे पदों पर[3] थे। वैश्य वर्ग को राजकीय प्रतिष्ठा अधिक प्राप्त होने के कारण उनकी रुचि साहित्यिक निर्माण की ओर अधिक थी। जैन गृहस्थों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना की गयी। अपभ्रंश पउमचरिय के रचयिता स्वयम्भू एंव गद्यकाव्य तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल आदि जैन गृहस्थ थे। यह काल संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता था। जैन धर्म यद्यपि त्याग एंव वैराग्य पर प्रधानतः बल देता रहा है उनके उपदेश जीवन की सत्यता के निकट होते थें। ऐसी स्थिति में सत्य एंव कटु उपदेशों को सरल एंव सहजगम्य बनाने के लिए अन्य भाषाओं में भी रचनाऐं की थी।

तत्कालीन इन परिस्थितियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों एंव जैनइतिहास लेखकों के अपने मूलभूत उद्देश्य थे जिसके कारण प्रचुर मात्रा में विविध विधाओं में साहित्य सृजन किया गया।

जैनधर्म के सिद्धान्तों को स्थायी एंव व्यापक रुप देना

जैन इतिहास लेखकों का मूल उद्देश्य अपने धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार एंव प्रसार करना था। भगवान महावीर के काल तक किसी भी प्रकार का जैन साहित्य नहीं रचा गया। जैन सिद्धान्त मौखिक परम्परा से चले आ रहे थे। धीरे–धीरे इनके लुप्त होने पर भगवान महावीर के पश्चात् उनके गणधरों एवं तीर्थकरों द्वारा विभिन्न समयों में दिये गये उपदेशों का संकलन बारह अंग एंव चौदह पूर्वो में आगम साहित्य लिखा गया। किन्तु ये मूल आगम भी समय के प्रभाव से यथार्थ रुप में प्राप्त नहीं होते। भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष उपरान्त सर्वप्रथम जैन साहित्य लिखा गया जिसका मूल उद्देश्य धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों को स्थायी रुप देना था। इसी कारण कभी उन्होंने कथाग्रन्थ लिखे है तो कभी पुराण एंव चरितकाव्य। इन सभी ने जैनधर्म के जटिल सिद्धान्तों एंव मुनिधर्म–पंच महाव्रत, दान, शील, तप, पूजा, स्वाध्याय, त्रयरत्न समाधि–मरण आदि के वर्णनों द्वारा जैनधर्म को अत्यन्त व्यापक बनाया।

जैन आगम साहित्य का मूल उद्देश्य जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्थायी

रुप देना था इसी कारण आगम साहित्य में तीर्थकरों के उपदेशों को सन्निहित किया गया एंव विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा आचार विषयक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। आगम साहित्य में मुनि आचारों का अधिक वर्णन किया गया है। जैन श्रमणों के आचार--विचार, व्रत संयम, तप, त्याग, गमनागमन, रोग निवारण, विद्यामंत्र, उपसर्ग, दुर्भिक्ष, उपवास, प्रायश्चित् आदि का वर्णन करने वाली परम्पराओं जनश्रुतियों, लोककथाओं एंव धर्मौपदेश की पद्धतियों का वर्णन प्राप्त होता हैं। कथा साहित्य जैन साहित्य का इस दृष्टि से विशेष अंग रहा है। जैन कथाकारों का उद्देश्य अपने धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रचार करना था इसके लिए उन्होंने कथा को ही अपनाया। प्रायः सभी लोक कथाओं एंव अवान्तर कथाओं में जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सत्कर्म, प्रवृत्ति, असत्कर्म निवृत्ति, संयम तप त्याग, वैराग्य आदि की महिमा एंव कर्मसिद्धान्त की प्रवलता पर बल रहता है। हरिभद्र सूरि की धर्मकथा "समराइच्च--कहा" की मूलकथा के अन्तर्गत अनेक अर्न्तकथाओं में निर्वेद, वैराग्य, संसार की असारता, कर्मों की विचित्र परिणति, मन की विचित्रता, लोभ का परिणाम, माया, मोह, श्रमणत्व की मुख्यता आदि विषय प्रति पादित किये गये हैं। इसी तरह उद्योतनसूरि की कुवलयमाला में कुवलयचन्द्र की कथा के माध्यम से संसार का स्वरुप, चार गतियॉ, जातिस्मरण, पूर्वकृत कर्म, चार कषाय, पाप का पश्चाताप, धनतृष्णा, जिनमार्ग की दुर्लभता, प्रतिमापूजन, पंचनमस्कार मंत्र, तीर्थकर धर्म, संसार चक्र, मोक्ष का शाश्वत सुख, सम्यकत्व व्रत, द्वादश भावनाऐं, लेश्या, एंव वीतराग की भक्ति का वर्णन करके जनसाधारण तक जैनधर्म के उपदेशों को पहुॅचाया गया है। इसके साथ ही जैन कथाकारों ने जैनधर्म के त्रेशठशलाका पुरुषों एंव उत्तम पुरुषों के चरित्र एंव उनके जीवन की घटित घटनाओं के माध्यम से दान, तप, शील एंव सद्भाव स्वरुप धर्म का विकास किया। जैन कथाकारों के अनुसार ये मानव जीवन को कल्याणकारी सुखी, संस्कारी एंव सत्कर्मी बनाने वाले हैं। कथा साहित्य से ज्ञात होता है कि जैनधर्म की मान्यता है कि कर्मो का फल अवश्य मिलता है सत्कर्मों का शुभफल एंव दुष्कर्मों का अशुभफल प्राप्त होता है जैन कथाकारों ने धर्मोपदेश को अधिक प्रभावी बनाने के लिए क्रोध, मान, माया लोभ एंव मोह इन पांचों को क्रमशः चन्डसोम् मानभट, मायादित्य, लोभदेव एंव मोहदत्व का पात्र रुप में चित्रित किया है एंव उनके चरित्र चित्रण से पंच महाव्रतों को स्पष्ट किया है। जैन कथाकारों ने श्रृंगारयुक्त प्रेमाख्यानों को भी माध्यम बनाया। हरिभद्रसूरि ने प्रेमाख्यानों को धर्म एंव अर्थ की सिद्धि का स्त्रोत माना है व समराइच्चकहा में समरादित्य अशोक, कामांकुर एंव ललितांग नामक मित्रों के साथ काम शास्त्र की चर्चा करता है। इस तरह जैन कथाकारों का उद्देश्य जनसाधारण में धर्म के शाश्वत एंव शरीर व धन के नश्वर रुप को स्पष्ट करके धर्मानुसार आचरण करने की ओर प्रेरित करना था।

जैन इतिहासकारों ने पुराण एंव चरितकाव्यों में त्रेशठशलाका पुरुषों एंव तत्कालीन प्रसिद्ध महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया है। ये ग्रन्थ धर्म के आवरण से आवृत्त है उन्होंने धार्मिक एंव नैतिक भावनाओं को जनसाधारण तक पहुँचाया है उनका उद्देश्य आध्यात्मिक एंव नैतिकता का वातावरण समाज में उत्पन्न करना था। अतएव पुराणों में महापुरुषों की जीवनियों उनके अलौकिक रुपों, एंव धार्मिक कार्यो का वर्णन किया गया है। पुराणों एंव चरितकाव्यों में शलाका पुरुषों के पूर्वभवों का वर्णन करके कर्म एंव पुर्नजन्म के सिद्धान्त पर बल दिया है। कर्म को अतिशक्तिशाली तत्व के रुप में वर्णित कर जनसाधारण को ईश्वर, कर्तृत्व, ईश्वर प्रेरणा जैसे परम्परागत अन्धविश्वास से मुक्त करके आत्मा की स्वतन्त्रता का, स्वपुरुषार्थ का, सर्वशक्तिसम्पन्नता का एंव आत्मा की परिपूर्णता का ज्ञान कराया है। पुराणों में कर्मो को ही मानव सुख दुःख एंव हानिलाभ के कारण बतलाये गये हैं। पुनर्जन्म मृत्यु मोक्ष आदि सभी घटनाओं को कर्मसिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित किया है[४]।

जैन इतिहास लेखकों ने चरितकाव्यों में आचार पर विशेष बल देते हुए मुनि आचार–पंच महाव्रत, गुप्ति, समिति, समयक्त्रयरत्न, तप आदि एंव श्रावक आचार–पंचअणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि को स्पष्ट किया है। सदाचार के द्वारा नवीन कर्मो का क्षय एंव इसके अंगभूत तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मो का क्षय करता है। इस तरह जैन इतिहास लेखकों ने कर्म प्रपंच से बचकर आत्मकल्याण को प्राप्त करने का मार्ग बताया[५]।

स्यादवाद् के महनीय सिद्धान्त का साहित्य में उल्लेखकर जैन धर्म के समन्वयात्मक रुप एंव अतिशय व्यापक दृष्टि की पुष्टि की। जैन मतानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। किसी भी वस्तु को एक दृष्टिकोण से पूर्ण नहीं कहा जा सकता उसे पूर्ण बतलाने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का आश्रय लिया जाता है क्योंकि समाज में विचार भिन्नता आवश्यक रुप से होती है। किसी भी व्यक्ति के विचार पूर्णतः सत्य नहीं हो सकते आंशिक सत्य विचारों में रहता है। स्यादवाद इसी मत भिन्नता में समन्वय उत्पन्न कर सत्य का विश्लेषण करता है।

जैन इतिहास लेखकों ने जैन दर्शन को स्पष्ट करने के लिए चरितकाव्यों में आत्मा के विभिन्न रुपों पर्यायों एंव गुणों का विवेचन किया है। शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहा गया है पुण्य पाप बन्ध मोक्ष की व्यवस्था विस्तार से वर्णित की है। मोक्षमार्ग का निरुपण करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान एंव सम्यक् चरित्र के समुदाय को अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग कहा है। चरितकाव्यों में जैन दर्शन के जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, निर्जरा एंव मोक्ष इन सात तत्वों का निरुपण किया गया है।

मूलतः दो ही तत्व है जीव एंव अजीव। अनन्त चतुष्टयरुप आत्मा कषाय

एंव प्रमाद से युक्त होकर कर्मो का आस्त्रव करता है और मिथ्यात्व अविरति आदि के कारण बन्ध में होता जाता है। जैन दर्शन में इस लोक को अनादिनिधन एंव अकृत्रिम बतलाया गया है जिसकी रचना का आधार षडद्रव्य है। मनुष्य का उत्थान एंव पतन स्वयं उसके हाथ में है अर्थात् आत्मा स्वयं कर्त्ता एंव भोक्ता है वह किसी परोक्ष शक्ति पर आश्रित नहीं है। वह कर्मो का क्षय करके निर्वाण प्राप्त करता है। जैन साधक मरण एंव रोगों से भयभीत न होकर सल्लेखना विधि से प्राण त्याग करते हैं[६]।

चरितकाव्यों में जैन इतिकास लेखकों ने दान,तप, शील एंव भावना शुद्धि को विशेष महत्व दिया हैं अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एंव अपरिग्रह महाव्रतों के द्वारा त्याग–संयम एंव सदाचार का उपदेश दिया है। जैन इतिहास लेखकों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए वैदिक धर्म के कियाकाण्डीय दूषित पक्षों से जनसाधारण को अवगत कराया एंव धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की। जैनधर्म इसलिए वैज्ञानिक है कि यह वस्तु की जो स्वाभाविकता है उसे स्वयं प्राप्त कर दूसरों को प्राप्त करने का उपदेश देता है। इसे प्राप्त करने के लिए तदनुकूल चारित्रिक गुण का आचरण करना आवश्यक है[७]। तीर्थकंर महावीर के समय भारतीय संस्कृति वैदिक रीति नीति प्रधान थी[८]। धर्ममार्ग वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति के आधार पर हिंसा प्रधान यज्ञों से कलुषित था। अतएव हिंसा प्रधान यज्ञों के स्थान पर आत्मिक, मानसिक एंव शारीरिक तप प्रधान सहिष्णुता एंव अहिंसा को सर्वोपरि सिद्धान्त के रुप में प्रतिष्ठित करने एंव उसे व्यावहारिक एंव कियात्मक रुप देने के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन जैन तीर्थकरों एंव जैन साहित्यकारों द्वारा किया गया[९]। इसके लिए जैन इतिहासकारों ने अनेक रुपों में साहित्य की रचना करके अपने धर्म के सिद्धान्तों को विस्तृत एंव स्थायी रुप दिया।

त्रिशष्ठिशलाका–पुरुषों का चरित्र निरुपण एंव तत्सम्बन्धित राजवंशों का उल्लेख

जैन परम्परा में जिनेन्द्रदेव द्वारा बारह प्रकार के पुराणों के उपदेश देने की जानकारी होती हैं इन बारह प्रकार के पुराणों के उपदेश से जिनवंशों एंव राजवंशों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें अरिहन्त, चकवर्तियों, नारायण प्रतिनारायण, विधाधरों चारणों – प्रज्ञाश्रमणों एंव कुरुवंश हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश एंव नागवंश प्रमुख है[१०२]।

जिनवंश से अभिप्राय उन वंशों से है जिनमें जैन मुनियों ने जन्म लिया अर्थात् १, अरिहन्त वंश २, श्रमणों का वंश ३, प्रज्ञाश्रमणों का वंश।

राजवंशों से अभिप्राय राजवंशों से है जिनमें जैनधर्म में मान्य त्रेशठशलाका–पुरुषों ने जन्म लिया। जैन साहित्य में इन राजवशों की संख्या १२ निर्दिष्ट की गयी है। जैनाचार्यो ने इन महापुरुषों के चरित्रों के निरुपण द्वारा जैनधर्म के सिद्धान्तों एंव आचारों विचारों का विशद चित्रण प्रस्तुत किया है।

अरिहंत या तीर्थकर वंश

जैन मान्यता के अनुसार धर्म के उच्छेद होने पर तीर्थकंर जन्म लेते हैं एंव विवेक मय संयत जीवन व्यतीत कर अन्त में दीक्षा लेकर तपस्या करते हैं एंव पूर्णज्ञान होने पर मोक्ष प्राप्त करते है[११]। जैन परम्परा एंव मान्यतानुसार ऋषभदेव एंव अरिष्ट्नेमि का उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है[१२]। ये नाम जैन तीर्थकर के ही द्योतक है[१३]। ये तीर्थकंर कालान्तर से हुए एंव प्रत्येक ने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव के अनुरुप धर्मतत्व का वैज्ञानिक रुप से प्रचार किया लेकिन धर्म निरुपण की शैली एंव भाव समान थे। जैन शास्त्रों से तीर्थकंरों के शासनभेद की जानकारी होती है[१४]। अतएव जैनधर्म का प्रवाह भगवान ऋषभदेव से हुआ और बाद में वीतराग, व्रात्य, निर्ग्रन्थ एंव अर्हत् नामों से जैन धर्म प्रवाहित होता रहा। जैन धर्म में २४ तीर्थकंर हुए[१५] जिनका जैन इतिहास लेखकों ने विविध भाषाओं में चरित्र निरुपण किया।

ऋषभदेव

ऋषभदेव ने सुषमादुषमा नामक तीसरे काल में जन्म लिया। आदि तीर्थकंर आदिनाथ को वटवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। भगवान ऋषभदेव के चरित्र पर सर्वप्रथम नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानाचार्य ने सं० ११६० में प्राकृत भाषा में "आदिनाह चरियग्रन्थ"[१६] लिखा। भुवनतुंग–सूरि द्वारा लिखित ऋषभदेवचरिय भी प्राप्त होता है[१७]। हेमचन्द्राचार्य प्रणीत "त्रिशष्ठिशलाकापुरुष चरित" में भगवान ऋषभदेव के जन्म से पूर्व उनकी माता के चौदह स्वप्न से लेकर ऋषभदेव के जन्माभिषेक राज्याभिषेक, धर्मचक्र, केवलज्ञान, समवसरण, चतुर्विध संघ की स्थापना, दीक्षा लेना, चतुर्दश पूर्व एंव द्वादशांगी की रचना आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इन वर्णनों से तत्कालीन प्रथाओं एंव रीतिरिवाजों का उल्लेख किया है एंव धर्म देशना द्वारा जैन सिद्धान्तों का विवेचन किया है।

दूसरे तीर्थकंर अजित नाथ, सम्भवनाथ एंव अभिनन्दन पर भी १२ वीं शताब्दी के बाद चरितकाव्य लिखे गये। पांचवे तीर्थकंर सुमतिनाथ का चरित्र चित्रण बृहदगच्छीय सोमप्रभाचार्य ने चालुक्य राजा कुमारपाल के राज्यारोहण (सं० ११९९) के समय प्राकृत भाषा में "सुभईनाइचरिय"[१८] ग्रन्थ में किया है। सांतवे तीर्थकंर सुपार्श्वनाथ के जीवन चरित पर अनेक जैन लेखकों द्वारा प्राकृत में चरित काव्य

लिखे गये सर्वप्रथम सुमईनाहचरिय के रचयिता सोमप्रभाचार्य के गुरु भाई एंव अभयदेवसूरि के शिष्य लक्ष्मणगणि ने कुमारपाल के राज्यारोहण वर्ष सं० ११९९ में "सुपासनाहचरिय"[१९] लिखा इसमें सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन करते हुए तीर्थकंर जन्म का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ से मेरु पर्वत पर देवों द्वारा जन्माभिषेक करने, अनेक आसनों, बिबिधतपों, सम्यग्दर्शन का माहात्म्य, बारह श्रावक व्रत, उनके अतिसार आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं। जो तत्कालीन आचार व्यवहार, रीतिरिवाज परम्पराओं, राजकीय परिस्थिति एंव नैतिक जीवन को स्पष्ट करते हैं। जालिहर गच्छ के देवसूरि एंव किसी विवुधाचार्य की प्राकृत रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है[२०]।

आठंवे तीर्थकंर चन्द्रप्रभ के जीवन चरित पर संस्कृत एंव प्राकृत में अनेक चरितकाव्य लिखे गये हैं। सर्वप्रथम सिद्धसूरि के शिष्य वीरसूरि ने सं० ११३८ में प्राकृत में की "चन्दप्पहचरिय" की रचना की[२१]। जिनेश्वर–सूरि कृत चंदप्पहचरियं में ४० गाथाऐं है[२२]। देवगुप्तसूरि उपवेशंगच्छीय यशोदेव अपरनाम धनदेव ने सं० ११७६ में चन्द्रप्रभचरित लिखा[२३] एंव चतुर्थ रचना बड़गच्छीय हरिभद्रसूरिकृत ८०३१ श्लोक प्रमाण १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की गयी[२४]।

संस्कृत भाषा में "चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य[२५], सर्वप्रथम आचार्य वीरनन्दि ने ११ वीं शती के प्रारम्भ में की। काव्य से इनकी गुरुपरम्परा (वीरनन्दी के गुरु अभयनन्दि, अभयनन्दि के विवुधगुणनन्दि गुरु थे), प्राप्त होती है। ये देशीगण के आचार्य थे। इस काव्य में १८ सर्ग एंव १६६१ पद्य है इस काव्य को उदयांक माना गया है क्योंकि सभी सर्गो के अन्त में "उदय" शब्द आया है। असग कवि द्वारा रचित चन्द्रप्रभचरित भी प्राप्त होता है[२६]।

११वें तीर्थकंर श्रेयाँसनाथ पर दो प्राकृत पौराणिक काव्य उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम सं० ११७२ में वृहदगच्छीय जिनदेव के शिष्य हरिभद्र द्वारा[२७] एंव चन्द्रगच्छीय अजितसिंहसूरि के शिष्य देवभद्र द्वारा सं० १३३२ में रचना की गयी[२८]।

१५ वें तीर्थकंर धर्मनाथ के जीवन चरित पर हरिचन्द्र द्वारा लगभग सं० १२५७ में "धर्मशर्माभ्युदय" काव्य संस्कृत भाषा में लिखा गया[२९]। कथा वस्तु का आधार उत्तरपुराण का ६१ वॉ पर्व है[३०]। इस काव्य में धर्मनाथ द्वारा उल्कापातों को देखकर विरक्त होना, दीक्षा, तपस्या, केवल–ज्ञान, समवसरण में उपदेश आदि देने का वर्णन किया गया है। २१ वें सर्ग में जैनधर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन है। प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से सफल काव्य है[३१]। धर्मशर्माभ्युदय की काव्य रचना नेमिनिर्वाण एंव चन्द्रप्रभचरित से मिलती है[३२]।

१६ वें तीर्थकंर शान्तिनाथ का जीवन चरित्र सर्वप्रथम पूर्णतल्लगच्छीय देवचन्द्राचार्य द्वारा सं० ११६० में गद्यपद्य मिश्रित प्राकृत भाषा में लिखा गया[३३]। यह अप्रकाशित है। एक लधु प्राकृत रचना जिनवल्लभसूरि एंव अन्य सोमप्रभसूरि रचित

का उल्लेख प्राप्त होता है[३४]।

असग कवि ने शक सम्वत् ६१० में संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम "शान्तिनाथ चरित" की रचना की[३५] असग ने १२ सर्गो में एक लघु शान्तिपुराण की भी रचना की[३६]।

१६ वें तीर्थकंर मल्लिनाथ पर सं० ११७५ में जिनेश्वर सूरिकृत प्राकृत भाषा में "मल्लिनाहचरियं" प्राप्त होता है[३७]।

२० वें तीर्थकर मुनिसुव्रतस्वामी पर हर्षपुरीयगच्छ के श्री चन्द्रसूरि द्वारा प्राकृत में चरितकाव्य लिखा गया लेकिन समय अनिश्चित है[३८]।

२२ वें तीर्थकंर नेमिनाथ पर जिनेश्वरसूरिकृत प्राकृत रचना "नेमिनाहचरिय" (सं० ११७५) उपलब्ध है[३९]। संस्कृत भाषा में १० वीं शताब्दी में कवि वाग्भट प्रथम द्वारा "नेमिनिर्वाण महाकाव्य" लिखा गया[४०]। इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य नेमिनाथ के चरित्र द्वारा अनुरक्ति से विरक्ति की ओर जाने की शिक्षा देना है इसकी विषयवस्तु भी गुणभद्र के उत्तरपुराण से ली गयी प्रतीत होती है। "चन्द्रप्रभचरित" (११ वीं शती उत्तरार्द्ध) को नेमिनिर्वाण महाकाव्य की शैली से प्रभावित होने के कारण इसका समय १० वीं शताब्दी मान्य किया गया है लेकिन नेमिचन्द्र शास्त्री इसे चन्द्रप्रभचरित एंव धर्मशर्माभ्युदय से बाद का मानते है[४१]।

२३ वें तीर्थकंर पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र पर वि०सं० ११६८ में देवभद्राचार्य ने गद्य पद्य मिश्रित प्राकृत भाषा में "पासनाहचरिय" की रचना की[४२]। इस ग्रंथ में पार्श्वनाथ के छः पूर्वभवों का उल्लेख प्राप्त होता है जबकि अन्य में १० पूर्वभवों का। तीर्थकंर पार्श्वनाथ के रुप में जन्म लेने एंव केवल ज्ञान प्राप्ति एंव धर्मोपदेश के साथ विभिन्न तीर्थ स्थानों में विहार करने की जानकारी होती है।

संस्कृत भाषा में वादिराज ने शक सं० ६४७ (१०२५ ई) में दक्षिण के चालुक्य चकवर्ती राजा जयसिंह के राज्यकाल में राजधानी कट्टगेरी में रहते हुए "पार्श्वनाथ चरित" की रचना की[४३]। इसमें १२ सर्ग है एंव प्रत्येक सर्ग का नाम सर्ग में सन्निहित विषयवस्तु के आधार पर किया है। वादिराज जयसिंह के राजकवि थे इन्हें जयदेवमल्लवादी की उपाधि प्रदान की गयी थी।

२४ वें तीर्थकर महाकवि के जीवन चरित्र पर गद्यपद्य मिश्रित प्राकृत भाषा में देवभद्रसूरि ने वि०सं० ११३६ में "महावीरचरिय" काव्य ग्रंथ लिखा[४४]। प्रथम चार सर्गो में महावीर के पूर्वभवों एंव अन्तिम चार में उनके वर्तमान भव का वर्णन है। पूर्वभवों के उल्लेखों से चकवर्ती, नारायण एंव प्रतिनारायणों के बीच होने वाले युद्धों एंव दिग्विजयों की जानकारी होती है। महावीर के जन्म का वर्णन करने वाले सर्ग में मंत्र तन्त्र, विद्यासाधन एंव वाममार्गीय एंव कापालिकों के क्रियाकर्मकाण्डों का वर्णन करके विरोध किया गया है। इस काव्य से जैन इतिहास से सम्बन्धित गणधरों के वर्णन, चतुर्विध संध की रचना एंव सामाजिक रीतिरिवाजों की जानकारी होती है।

वृहदगच्छीय नेमिचन्द्रसूरि नें भी सं० ११४१ में "महावीरचरिय" की रचना की इसमें महावीर के २५ पूर्वभवों का वर्णन है[४५]।

प्राकृत अपभ्रंश एंव देशीभाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत में महावीर पर रचनाऐं कम उपलब्ध है। सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में असंग कवि ने "महावीर चरित" लिखा है[४६]। इसे वर्धमान चरित्र एंव सन्मतिचरित्र भी कहते हैं। "महावीर चरित" की प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल शक सं० ६१० (ई० ६८८) ज्ञात होता है। इसकी कथावस्तु गुणभद्र के उत्तरपुराण के ७४ वे पर्व से उद्धत है। इसमें भगवान महावीर के चरित्र वर्णन के साथ पूर्वभवों – मरीचि, विश्वनन्दी, त्रिपृष्ठ, अश्वग्रीव, सिंह, कपिष्ठ, हरिषेण, सूर्यप्रभ आदि की कथाऐं वर्णित है।

इन २४ तीर्थकरों का सम्मिलित रुप से चरित्र निरुपण हमें गुणभद्र कृत–उत्तरपुराण एंव बरांगचरित में प्राप्त होता है।

चक्रवर्ती बलभद्र, नारायण एंव प्रतिनारायण पर स्वतन्त्र रचनाऐं

जैन धर्म के अन्तर्गत त्रेशठशलाका पुरुषों के अन्तर्गत १२ चक्रवर्तियों– १, भरत २, सगर ३, मधवा ४, सनत्कुमार ५, शान्ति ६, कुन्थू ७, अरह ८, सुभोम ६, पद्म १०, हरिषेण ११, जयसेन १२, बलभद्र।

६ बलभद्रों – १, अचल २, विजय ३, भद्र ४, सुप्रभ ५, सुदर्शन ६, आनन्द ७, नन्दन ८, पद्म ६, राम ।

६ बासुदेव (नारायण) – १, त्रिपृष्ठ २, द्विपृष्ठ ३, स्वयम्भू ४, पुरुणोत्तम ५, पुरुषसिंह ६, पुरुषपुण्डरीक ७, दत्त ८, नारायण ६, कृष्ण।

६, प्रतिवासुदेव

को स्थान दिया गया है। इन पर स्वतन्त्र रुप से चरितकाव्य लिखे गयें हैं लेकिन वे सभी १२ वीं शताब्दी के बाद के हैं अतएव उन चरित्र काव्यों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

चक्रवतियों का प्राचीनतम उल्लेख समवायांग सूत्र में मिलता है[४७] भरत चक्रवर्ती को पहला चक्रवर्ती बतलाया गया है। इसके पश्चात् ६ बलदेव एंव ६ वासुदेव ६ प्रतिवासुदेवों का जन्म होता है। इस सम्बन्ध का सबसे प्राचीन उल्लेख आवश्यक भाष्य में प्राप्त होता है[४८]। वलदेव एंव वासुदेव हमेशा भाई के रुप में उत्पन्न होते हैं तथ वासुदेव प्रतिवासुदेवों के प्रतिस्पर्द्धी होते हैं।

बंरागचरित में इन चक्रवतियों[४६], बलभद्र[५०], वासुदेव[५१] प्रतिवासुदेवों[५२] का उल्लेख प्राप्त होता है। हेमचन्द्राचार्य के "त्रिशाष्ठिशलाका–पुरुष चरित" एंव शीलाचार्य कृत "चउप्पनमहापुरिस चरिय" से जैन धर्म के त्रेशष्ठशलाका–पुरुषों का

जीवन चरित्र प्राप्त होता है। शीलाचार्य ने ६ प्रति वासुदेवों को छोड़कर ५४ पुरुषों को उत्तमपुरुष कहा है[५३]। त्रिशष्ठिशलाकापुरुष चरित के पहले पर्व में आदितीथकर ऋषभ एंव चक्रवर्ती भरत के चरित्र का निरुपण किया गया है।

दूसरे पर्व में तीर्थकर अजितनाथ एंव चक्रवर्ती सगर का चरित्र है।

तीसरे पर्व में – संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु–सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त एंव शान्तिनाथ इन आठ तीर्थकंरों के चरित्र है।

चतुर्थ पर्व में – दो चकवतियों (मधवा एंव सनतकुमार) पॉच वासुदेवों – (त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम व पुरुष सिंह) एंव पॉच बलभदों (अचल, विजय, भद्र, सप्रभ एंव सुदर्शन) एंव पॉच तीर्थकरों – (श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त एंव धर्मनाथ के चरित्रों का वर्णन है।

पंचम पर्व में – तीर्थकर शान्तिनाथ एंव चकवर्ती शान्तिनाथ के चरित्र हैं।

छठे पर्व में – चार तीर्थकंर (कुन्थ, अरिनाथ, मल्लिनाथ एंव मुनिसुव्रत स्वामी) चार चकवतियों – (कुन्थु, अरिनाथ, सुभौम एंव पदम) दो वासुदेवों (पुरुष पुण्डरीक एंव दत्त) दो प्रतिवासुदेव – (बलि व प्रहलाद) दो बलभद्र (आनन्द एंव नन्दन) कुल १४ शलाका पुरुषों का चरित्र निरुपित किया गया है।

सांतवे पर्व में – तीर्थकंर नमि, चकवर्ती– हरिषेण एंव जय, वासुदेव–लक्ष्मण प्रतिवासुदेव–रावण एंव बलभद्र–राम इनका चरित्र वर्णन है।

आंठवें पर्व में – तीर्थकंर नेमि, वासुदेव–कृष्ण, प्रतिवासुदेव–जरासन्ध, बलभद्र–बलदाऊजी ऐसे चार शलाकापुरुषों का वर्णन है।

नवे पर्व में – तीर्थकंर पार्श्वनाथ एंव चकवर्ती ब्रह्मदत्त के चरित्र हैं।

दसवें पर्व में – तीर्थकंर महावीर का चरित्र है।

त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित से ज्ञात होता है कि बारह चकवर्तियों में से शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एंव अरिनाथ एक ही भव में चकवर्ती एंव तीर्थकंर दोनों ही हुए हैं। आठवें बलभद्र वासुदेव लक्ष्मण एंव प्रतिवासुदेव रावण का चरित्र पद्मपुराण एंव पउमचरिय में भी प्राप्त होता है एंव गुणभद्रकृत उत्तरपुराण में भी इन त्रेशठशलाका पुरुषों का चरित्र निरुपण किया गया है।

इन त्रेशठ शलाका पुरुषों से सम्बन्धित विभिन्न चरित काव्यों से ज्ञात होता है कि चौबीस तीर्थकंरों द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया गया। आदि तीर्थकंर ऋषभ को वटवृक्ष के नीचे, अभिनन्दन स्वामी ने सरलद्रुम के नीचे, सुमतिनाथ ने सच्छायप्रियंग के नीचे, पद्मप्रभु ने शालवृक्ष के नीचे चन्द्रप्रभ ने नागवृक्ष एंव पुष्पदन्त ने मालतीवृक्ष के नीचे, सुपार्श्व को शिरीष महाद्रुम के नीचे शीतलनाथ एंव श्रेयांस को प्लक्षवृक्ष के नीचे धर्मनाथ एंव शान्तिनाथ को दधिपर्ण एंव नन्दीवृक्ष के नीचे, वासुपूज्य को पाटली लता की छाया में, विमल एंव अनन्तनाथ ने जामुन एंव पीपल वृक्ष के नीचे, कुन्थुनाथ

एंव अरिहनाथ को तिलक एंव सहकार वृक्ष की छाया में, अशों वृक्ष के नीचे मल्लिनाथ जिन ने एंव चम्पकवृक्ष के नीचे मुनिसुव्रत ने केवल ज्ञान प्राप्त किया[५४]।

ये तीर्थकंर धर्म सभा (समवशरण) का आयोजन करते थे। जिसमें १२ सभाऐं होती थी उनमें तीर्थकंर के दायें ओर से लेकर – १, मुनि २, कल्पवासिनी देवियॉ ३, आर्यिकाऐं ४, ज्योतिषी देवों की देवियॉ ५, व्यन्तर देवों की देवियॉ ६, भवनवासी देवों की देवियॉ ७, भवनवासी देवी ८, व्यन्तर देव ८, ज्योतिषदेव १०, कल्पवासी देव ११, मनुष्य एंव तिर्यचं १२, गण कमशः पृथक पृथक स्थानों पर बैठते थे[५५]। समवसरण में तीर्थकरों के धर्मोपदेश की भाषा समस्त मनुष्यों की भाषा थी जो शंका एंव विरोध को समाप्त करती हुयी सत्यज्ञान को कराती थी[५६]। स्याद्वाद नीति द्वारा अन्य भेदात्मक मतों का खण्डन करती थी[५७]। उनकी भाषा अर्द्धमागधी थी[५८]। ये सभी तीर्थकंरों ने मोक्ष प्राप्त किया था।

१२ चकवर्तियों द्वारा छहों खण्डों युक्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त की गयी थी उन्होंने अहिंसा संस्कृति का प्रसार किया था।

इन त्रेषठशलाका पुरुषों के चरित्र निरुपण द्वारा जैनधर्म में मान्य कर्मविपाक, पूर्वभव, मनुष्य, तिर्यचं, देव, नरक गतियों का वर्णन, धर्मोपदेश द्वारा धर्माचरण की ओर प्रवृत्त होना आदि के उपदेश दिये गये हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से विवाह, जन्म महोत्सव एंव रीतिरिवाज, परम्पराओं का वर्णन एंव राजनैतिक दृष्टि से तत्कालीन राज्य व्यवस्था का वर्णन किया गया है।

राजवंश

जैन इतिहास लेखकों का उद्देश्य तत्कालीन राजवंशों का भी उल्लेख करना था क्योंकि इनमें त्रेशठशलाका पुरुषों ने जन्म लिया है।

इक्ष्वाकुवंश

इक्ष्वाकुवंश आदि तीर्थकंर ऋषभनाथ का मूल राजवंश था[५९]। "इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकु आदि से इसका नाम इक्ष्वाकुवंश पड़ा। इन इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के शिलालेख भी प्राप्त होते हैं। विदेशी "किश" राजवंशावली में प्राप्त इक्ष्वाकु के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस वंश के महापुरुषों ने विदेशों में राज्यस्थापना की थी। कालान्तर में इसी वंश से चन्द्र एंव सूर्य वंश की उत्पत्ति हुयीं

कुरुवंश

चकवर्ती भरत के सेनापति जयसेन इस वंश के अधीश्वर थे, वे कुरुक्षेत्र के शासक थे उनकी राजधानी हस्तिनापुर थी। शान्ति, कुन्थु एंव अरि तीर्थकंर एव

चकवर्ती इसी वंश के थे। इस वंश के मुनि विष्णुकुमार ने वात्सल्यधर्म के आदर्श की स्थापना की। कौरव एंव पाण्डव इसी वंश के थे।

हरिवंश

ह ेवंश से स्पष्ट होता है कि इस वंश की उत्पत्ति राजा हरि द्वारा तीर्थकंर मुनिसुव्रत नाथ के तीर्थकाल में हुयी। विद्याधर वंश के एक राजा के इस देश में आ जाने एंव उसके पुत्र के पराकमी होने के उल्लेख मिलते है[६०]। आदिपुराण में आदि तीर्थकंर ऋषभ द्वारा इस वंश की उत्पत्ति बतायी गयी हैं एंव राजा हरिकान्त को मूलनायक बताया गया है[६१]। बाद में इसी हरिवंश मे राजायदु हुआ एंव उसी से यादव वंश का प्रारम्भ हुआ। यादववंश में जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी।

काश्यप वंश

इस वंश को उग्रवंश भी कहते हैं। काश्यप इस उग्रवंश का मूलनायक था। तेइसवें तीर्थकंर पार्श्वनाथ उग्रवंश के थे। नागवंशीय राजाओं को इसी वंश से सम्बन्धित माना जाता है। इस नागवंश के समान ही "उइगुरस (UIHURS) जाति के लोग मध्य-एशिया में रहते थे[६२]। मध्यएशिया के लोग काश्यप को अपना पूर्वज मानते हैं[६३]।

नागवंश

सती सुलोचना के पिता अकम्पन इस नागवंश के मूलनायक थे। नागवंश ज्ञातकुल नाम से भी प्रसिद्ध रहा। अन्तिम तीर्थकंर महावीर इसी वंश के हुए थे।

विद्याधर वंश

जैनाचार्यो एंव साहित्यकारों का मत है कि आदि तीर्थकंर ऋषभ देव द्वारा अपने पुत्रों में जब राज्य का विभाजन कर दिया गया तब कच्छ–सुकच्छ के पुत्र नमि, विनमि को कोई शासनाधिकार प्राप्त नहीं हुआ उस समय ऋषभदेव से याचना करने पर नागराज धरेणन्द्र द्वारा विजयार्द्ध पर्वत जिसकी उत्तर एंव दक्षिण दो श्रेणियॉ थी का राज्य नमि व विनमि को दे दिया गया[६४]।

जमीन से दस योजन ऊपर दक्षिणी भाग में नमि ने ५० नगर एंव वैताढय के उत्तर विभाग में विनमि ने ६० नगर बसाये[६५]। नमि एंव विनमि ने वहॉ पर गॉव, कस्बे एंव नगर भी बनाये और उनका नामकरण विभिन्न जनपदों से आये लोगों के जनपद के अनुरुप किया[६६]। नमि एंव विनमि धर्म अर्थ काम एंव मोक्ष को कोई हानि न पहुंचे, इस तरह शासन करते थे[६७]। धरणेन्द्र द्वारा प्राप्त विद्यावल से शासन करते हुए जैनमन्दिर बनवाये, वे जैनधर्म के उपासक थे। धरणेन्द्र ने उनके शासन में कठोर नियम बनाये एंव रत्नों की दीवार में प्रशस्ति की तरह खुदवा दिये थे[६८]। विद्याओं

के अधिकारी होने के कारण नमि एंव विनमि के वंशज विद्याधर कहलाएँ[६९]। मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकंर के काल तक विद्याधर वंश के शासक वैताढय पर्वत तक शासन स्थापित कर चुके थे। इसी समय रथूनपुर (रत्नपुर) के राजा सहस्त्रार के पुत्र इन्द्र के पराक्रमी होने की जानकारी होती है उसने विद्याधर वंशीय राजाओं को अपने आधीन करके वहॉ देवलोक के समान ही व्यवस्था स्थापित की[७०]। उसने विद्याधरों में से ही लोकपाल, यक्ष, असुर, नाग, किन्नर इत्यादि वर्ग–नियम करके उनके नाम से विभिन्न नगर स्थापित किये। पाताल निवासी विद्याधर नाग, सुपर्ण, गरुड़ विद्युत आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। इस तरह विद्याधर वंश के अनेक भेद हो गयें।

ये विद्याधर वंशीय व्यक्ति आर्य क्षत्रिय मानव थे उन्हें साधारण मानव जाति से अधिक विद्याऐं प्राप्त थी[७१]। विद्याधर वंश की प्रत्येक जाति द्वारा प्रत्येक विद्यापति देवता की स्थापना की गयीं

जैनपुराणों में वर्णित इस विद्याधर वंश की उत्पत्ति की पुष्टि जैनेतर साहित्य एंव पुरातात्विक साक्ष्यों से भी होती है। उत्खनन में प्राप्त आयागपट्टों पर नाग, सुपर्ण, गरुड़रुप की मनुष्याकृतियॉ उत्कीर्ण हैं एंव एक आयागपट्ट पर एक नाग कन्या एंव अन्य पुरुष किसी श्रमण की भक्ति करते हुए दिखलायें गयें हैं[७२]। ये नागवंशी विद्याधरों की आकृतियॉ हैं। कहीं कहीं पर विद्याधर भी उत्कीर्ण प्राप्त होते हैं[७३]। एक शिलापट्ट पर शिवजी के ताण्डवनृत्य में बाजे बजाते हुए विद्याधरों को उत्कीर्ण किया गया है जो संगीत में उनकी पटुता एंव विद्याधरों की गन्धर्वश्रेणी को स्पष्ट करते हैं[७४]।

अभिलेखीय दृष्टि से खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख में विद्याधरों का उल्लेख प्राप्त होता है[७५]। जिससे दूसरी शताब्दी ई० में विद्याधर वंश के अस्तित्व की जानकारी होती है।

ये विद्याधर वंश के लोग नभचर थे अपने विद्यावल से आकाश में भी उड़ सकते थे। ये खेचर भी कहलाते थे[७६]। विद्याओं के भेद से इनकी १६ जातियॉ हुयी थी[७७]। अन्य राजवंशों के व्यक्ति भूमि गोचरी थें अतएंव ये विद्याधर भूमिगोचरी व्यक्तियों को अपने से हीन मानते थे एंव इसीकारण वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते थे। बाद में यह भेद समाप्त हो गया। कुछ विद्याधर क्षत्रियों के भारत आकर रहने एंव राजाओं से घुल मिल जाने के उल्लेख मिलते हैं[७८]। करकंडुचरिउ से दक्षिण विजयार्द्ध के नील एंव महानील नामक दो विद्याधर भाइयों द्वारा तेरापुर पर राज्य स्थापित करके जैनमुनि के उपदेश से प्रभावित होकर गुफा मन्दिर बनवाने के उल्लेख मिलते हैं जिसमें कि अमितवेग एंव सुवेग नामक विद्याधरों द्वारा मालावार प्रदेश के पूर्वी पर्वत से रावण के वंशजों द्वारा प्रतिष्ठापित भ०पार्श्वनाथ की मूर्ति को लाकर स्थापित किया था[७९]।

दक्षिण भारत के आठवी शताब्दी के शिलाहार वंश के राजाओं को विद्याधर नील एंव महानील का वंशज माना जाता है। क्योंकि इस वंश के राजाओं ने अपने शिलालेखों में अपने को "जीमूतवाहन विद्याधर के वंशज तथा "तथासुर के अधीश्वर" कहा है[80]। इनके वंशजों द्वारा तगरपुर पर राज्य किया गया होगा। पद्मगुप्त कृत "नवसाहसांकचरित्र" में नर्मदा के दक्षिण में एक विद्याधर राजकुल का उल्लेख मिला है[81]। कथासरित्सागर से विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन का होना स्पष्ट है[82]।

राक्षस एंव वानरवंश

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण में रावण एंव हनुमान को राक्षस एंव वानरवंश के नररत्न माने गये हैं। रावण आठवॉ प्रतिवासुदेव था जो लक्ष्मण वासुदेव का विरोधी था। पद्मपुराण से स्पष्ट होता है कि विद्याधर वंश से ही राक्षस एंव वानरवंश की उत्पत्ति हुयी थी। दूसरे तीर्थकर अजितनाथ के तीर्थकाल में विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के चकवालनगर के राजापूर्णधन को विहायोतिलक नगर के राजा सहस्त्रनयन ने सम्राट सागर की सहायता से हरा दिया था। समवसरण में पूर्णधन के पुत्र मेधवाहन द्वारा शरण जाने पर तीर्थकंर अजितनाथ के उसे लवण समुद्र के राक्षसद्वीप का राज्य दे दिया। मेधवाहन के वंश ने बहुत समय तक उस राक्षस द्वीप पर शासन किया इसी वंश में एक राक्षस नामक पराक्रमी राजा हुआ और उसी के नाम से इस वंश का नाम राक्षस वंश हो गया। इस राक्षस राजा के पुत्र कीर्तिधवल का मेधपुर के विद्याधर नरेश श्री कंठ से वैवाहिक सम्बन्ध था। उसकी मृत्यु के पश्चात् कीर्तिधवल को लंका के उत्तरभाग तीन सौ योजन दूर समुद्र के मध्य वानरद्वीप का शासनाधिकारी बनाया गया। इस वानरद्वीप में वनमानुष निवास करते थे। श्री कंठ ने अपने राज्यकाल में किहकुदपर्वत पर किंहकूद नगर स्थापित किया। उसके वंश में अमरप्रभ राजा ने अपनी ध्वजा का चिन्ह रखना प्रारम्भ किया और यहीं से यह वानरवंशी प्रसिद्ध हुए। ये राक्षस एंव वानरवंश के व्यक्ति अहिंसाधर्म के अनुयायी एंव तीर्थकंरों में श्रद्धा रखते थे।

हिन्दू धर्म में मान्य तथ्यों का जैनीकरण करना

पौराणिक परम्परा में धर्म प्रचार हेतू कथाओं और आख्यानों को महत्वपूर्ण प्रचलन था परिणामस्वरुप जैन इतिहास लेखकों ने तत्कालीन समय में प्रचलित धार्मिक लोक मान्यताओं की उपेक्षा नहीं की और उनके जैनीकरण की प्रक्रिया अपनायी। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत राम–लक्ष्मण तथा कृष्ण एंव बलराम को अवतार पुरुष माना जाता है। जिनके चरित्ररुप में रामायण एंव महाभारत ग्रन्थों को लिखा गया। प्रथम शताब्दी ई०पू० में सर्वप्रथम बाल्मीकि द्वारा रामायण की रचना की गयी

जिसमें राम एंव लक्ष्मण को ईश्वर का अवतार एंव रावण को राक्षसवंश का बतलाया गया है। जैन इतिहास लेखकों ने इनकी गणना त्रिशष्ठिशलाका–पुरुषों में करके इन्हें उच्च स्थान प्रदान किया है ये कमशः बलदेव, वासुदेव एंव प्रतिवासुदेव कहे गये हैं। विमलसूरि द्वारा बाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर पउमचरित की रचना जैनदृष्टिकोण से की गयी है जो जैन इतिहास की उत्कृष्ट विशेषता है। जैनाचार्यों एंव साहित्यकारों द्वारा हिन्दू धर्म के अन्तर्गत परम्परागत चले आने वाले अलौकिक प्रसंगों को मानवी एंव बुद्धिसंगत बनाने के प्रयत्न किये गये एंव जैनीकरण की प्रकिया अपनायी गयी।

जैनागमों के अनुसार राम आठवें बलदेव एंव लक्ष्मण आठवें वासुदेव एंव रावण को प्रतिवासुदेव माना गया है। हिन्दू ग्रन्थों में रावण को राक्षस रुप में चित्रित किया गया है वह असत् तामस प्रवृत्तियों का प्रतीक है वह अधार्मिक था क्योंकि वे वैदिककालीन साधुओं का विरोधी था। जैन परम्परा में रावण का यह रुप स्वीकृत नहीं करके उसे उदात्त रुप में चित्रित किया गया है। उसे प्रतिवासुदेव का पद दिया गया है वह जिनका भक्त, धार्मिक एंव व्रती था। सीता हरण के पश्चात् भी उसका चरित्र उपेक्षित दृष्टि का पात्र नही। रावण को दशमुखी राक्षस न मानकर उसे विद्याधर वंशी माना है। स्वयम्भू ने रावण के दशमुख कहे जाने की व्याख्या बहुत सुन्दर ढंग से की है उसके स्वाभाविक एक मुख के अतिरिक्त गले के हार के नौ मणियों में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे दशानन कहा गया है। रावण का व्रत था कि "वह किसी स्त्री को राजी किये बिना वह कभी उसे अपने उपभोग का साधन नहीं बनायेगाा" इस तरह के उल्लेखों से उसे राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है एंव उच्चता एंव सम्मानका स्थान दिया गया है।

तुलसीकृत रामचरितमानस एंव भवभूति ने सीता को देवी रुप दिया है वहॉ स्वयम्भू उसे मानवी रुप देते हैं। अग्नि परीक्षा हो जाने पर भी जिस सीता के सम्बन्ध में लोक धारणा निःशंक नहीं हो सकी उस प्रसंग को जैनरामायण में सीता द्वारा रावण से प्रेम करने के लिए किसी भी प्रकार राजी न होने एंव रावण को राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाकर सीता के अक्षुण्ण सतीत्व का प्रमाण उपस्थित किया गया है।

जहॉ कैकेयी, उर्मिला, सीता, यशोधरा आदि का वर्णन किया गया है वहाँ हनुमत्जननी अंजना का चरित्र उपेक्षित रहा है। ब्राह्मण पुराणों में जो चरित्र वित्रण उपेक्षित किया गया है वह श्रद्धा से कहीं अधिक उपेक्षा भाव वितृष्णा की अधिकारी है। जैन लेखकों ने पति परित्यक्ता अंजना के विरह का वर्णन करके उसके प्रति श्रद्धा एंव उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया है कैकेयी को भी ईर्ष्या जैसी दुर्भावना से बचाया गया है।

रामायण में हनुमान एंव सुग्रीव को वानर वंशीय बतलाया गया है। इसके साथ ही वानर को पशु विशेष माना गया है। जैन विद्वानों का मत है कि हनुमान जैसे विद्वान जो व्याकरण की जरा भी त्रुटि नहीं करते वे वन्यपशु कैसे हो सकतें हैं। जैन कवि के अनुसार वानर सभ्य, संस्कृत एंव शक्तिशाली थे उन्होंने हनुमान सुग्रीव रावण आदि को विद्याधर नामक जातिविशेष के रुप में चित्रित किया है। जिनका ध्वज चिन्ह वानर होने के कारण ही उन्हें वानर विशेष संज्ञा से सम्बोधित किया गया।

ब्राह्मण संस्कृति ने वानर रुप देते हुए देवता के रुप में प्रतिष्ठित करके भी हनुमान के जीवन को आधार मानकर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। जैन कवियों ने हनुमान के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आधार मानकर ग्रन्थ रचना करके अपनी श्रद्धा व्यक्त की है जिसमें हनुमान के तेजोमय बालरुप का वर्णन प्राप्त होता है[८३]।

जैन साहित्य में हनुमान एक मानव रुप में चित्रित किये गये हैं वे एक शूरवीर सामन्त हैं वे मध्यकालीन सामन्तों की भांति ही एक से अधिक स्त्रियों के पति हैं। उनके रुप, सौन्दर्य एंव पराक्रम से अभिभूत हो आकर्षित होने वाली को पत्नी रुप में स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति न थी। बाल्मीकि रामायण की लंकिनी को जैन साहित्यकारों ने जैन संस्कृतीकरण में लंकासुन्दरी से हनुमान का विवाह कराकर अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि की है। विदेशों में भारतीय संस्कृति के पहुॅचने के साथ ही हनुमान का जैन रुप भी प्रसारित हुआ है। सेठ गोविन्ददास का मत है कि दक्षिणीपूर्वी एशिया में कुछ ऐसी मूर्तियॉ प्राप्त हैं जिनमें हनुमान सहस्त्र स्त्रियों के पति रुप में प्रदर्शित[८४] हैं।

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत यक्षों एंव नागों की पूजा होती थी एंव इनके मन्दिर भी बनाये जाते थे। इनके उपासकों को भारतीय इतिहास वेत्ताओं द्वारा अनार्य कहा गया है। लेकिन जैन इतिहास लेखकों ने अपने ग्रन्थों में प्रमुख यक्ष नागादि देवताओं को अपने तीर्थकंरों के रक्षक रुप से स्वीकार कर, उन्हें अपने देवालयों में स्थान दिया है।

राम विषयक ग्रन्थ को लिखने का मूल उद्देश्य प्रचलित रामकथा के ब्राह्मण रुप के समान अपने सम्प्रदाय के लोगों के लिए रामकथा का जैन रुप प्रस्तुत करना था। योग वशिष्ठ रामायण में राम जिनेन्द्र की भांति शान्त स्वभाव के वर्णित किये गये हैं[८५]। बाल्मीकि रामायण में भी राम के पिता दशरथ श्रमणों का अतिथि रुप में सत्कार करते हैं। २० वें तीर्थकंर मुनिसुव्रतनाथ राम के समकालीन कहे जाते हैं[८६]। जैन इतिहास लेखकों ने राम एंव रावण दोनों के प्रति पूज्य भाव रखा है रावण, कुम्भकर्ण सुग्रीव, हनुमानादि राक्षसों एंव वानरों दैत्यों एंव पशुओं के रुप में चित्रित न करके

सुसंस्कृत मानव जाति के रुप में दिखाया है। इस तरह दो विरोधी सिद्धान्तों के प्रति समान भाव रखकर हिन्दू तथ्यों का जैनीकरण करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

जैनधर्म के आश्रयदाताओं से सम्बन्धित घटनाओं कियाकलापों का वर्णन

जैनाचार्यों एंव जैनधर्म को राजकीय एंव सामान्य वर्ग के व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त सहायता प्राप्त होती थी। जैनाचार्यधनादि भौतिक कामनाओं से परे थे राजकोष से प्राप्त धन द्वारा साहित्य निर्माण करना उनका उद्देश्य था। इसी कारण जैनाचार्यों एंव इतिहास लेखकों ने राजाओं एंव कतिपय अन्यान्य व्यक्तियों के धर्मानुकूल जीवन से प्रभावित होकर उन्हें अपने काव्यों का नायक बनाया एंव उनकी प्रशस्तियॉ लिखकर ग्रन्थ प्रणयन किये। इस दृष्टि से चरितकाव्य अपना विशेष स्थान रखते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने चालुक्य राजा कुमारपाल के वंश की कीर्तिगाथा में "द्वयाश्रय काव्य" लिखा जिसमें गुजरात के चालुक्य राजवंश की अणिहिलपुर में उत्पत्ति से लेकर सम्पूर्ण राज्यवंश के राज्यकाल तक का वर्णन है। इस चालुक्य वंश के राजाओं से अन्य राजाओं भोज, चेदिराज, अर्णोराज के युद्ध का वर्णन, धार्मिक कार्यो–मन्दिर निर्माण आदि एंव कुमारपाल संवत् चलाने का वर्णन है। विशेषकर चालुक्य वंश नृप सिद्धराज जयसिंह एंव कुमारपाल का वर्णन करना है। जयसिंह द्वारा देवी चमत्कारों से पूर्ण विजयों धार्मिक कार्यों एंव स्वर्गप्राप्ति का एंव इसी तरह कुमारपाल द्वारा कौकणाधीश–मल्लिकार्जुन पर विजयप्राप्ति से दक्षिणाधीश होने, पश्चिम दिशा के अनेक नृपों द्वारा अधीनता स्वीकार करने, काशीमगध, गोड़ काव्यकुन्ज दशार्ण वेदि, जंगल देश–आदि राजाओं द्वारा अधीनता ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

यशःपाल कवि ने कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के राज्य काल में (सन् ११७४–७७) "मोहराज पराजय"[८७] नाटक की रचना की। जिससे कुमारपाल के जैनाचार्य हेमचन्द्र के जैनधर्मोपदेश से प्रभावित होने, प्राणि हिंसा को रोकने, अदत्तमृतधनापहरण त्याग करने आदि की जानकारी होती है। कुमारपाल द्वारा जैनधर्म को राजकीय प्रश्रय दिया गया इसके साथ ही कुमारपाल द्वारा थारापद्र (आधुनिक थराद, बनासकोठा) में कुमार विहार बनवाने एंव जैन तीर्थकर भगवान महावीर के रथयात्रा महोत्सव मनाने की जानकारी होती है। इस नाटक की विशेषता है कि प्राणीमात्र के हृदय के सभी भावों को पात्ररुप में चित्रित किया गया है। यशःपाल कवि अजयपाल राजा का मन्त्री या प्रान्तीय शासक रहा होगा[८८]।

अभिलेखों से भी राजा भीमदेव प्रथम द्वारा सन् १०६६ में वायड अधिष्ठान की वसतिका के लिए भूमिदान देने[९] एंव भीमदेव द्वितीय द्वारा बेरावल के चन्द्रप्रभमन्दिर

के जीर्णोद्वार कराने एंव नन्दिसंध के अ. .. - .. .. .ते होती है[६]।

आचार्य महासेन ने भरत चक्रवर्ती के सेनापति एंव हस्तिनापुर के नरेश जयकुमार एंव उनकी रानी सुलोचना के शील से प्रभावित होकर उन्हें अपने कथा ग्रन्थ का आधार बनाकर "जयकुमार सुलोचनाकथा"[६०] ग्रन्थ की रचना की।

२२ वें तीर्थकंर नेमिनाथ एंव श्रीकृष्ण के समकालीन राजा बंराग के धार्मिक जीवन से प्रभावित होकर जयसिंह नन्दी ने "बरागचरित" लिखा[६१]। जैनाचार्य का मुख्य उद्देश्य धर्मअर्थ काममोक्ष चतुर्वर्ग समन्वित मानव के पुरुषार्थ को जनसाधारण के लिए उपयोगी बताना है[६२]। बंराग को जैन मुनि द्वारा जीव एंव कर्म सम्बन्ध, सुख दुःख का कारण, सम्यकत्व मिथ्यात्व, महाव्रत गुप्ति, समिति आदि जैन धर्म के सिद्धान्तों पर दिये गये उपदेशों का निरुपण किया गया है।

उज्जैन नरेश समरादित्य एंव उन्हें अग्नि में भस्म करने में तत्पर गिरिसेन चाण्डाल इन दो आत्माओं के नौ मानव भवों के वर्णन से कर्म सिद्धान्त का प्ररुपण कर हरिभद्रसूरि ने वि०सं० ७५७ में "समराइच्च कहा" की रचना की[६३]। मणिपति नृप द्वारा राज्यकार्य छोड़ देने एंव मुनि जीवन धारण करने के पश्चात् कुंचिक सेठ व उनके बीच होने वाले संवाद द्वारा जैन धर्म के आचार एंव सिद्धान्तों को अत्याधिक उच्च बताया गया है। मणिपति राजा के चरित्र पर प्राकृत व संस्कृत में अनेक रचनाऐं लिखी गयी[६४]।

चालुक्य वंशी राजा जयसिंह के राज्यकाल में वादिराज ने यशोधर चरित एंव पार्श्वनाथ चरित की रचना की। इससे जयसिंह के शासनकाल एंव धार्मिक कार्यो की जानकारी होती है[६५]।

परमार राजवंश द्वारा जैनधर्म को प्रश्रय दिया गया था। राजा भोज के पिता सिन्धुराज के महामात्य जैनाचार्य महासेनसूरि के शिष्य थे। महासेन सूरि ने सिन्धुराज के शासन काल ९९५–९९८ ई० में "प्रद्मुन्नचरित काव्य"[६६] की रचना की इससे मुज्जं और सिन्धुराज द्वारा जैनधर्म में श्रद्धा रखने एंव जैनाचार्यो को प्रश्रय देने की जानकारी होती है। परमार नरेश मुज्जं एंव भोज द्वारा धनपाल कवि को भी आश्रय दिया गया उसने राजा भोज के जिनागमोक्त कथा श्रवण से उत्पन्न कुतूहल को दूर करने के लिए "तिलकमंजरी की रचना की[६७]। इसमें कोशलनरेश मेघवाहन के पुत्र हरिवाहन समरकेतु का चरित्र वर्णन है। तिलक मंजरी से धारा के परमार राजाओं की बैरिसिंह से लेकर भोज तक वंशावली प्राप्त होती है[६८]। भोज द्वारा धनपाल को "सरस्वती पद" से विभूषित किया गया था।

राष्ट्रकूट राज्यवंश द्वारा भी आश्रय प्राप्त था। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण के सामन्त चालुक्य अरिकेशरी तृतीय के राज्यकाल में (९५९ सन्) सोम देव सूरि ने

"यशस्तिलक चम्पू" की रचना की[९९]। इसकी कथावस्तु जैन पुराणों एंव जैन कवियों के आश्रयभूत यशोधर नृप की कथा से सम्बन्धित है। इसका वर्णन यथार्थ रुप में किया गया है। इसका उद्देश्य जनसाधारण तक नैतिक एंव धार्मिक उपदेशों को प्रचारित करना था। तत्कालीन राजतंत्र व्यवस्था का चित्रण किया गया है।

जैनधर्मानुयायी व्यक्तियों के जीवन से प्रभावित होकर भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। महासती भुवन सुन्दरी के सतीत्व से प्रभावित होकर विजयसिंह ने सं० ६७५ में भुवनसुन्दरी कथा की रचना की[१००]। जिनेश्वरसूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि ने मकरकेतु एंव सुरसुन्दरी के प्रेमाख्यान पर "सुरसुन्दरी चरिय"[१०१] की रचना सं० १०९५ में की। नाइलकुल के गुणपाल मुनि (९–१० वीं शताब्दी) ने ऋषि अवस्था में हरिषेण एंव प्रीतिमती से उत्पन्न पुत्री ऋषिदत्ता के शील से प्रभावित होकर प्राकृत भाषा में "श्रृषिदत्ता चरित" की रचना की जिसके चरित्र वर्णन को लेकर संस्कृत एंव प्राकृत में अनेक चरित्र ग्रन्थ लिखे गये हैं[१०२]। जैनकथाकारों ने शीलवती एंव पतिपरायण स्त्रियों के चरित्र वर्णन के लिए अनेक कथा ग्रन्थों का निरुपण किया है[१०३]।

जैनाचार्यो, धार्मिक नरेशों, राजकुमारों, गृहस्थों एंव धार्मिक स्त्रियों के जीवन से प्रभावित होकर इतिहास लेखकों ने ग्रन्थों में उनके कियाकलापों का वर्णन किया है।

तत्कालीन समाज एंव संस्कृति का वर्णन

छठी शताब्दी ई० के पूर्वयुगीन साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन इतिहास लेखकों का मूल उद्देश्य जैनधर्म के सिद्धान्तों का निरुपण करना था लेकिन छठी शताब्दी ई० के उत्तरयुगीन साहित्यकारों ने धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों के निरुपण के साथ ही तत्कालीन समाज एंव संस्कृति के विविधक्षों का भी वर्णन किया है। वर्गव्यवस्था कर्मणा थी। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार थे। वीरचन्द्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्रगणि के तरंगलोला कथा ग्रन्थ से स्त्रियों द्वारा साध्वी संध में प्रवेश मिलने एंव संध के नेतृत्व करने की जानकारी होती है[१०४]। पूर्व भव के पति के प्रति अगाधप्रेम पतिव्रता की ओर संकेत करता है। गन्धर्व विवाह के पश्चात् विधिवत् विवाह करने की परम्परा समाज में गंधर्व विवाह के निम्न स्थान होने के संकेत प्राप्त होते हैं। जैन इतिहासकारों ने तत्कालीन समाज में प्रचलित वेश्यावृत्ति एंव पतिपरायणता दो विरोधी पक्षों का चित्रण करने के लिए "नर्मदासुन्दरी कथा" की रंचना की। नर्मदासुन्दरी प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर भी सतीत्व पर अडिग रहती है[१०५]। महासेन ने तत्कालीन समाज में प्रचलित स्वयंवर विवाह एंव उसमें होने वाले संघर्षो का उल्लेख जयकुमार सुलोचना कथा में किया हैं[१०६]। समाज

में स्त्री अपहरण एंव वेश्यावृत्ति आदि प्रथाऐं प्रचलित थी। जैनाचार्यो ने इन कुरीतियों से बचाने के लिए कथा ग्रन्थ एंव चरितकाव्य लिखे[१०७]।

जैन पुराणों एंव चरितकाव्यों में इतिहास लेखकों ने तीर्थकंर एंव जैनधर्मानुयायी के माता पिता का वैभव, गर्भ, जन्म, क्रीड़ा शिक्षा, दीक्षा आदि का वर्णन करके तत्कालीन समाज का चित्रण किया है। जैन इतिहास लेखकों ने अपने साहित्य को लोकरुचि के अनुकूल बनाने के लिए उसे सामाजिक जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया है। जैन साहित्य की उपदेशात्मकता गृहस्थ जीवन के अधिक निकट हैं। समयानुकूल श्रृंगारिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। सम्पूर्ण प्राणीमात्र का कल्याण करना ही जैनधर्म है। जीवात्मा का लक्षण सामाजिक माना गया है वैयक्तिक नहीं। जैन संस्कृति जितना आध्यात्मिक साधना पर बल देता है उतना ही राष्ट्र नगर एंव ग्राम के प्रति अपने कर्त्तव्यों को धर्म के रुप में वर्णन करता है।

विशेषताऐं

कालनिर्देश

जैन इतिहास लेखकों की एक विशेषता तिथियुक्त साहित्य का निर्माण करना है । जैन साहित्य की सभी विधाओं पुराण, चरितकाव्य कथासाहित्य एंव अभिलेखीय साहित्य में उनका रचनाकाल, एंव सम्बन्धित विषय की सभी घटनाओं का कालक्रमानुसार वर्णन पाया जाता है। भारतवर्ष का तिथिक्रम इतिहास जानने में उत्कीर्ण लेखों से अत्याधिक सहायता प्राप्त होती है। अभिलेखों में प्राप्त काल–निर्देश राज्य करने वाले राजा का, राजा द्वारा दान, मन्दिर, निर्माण एंव धार्मिक स्थानों की यात्राऐं एंव राजाओं द्वारा की गयी विजयों, युद्धों एंव महत्वपूर्ण उपलब्धियों से सम्बधित रहता है। लेखों में राजा के राज्यकाल के वर्षो का उल्लेख प्राप्त होता है। चालुक्य राजा विक्रमादित्य के राज्यकाल के विभिन्न लेखों में विभिन्न वर्षो में किये गये धार्मिक कार्यो का उल्लेख प्राप्त हैं। कदम्बवंशीय राजा रविवर्मा के उन राज्यवर्षो की जानकारी होती है जिसमें उसके द्वारा दानादि कार्य किये गये। लेखों में यह काल निर्देश मास, वार, तिथि, पक्ष एंव सम्वतों के उल्लेखों से भी प्राप्त होता है। विशेषकर दान के उल्लेखों में मास, वार, शुक्ल कृष्णपक्ष, संक्रान्ति–ग्रहण आदि का उल्लेख किया जाता था। विभिन्न राजवंशों के वर्णन में सम्ब्तों का प्रयोग पाया जाता है। लेखों में उसका उत्कीर्ण समय सम्वतों में दिया होता है। जिससे तत्कालीन समय में प्रचलित सम्व्तों की जानकारी होती है।

साहित्यिक एंव अभिलेखीय साहित्य से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम जैन ग्रन्थों में महावीर निर्वाण सम्वत् का उल्लेख प्राप्त होता है। साहित्य में महावीर सम्वत्

का प्राचीनतम उपलब्ध प्रयोग विमलसूरि के पउमचरिउ से प्राप्त होता है इसकी रचनातिथि महावीर सम्वत् ५३० (अर्थात सन् ई०वी०३) दी है[११०]। शिलालेखों में महावीर सम्वत् का प्राचीनतम ज्ञात प्रयोग महावीर निर्वाण सं० ८४ (ईसापूर्प ४४३) के बड़ली अभिलेखों में प्राप्त होता है। जिससे महावीर निर्वाण सम्वत् ५२७ ई० पू० के ४७० वर्ष बाद विक्रम सम्वत् एवं ६०५ वर्ष बाद शक सम्वत प्रचलित हुआ जो क्रमशः ५७ ई० पू० (विक्रमसम्वत्) एवं ७८ ई० (शकसम्वत्) निश्चित होता है।[११२] इन दोनों के मध्य १३५ वर्ष का अन्तराल है। जैन लेखों में शक सम्वत् एवं विक्रम सम्वत् का साथ–साथ उल्लेख किया गया है। गुर्जर प्रतिहार नरेश भोजदेव के देवगढ़ स्थित ८६२ ई० के जैन सतम्भलेख में उक्त मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा का समय वि० सं० ६१६ एवं शक सम्वत् ७८४ साथ साथ दिया है।[११३] आठवीं शती ई० पू० में स्वामी वीरसेन ने अपनी धवलाटीका विक्रम सम्वत् ८३८ (७८० ई०) में समाप्त की और उनका उल्लेख जिनसेन–सूरि पुन्नाट ने अपने हरिवंशपुराण में किया है जिसकी समाप्ति का काल स्वयं उन्होंने शक सं० ७०५ (ई० ७८३) दिया है।[११४] जैन साहित्य में प्राप्त कालनिर्देश कालक्रमानुसार इतिहास निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

जनसाधारण की भाषा

जनसाधारण को अपने धर्म के आचारों विचारों एवं सिद्धांतों से अवगत करना उनकी अपनी विशेषता है। अपने उपदेशों को सरल एवं सहजगम्य बनाने के लिए जैनाचार्यों ने न केवल संस्कृत में ही रचना की बल्कि प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी की। प्राकृत उनके धर्मग्रन्थों की भाषा थी, सामान्य वर्ग तक पहुॅचने के लिए उन्होंने अर्द्धमागधी एंव अप्रभ्रंश एंव राजकीय, व सम्भ्रान्तवर्ग तक पहुॅचने के लिए उन्होंने संस्कृत को अपनाया। साहित्य निर्माण के क्षेत्र में उनका ध्यान लोकरुचि की ओर था इसी कारण समयानुकूल प्राकृत संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, गुजराती राजस्थानी एंव मराठी भाषाओं में रचनाऐं की। जैनाचार्य जनसाधारण की भाषा में उपदेश करते थें। जैन साहित्य से तीर्थकंरों द्वारा समवसशरण में जनसाधारण की भाषा में उपदेश देने की जानकारी होती है। जैन भिक्षु एंव आचार्य जहॉ जहॉ भी गये वहॉ वहॉ की भाषाओं को चाहे वे आर्य परिवार को हों चाहे द्रबिड़ परिवार के हों सभी को अपने उपदेश का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन जनपदीय भाषाओं के मूल रुप अभी तक सुरक्षित है।

धार्मिक उपाख्यानों के माध्यम से घटनाओं का वर्णन

जैन इतिहास लेखकों ने घटनाओं को धार्मिक उपाख्यानों के माध्यम से प्रकट किया है। स्वधर्म को व्यापक एंव स्थायी रुप देना उनका मुख्य उद्देश्य था।

जैन इतिहास लेखकों ने जन–साधारण में धार्मिक चेतना एंव श्रद्धाभक्ति उत्पन्न करने के लिए कथाओं की रचना की। तीर्थकंरों की स्तुति, तीर्थकंरों एंव मुनियों का नगर के बाहर उद्यान आदि में आना, एंव राजा द्वारा तत्कालोचित वेष में आना एंव उनका आदर सत्कार करना, उपदेश एंव संवाद के द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करना एंव तीर्थकंरों को सर्वोच्च स्थान देना, आदि का वर्णन करके धर्म, अर्थ काम एंव मोक्ष के फल को स्पष्ट करना जैन इतिहास लेखकों की विशेषता है। काम, मोह, अहंकार, अज्ञान आदि रागादि भावनात्मक तत्वों को पात्रों के रुप में वर्णित करना इनकी विशेषता है। जैनधर्म एंव संस्कृति के बने अनेक तीर्थ एंव मन्दिर भी जैन इतिहास की अपनी विशिष्टता है। जैनाचार्यो एंव धर्मगुरुओं की मन्दिर निर्माण की प्रदत्त प्रेरणा एंव जैन श्राविका श्रावक आदि की धार्मिक, श्रद्धा एंव भक्ति भावना का कला में विशेष स्थान है। जैनमन्दिर आध्यात्मिक स्थान होने के साथ ही कलाकारों द्वारा मानसिक भावों द्वारा उसे अलंकृत करके वीतरागत्व की ओर उन्मुख करना अपनी विशेषता है।

जैन इतिहास की विशेषता है कि जैन इतिहास किसी समुदाय या धर्मविशेष की संकुचित सीमा में बंधा हुआ नहीं है और न ही उसका क्षेत्र किसी एक देश या युग तक ही सीमित है। उसका सम्बन्ध प्राणीमात्र की भावना से हैं वह अतीत वर्तमान व भविष्य को अपने में समाये हैं। जैनों का नमस्कार मंत्र किसी व्यक्तिगत स्तुति की ओर संकेत नहीं करता उसमें पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। वे चाहे किसी भी जाति धर्म मत से सम्बन्धिंत हो। जैन इतिहास लेखकों की यह समन्वय भावना विचार एंव आचार दोनों ही क्षेत्रों में प्राप्त होती है। विचार समन्वय की दिशा में अनेकान्तवाद महत्वपूर्ण देन है।

आचार समन्वय की दिशा में जैन दर्शन में मुनिधर्म एंव गृहस्थ धर्म का पृथक् पृथक् निरुपण करके प्रवृत्ति एंव निवृत्ति में सामन्जस्य किया गया है। मुनिधर्म में महाव्रतों एंव गृहस्थधर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था की गयी है।

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से भी जैन इतिहास लेखकों ने समन्वय वादी दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके द्वारा रचित साहित्य एंव विषय सार्वभौमिक एंव विश्वव्यापी हैं। कथासाहित्य से ज्ञात होता है कि बहुत सी जैनकथाऐं भारत के विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी प्राप्त होती हैं। विभिन्न तीर्थकंरों की जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थल अलग अलग रहे हैं। भगवान महावीर विदेह उत्तर–विहार में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध दक्षिण विहार रहा। तेइसवें तीर्थकंर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ पर उनका निर्वाणस्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थकंर ऋषभ अयोध्या में जन्मे पर उनकी तपोभूमि रही कैलाशपर्वत और भगवान अरिष्ट–नेमि का कर्म व धर्मक्षेत्र रहा

गुजरात। जैनों के प्राप्त लेख इस समन्वयवादी एंव सार्वभौमिक रुप के प्रतीक हैं।

जैन इतिहास लेखकों द्वारा इस समन्वयवादी रुप को साहित्य सृजन में भी अपनाया गया है। उन्होंने प्रचलित धार्मिक लोक मान्यताओं एंव विशिष्ट कथानकों, रुढ़ियों की उपेक्षा नहीं की है। हिन्दू धर्म के लोकप्रिय चरित्र नायकों राम एंव कृष्ण को जैन साहित्य में त्रेशठशलाका पुरुषों में सम्मान का स्थान दिया गया है। इन्हें उन्होंने अपने ढंग से वर्णन किया है। वैदिक परम्परा में जो पात्र वीभत्स एंव घृणित दृष्टि से वर्णित किये गये हैं जैन धर्म के अर्न्तगत उचित सम्मान के अधिकारी बनें हैं। इस तरह जैन साहित्यकारों द्वारा अन्य धर्मो की भावनाओं को ठेस न पहुँचाना उनकी एक अपूर्व विशेषता है।

जैनेतर साहित्य का सृजन एंव उसे संरक्षण प्रदान करना जैन इतिहास लेखकों की विशेषता है। जैन इतिहास लेखकों द्वारा जैनेतर विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण के साथ साथ उन पर विस्तृत प्रशंसात्मक टीकाऐं भी लिखी गयी हैं। जैन ग्रन्थ भंडारों में कई प्राचीन महत्वपूर्ण जैनेतर ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। वीसलदेव रासों की लगभग समस्त प्रतियॉं जैनकवियों द्वारा लिखित उपलब्ध होती है। अमरचन्द्रसूरि ने वायडनिवासी ब्राह्मणों की प्रार्थना पर "बालभारत" की तथा नयचन्द्रसूरि ने "हम्मीरमहाकाव्य की रचना की। माणिकचन्द्र ने काव्य प्रकाश पर संकेत टीका लिखी। अन्य जैनेतर ग्रन्थों में पंचतन्त्र, बेतालपंचविंगशतिका, विक्रमचरित, पंचदण्डछत्रप्रबन्ध आदि का निर्माण किया। अभिलेखों में भी चित्तोड़ के मोकन जी मन्दिर के लिए दिगम्बराचार्य रामकीर्ति से (वि०स० १२०७) प्रशस्ति लिखायी। अधिकांशतः जैन अभिलेख जैनाचार्यो द्वारा लिखे गये, वे उनके धार्मिक स्थानों एंव मन्दिरों में पाये जाते हैं लेकिन दूसरे धर्म के प्रति सहिष्णु होने के कारण ये जैनेतर मन्दिरों में प्राप्त होते हैं। उन्होंने अपने धर्म के प्रति श्रद्धा से ही नहीं बल्कि इतिहास निर्माण की दृष्टि से ग्रन्थ लिखे।

भगवान महावीर ने जिस समतामूलक समाज रचना की वह सर्व धर्मसमभाव, सर्वजाति समभाव एंव सर्वजीवसमभाव पर आधारित है। जैन इतिहास लेखकों ने इसमें उच्चता एंव निम्नता का आधार आचरण बताया है। पुरुष के समान स्त्री को सामाजिक अधिकार ही नहीं दिये वरन् आध्यात्मिक अधिकार भी दिये हैं। स्वयं महावीर ने दासी वन्दना से भिक्षा ग्रहण करने के साथ ही उसे दीक्षित कर छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व सोंपा। शूद्रकुलोत्पन्न हरिकेशी एंव मेतार्य को अपने भिक्षुसंध में सम्मिलित कर सामाजिक एंव आध्यात्मिक समानता को स्थापित किया है। इस तरह मानव से भी आगे बढ़कर प्राणीमात्र के लिए साधना का मार्ग प्रस्तुत करना जैनाचार्यो एंव जैन इतिहासज्ञों की विशेषता है। जैन इतिहास लेखकों ने प्रायः अपने सभी साहित्य में जैनधर्म के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। अपरिग्रह व्रत का

विस्तृत उल्लेख कर आर्थिक विषमता के समाज में आर्थिक समन्वय का रुप अपनाया गया है।

जैन इतिहास लेखकों ने अपने साहित्य के माध्यम से शान्तिमय जीवन पर अधिक बल दिया है लेकिन उन्होंने आवश्यकतानूसार श्रृंगार, वीर, रौद्र आदि का वर्णन करने पर भी शान्तरस को प्रधानता दी है। इसका कारण जीवन की अनेक उपलब्धियों को प्राप्त करने पर भी किसी जैन तीर्थकंर अथवा मुनि के उपदेश श्रवण द्वारा जीवन एंव संसार से विरक्त होना आदि को स्पष्ट करके निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान देता है।

जैन इतिहास लेखकों द्वारा अपने साहित्य मेंं अलौकिक एंव अप्राकृत तत्वों का वर्णन किया गया है। समय समय पर विद्याधर यक्ष, गन्धर्व, देव, राक्षस आदि द्वारा अलौकिक कार्य किये जाने एंव मानवीय पात्रों की सहायता करते हुए दिखाकर पूर्वभव के कर्मो एंव सम्बन्धों के महत्व को स्पष्ट करना उनकी मूल विशेषता है।

जैन इतिहासकारों का विचार दर्शन है – कर्मवाद, दुष्कर्म से वचना एंव सत्कर्म की और प्रवृत्त होना। इसी मूल चेतना के आधार पर विशेषकर कथा साहित्यकारों ने अपने कथानकों में ऐसी घटनाओं को जन्म दिया जिनके द्वारा जनसाधारण को पाप कर्मो की ओर अरुचि एंव शुभकामों की ओर प्रवृत्ति जागृत होती है। सत् पात्रों को कथाओं के अन्त में सुख एंव असत पात्रों को दुःख प्राप्त करते हुए चित्रित करना जैन इतिहासकारों की अपने धर्म के आचारों विचारों को व्यापक एंव चिरस्थायी बनाने की विशेषता है।

जैन ग्रन्थों में ईश्वरीय विविध कल्पनाओं के स्थान पर आत्मा की अनन्त शक्तियों का वर्णन करके आत्मा एंव ईश्वर सम्बन्धी तत्वज्ञान की विचारधाराओं को आत्मा की ही प्राकृतिक स्वभाव जनित अनन्तता में प्रवाहित करना जैनाचार्यो की प्रमुख विशेषता है। जैनों के कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं उसे केवल एक आदर्श और उत्कृष्टत्तम ध्येय माना है वह विश्व का सृष्टा एंव नियामक नहीं माना गया है यह प्रत्येक आत्मा का उत्कृष्टतम विकास मात्र है। आत्मा सात्विकता एंव नैतिकता के बल पर ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकती है एंव आवागमन से मुक्त हो जाती है। जैनधर्म की ये मान्यता कथाओं के माध्यम से अत्याधिक स्पष्ट की गयी है। इसके अनुसार आत्मा के तीन स्तर – बहिरात्मा, अन्तरात्मा एंव परमात्मा होते हैं। यह शरीर ही आत्मा है यही बहिरात्मा है। शरीर, इन्द्रिय एंव मन से भिन्न वस्तु मोहनीय आदि कर्मो के वशीभूत होने वाला जीव ही अन्तरात्मा के नाम से पुकारा जाता है यह अन्तरात्मा विशिष्ट साधनों के द्वारा परमात्मा का रुप धारण कर लेता है। परमात्मा आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है अतएंव दुःख से निवृत्ति का साधन आत्मा को परमात्मा का रुप समझना एंव कर्मो का क्षय का उपदेश अपने साहित्य

द्वारा जैन लेखकों की विशेषता है।

जैन इतिहास आदर्शोन्मुखी होते हुए भी जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका है। यह धरातल ऐतिहासिक घटनाओं एंव सामाजिक जीवन के विविध पक्षों से निर्मित हुआ है। ऐतिहासिक कथानक प्रायः राजकुलों से सम्बन्धित हैं एंव सामाजिक जीवन समाज के उच्च–निम्न धनी निर्धन सभी वर्गो से सम्बन्धित हैं।

जैन इतिहासकारों के साहित्य में मनुस्मृति जैसी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के लिए अलग अलग रंग के कपड़े, छोटे बड़े दण्ड, समान स्थिति में समान सुविधाओं का न होना आदि जैसी विषमताऐं नहीं है। आर्य एंव अनार्य सभी को समान स्थान दिया गया है।

जैन इतिहास लेखकों ने अतीत एंव अनागत की घटनाओं के साथ ही साथ वर्तमान कालिक घटनाओं का वर्णन भी किया है जिससे तत्कालीन जीवन के सभी क्षेत्रों के महत्वपूर्ण पक्षों का ज्ञान हो जाता है।

जैन साहित्य के विविधरुपों को देखने से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यो ने "आचार पर विशेष बल दिया है कारण कि जैन तीर्थकरों के आगे मूल समस्या दुःख का निवारण थी। जैन साहित्य आचार सम्पन्न आचार्यो की देन है। इन्होंने श्रृंगार प्रधान काव्यों की भी रचना की किन्तु उनका श्रृंगारवर्णन उद्दीपक नहीं है किन्तु उपशामक है। क्योंकि से शान्त रस में निमग्न आचार्यो द्वारा लिखा गया है। जैन इतिहास लेखकों ने अपने धर्म को प्रचारित एंव स्थायी रुप देने के लिए साहित्य रचना की और इसमें तत्कालीन जीवन के सभी पक्षों का चित्रण करना उनकी विशेषता है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. अजितपुराण २–५७, मल्लिनाथ पुराण २४१/२४२, स्यणचूडरायचरिय, जिन रत्न कोष पृ० १६०।
२. पाटन का शास्त्र भंडार, आगरा का सरस्वती भवन, झालरपाटण का सरस्वती भवन, जैसलमेर के पुस्तक भंडार, बम्बई के ए०पं० सरस्वती भवन।
३. जैनशिला लेख संग्रह भाग ४ लेख नं २१७। हिस्ट्री ऑफ राष्ट्रकूटराज पृ २७२–७३ एपीग्राफिका इंडिका भाग १० पृ १४६। एपीग्राफिका इंडिका भाग ६ पृ २६/३।
४. प्रा०सा०इ० पृ० ४७६।
५. त०सू० १०/३।
६. आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म पृ ७–६६। प०च० "विमल २२/११ जै०शि०स०भाग

२ लेख नं० २६४, भाग २ ले०न० १४४, १३६, जै०शि०सं० भाग ३ ले०नं० ४१०, भाग ४ ले०न० ७६, १४३, १७६।

७. प्र०सा०अध्याय १ गाथा ६–७

८. तै०उ० १.११.२

६. स्था०सू० क २६६
उ०सू० २३/८/२७
व्या०प्र०२०.८
मूलाचार ७/११५–१२६, ७/३४।

१०. षट्खण्डागम–टीकाः (धवलाटीका प्रथम पुस्तक कारंजा १६३६) पृ० ११२।

११. त्रिंश०पु०च०पर्व २०–२१

१२. ऋग्वेद ८/८/२४, यजुर्वेद २५/१६

१३. भागवत २/७/१०, मा०पु० ५०/३६–४१।

१४. मूलाचार ५३३ एंव उत्तराध्ययनसूत्र में केशी गौतम सम्वाद।

१५. समवायांगसूत्र २४, कल्पसूत्र ६–७, आवश्यक निर्युक्ति ३६६।
ब०च० १७/३७–३६ पृ० २६७।

१६. जिनरत्नकोश पृ० २८

१७. वही पृ० ५७

१८. वही पृ० ४४६

१६. वही पृ० ४४५

२०. जिनरत्नकोश पृ० ४४५

२१. वही पृ ११६

२२. चन्दप्पह चरिय

२३. जिनरत्न पृ० ११६

२४. पट्टावली पराग पृ ३६३

२५. जिनरत्नकोश पृ ११६, चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य,
संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ ८१, डा० नेमिचन्द्रशास्त्री

२६. जिनरत्नकोश पृ० ११६

२७. जिनरत्नकोश पृ० ३६६

२८. वही पृ० ४००

२६. वही पृ० १६३ जै०स०शो० ७ पृ २५१–२५४

३०. उत्तरपुराण के ६१वें पर्व में धर्मनाथ का चरित्र ५२ पद्यों में वर्णित है जिनमें कि दो पूर्वभवों एंव वर्तमान भव का निर्णन है।

३१. धर्मशर्माभ्युदय २/७७, ३/२६–२७,३३,३४,१०/६ ११/७२, १४/८, ३०,

१६/१८–४५–४६ आदि।

३२. जै०सा०का०बृ०इ०भाग ६ पृ० ४८६।

३३. जिनरत्नकोश पृ ३७६

३४. वही पृ ३८० ।

३५. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४३१।

३६. जिनरत्नकोश पृ० ३३६।

३७. वही पृ० ३०२

३८. वही पृ० ३११

३९. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० १३५ – जै०पी०जैन।

४०. नेमिनिर्वाण महाकाव्य –
नागौर के शास्त्र भंडार में इस काव्य की चार हस्तलिखित प्रतियाँ है नं० २१, ६६, १०७, २५४।

४१. संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ० ८१, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन शोधांक ८, पृ० २८५–२८६ "वागभट एंव हरिचन्द में पूर्ववर्ती कौन" – पं० अमृतलाल जैन।

४२. जिनरत्नकोश पृ० २४४, पासनाहचरिय

४३. जिनरत्नकोश पृ० २४६ – पार्श्वनाथ चरित, जै०सा०और इ०पृ० २६७

४४. जिनरत्नकोश पृ० ३०६ महावीरचरिय

४५. जिनरत्नकोश पृ० ३०६

४६. जिनरत्नकोश पृ० ३४२

४७. समवायांग सूत्र १२, आवश्यक निर्युक्ति ३७४, स्थानांगसूत्र १०, ७१८ तिलोयपण्णति १२८२

४८. आवश्यक भाष्य सूत्र ४१

४९. ब०च० १७/४०.४१. पृ० २६८

५०. वही १७/४३ पृ० २६८

५१. वही १७/४२ पृ० २६८

५२. वही १७/४४ पृ० २६८

५३. समवायांग सूत्र १३२

५४. प०च०भा० २४/१–११ पृ० १६३

५५. ह०पु० २/७७–८७। त्रि०ल०म०पु०पर्व २२।

५६. त्रि०ल०म०पु० २३/७०

५७. वही २३/१५४

५८. वही २५/२५०

५६. आ०पु० पृ० ७७–७८
६०. ह०पु० १५/५२–५८ पृ० २४६
६१. आ०पु० १६/३४१–३७५
६२. इ०हि०क्वा०भा० १ पृ० ४६०
६३. वही भाग २ पृ २८
६४. त्रि०श०पु०च० १/३/२१८ पृ० २३३
६५. वही १/३/१८६–१६५–२०८/ पृ० २३१–३२
६६. वही १/३/२०६–२१२/ पृ० २३२
६७. वही १/३/२२५–२३३ पृ० २३४
६८. वही १/३/२१७–१८, पृ० २३३
६६. प०पु० ३/३०६–६
७०. प०पु०पृ० १०६–११३
७१. प०पु० पृ० ६८
७२. जै०स्तू०ए०अ०ऐ०औ०म०प्लेट नं० १७
७३. दि०आ०स०ओ०ग०पृ० १६६
दि०आ०सं०औ०में पृ०३२ सन् १६३०
७४. दि०आ०स०औ०में पृ० ६६ सन् १६३०
७५. जै०शि० सं० भाग २ ले०न०३ पं०५
७६. क०च० ५/१
७७. त्रि०श०पु०च० १/३/२१६–२२४ पृ० २३३
७८. क०च० ५/१–३
७६. वही ५/४–८
८०. वही पृ १७ ग्रन्थपरिचय
८१. वही भूमिका पृ ४८
८२. क०स०सा० १४/३/६५–६६
८३. प०च० (स्वयम्भू) ६/१, २,६,८
८४. "हनुमत चरित्र" ४७५–७६
८५. ए०इ०हि०द्रे०पु० २६१
८६. योग वशिष्ठ रामायण अध्याय १५/८
८७. प०चं० (वि०सू०) ५
८८. गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज संख्या ६, बड़ौदा १६१८
८६. जै०शि०सं० भाग ४ ले०नं० १४६
६०. वही भाग ४ ले०नं० २८७

९१. जिनरत्नकोश पृ ४४७ जैoसाoएवं इoपृo ४२०–४२१
९२. जिनरत्नकोश पृo ३४२
आoपुo १/६६
९३. जैoसाoकाoबृoइoभाग ३ पृo ४०, ३५६, ३६३
९४. जिनरत्नकोश पृo ३१०–३११
९५. जैoसाo और इoपृo १६१–३०८
जिनरत्नकोश पृo ३१८
९६. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृo १०६–१३६ जैनसाहित्य और इतिहास पृo ४११ जिनरत्नकोश पृ २६४
९७. निर्णयसागर प्रेस बम्बई १६३८। जैन साहित्य का वृहद इतिहास भाग ६ पृo ५३५ वाद टिप्पणी नंo ४, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ पृo ४८४–९१।
९८. तिलक मंजरी पद्य ३८–५१
९९. निर्णय सागर प्रेस बम्बई से दो भागों में प्रकाशित १६०१–३, महावीर जैन ग्रन्थमाला वाराणसी ने १६६० एंव १६७१ में संस्कृत हिन्दी टीका सहित – पंo सुन्दरलाल जैन।
१००. जिनरत्नकोश पृ २६६
१०१. जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित बनारस संo १६७२
१०२. जिनरत्नकोश पृ ५६
१०३. जैoसाoकाoबृoइoभाग ६ पृ ३६०
१०४. जिनरत्नकोश पृ १५२
१०५. जिनरत्नकोश पृ ४४७
१०६. जैoसाo और इo पृo ४२०–२१
१०७. जिनरत्नकोश पृ ३०१
१०८. जैoशिoलेoसंo भाग २ लेख नं २२७,२३७,२५१,२५३,२६७,२७२
१०९. जैoशिoलेoसंo भाग ४ लेख नंo २१
११०. पoचंo (विoसूo) अन्तिम सर्ग गाथा १०३
१११. जैoसoशौo ३६, पृo ४६३
११२. दि जैoसोoआफ एoइoपृo ६६–८१
११३. एoइoभाo ४ नंo ४४ पृ ३०६–३१०
११४. दिoजैoसौoआफ एoइoअध्याय १०

अध्याय – ३

जैन इतिहास का विषय और विकास

जैन परम्परा में कालक्रम विभाजन के अन्तर्गत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, युगों का वर्णन पाया जाता है[1]। उत्सर्पिणी युग में किस तरह से क्रमशः नैतिकता का अभ्युदय एंव अवसर्पिणी युग में नैतिकता के ह्रास एंव परिणामस्वरुप बहुत सी नई चीजों के प्रकाश में आने की बात परवर्ती साहित्य में प्राप्त होती है। ग्रहों एंव नक्षत्रादिकों के प्रकाश[2] में आने के परिणामस्वरुप जनता का उनसे भयभीत होना एंव भय त्रण हेतू अपने समकालीन कुल करके पास जाने एंव भयमुक्त होने की जानकारी होती है[3]। अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र ऋषभदेव के समय भोगभूमि के नष्ट होने पर ऋषभ द्वारा प्रजा को उपदेश कर, कर्मभूमि की स्थापना कर प्रजा को कर्म करने के लिए प्रेरित करने की कथाऐं प्राप्त होती है[4]। कर्मभूमि के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ समाज एंव सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का लोगों को ज्ञान होने के साथ ही जैन इतिहास के प्रारम्भ का सूत्रपात होता है। जैन इतिहास के मूल एंव प्रारम्भिक स्तर में आदि तीर्थकंर ऋषभदेव एंव उनके वंश से सम्बन्धित वंशानुगतों के चरित्र एंव कियाकलापों का वर्णन पाया जाता है।

जैन मान्यता के अनुसार ऋषभ के बाद एंव महावीर से पहले बाइस और तीर्थकंर के होने की बात ज्ञात होती है[5]। जैन धर्म में इन तीर्थकरों का भी महत्व अन्तिम तीर्थकंर महावीर की ही भांति स्वीकार किया गया हे। सभी ने अपने अपने समय के अनुकूल जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रचार, प्रसार एंव परिवर्द्धन किया। अन्तिम तीर्थकंर पार्श्वनाथ एंव महावीर को ऐतिहासिक पुरुष के रुप में स्वीकार किया गया है। पार्श्व के द्वारा उपदिष्ट धर्म के स्वरुप में[6] कुछ और चीजें महावीर के द्वारा जोड़ी गयी[7]। तत्कालीन मान्यता एंव आवश्यकता के परिवेश में ही महावीर के द्वारा संशोधन एंव परिवर्द्धन प्रस्तुत किया गया होगा।

"जिन" उपाधि जैनों के अन्तिम तीर्थकंर महावीर के लिए प्रयुक्त हुयी थी जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया था। "जिन" शब्द उन स्त्री पुरुषों के लिए भी व्यवहृत पाया जाता है जिन्होंने इन्द्रियों का दमन कर अन्तिम सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। अतएव जैन इतिहास लेखकों का विषय इन जिनात्मा एंव तीर्थकंरों द्वारा समय समय पर दिये गये उपदेशों का वर्णन करना है क्योंकि ये उपदेश जैनधर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों को स्थायी रुप प्रदान करना था। यह उन्हें लिखित रुप प्रदान करके ही सम्भव था क्योंकि प्रारम्भ में जब जैन आगमों का ज्ञान श्रुत परम्परा से चला आ

रहा था। कालक्रमानुसार आगमों का ज्ञान लुप्त एंव क्षीण होता गया। कालान्तर में जैन आत्माज्ञान की शिक्षाओं का प्रवाह इतना अधिक लुप्त हो गया कि तीर्थकरों द्वारा दिये गये उपदेशों के मूल पाठ लुप्त हो गये। तब जैन इतिहासकारों एंव आचार्यो के लिए समस्त धार्मिक एंव दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल पाठ को लिपिबद्ध करना आवश्यक हो गया।

ऐसी स्थिति में जैन आचार्यो द्वारा व्यक्तिगत रुप में एंव जैन इतिहासकारों द्वारा जैन इतिहास लिखना प्रारम्भ हुआ जिसका मुख्य विषय धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करना था। जैन इतिहासकारों ने अपने साहित्य में महाव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, गुप्ति, समिति, दान, तप, शील, त्रयरत्न एंव मोक्ष आदि के विस्तृत वर्णन के साथ कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। जैन इतिहास सर्वप्रथम आगम साहित्य में लिखा गया। आगम साहित्य पर प्रथम वाचना महावीर निर्वाण (५२७ ई०पू०) के १६० वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में पड़ने वाले दुष्काल के समाप्त होने पर स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में हुयी जिसमें श्रुतज्ञान का ११ अंगों में संकलन किया गया। इसे पाटलिपुत्र वाचना के नाम से कहा जाता है[८]। आगमों को व्यवस्थित रुप देने के लिए दूसरी वाचना महावीर निर्वाण ८२७ या ८४० वर्ष बाद (ईसवी सन् ३००–३१३) में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुयी जिसे माथुरी वाचना कहा गया है। इस वाचना में जिसे जो कुछ स्मरण था उसे कालिक श्रुत के रुप में संकलित किया गया[९]। इसी समय बल्लभी में नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में एक सम्मेलन हुआ जिसमं विस्मृत सूत्रों को पुनः स्मरण करने का प्रयत्न किया गया[१०]।

इसके पश्चात् ५४३–४६६ ई०वी० में बल्लभी में ही देवर्धिगण क्षमा–श्रमण के नेतृत्व में अन्तिम सम्मेलन हुआ जिसमें वाचनाभेदों को व्यवस्थित करके माथुरी वाचना के आधार से आगमों को लिपिबद्ध किया गया[११]।

आगम साहित्य में जैन श्रमणों के आचार–विचार, व्रतसंयम, तप त्याग, गमनागमन, रोग चिकित्सा, विद्यामंत्र एंव प्रायश्चित आदि का वर्णन करने वाली परम्पराओं एंव धर्मोपदेश की पद्धतियों का वर्णन किया गया है।

धार्मिक सिद्धान्तों के वर्णन के साथ ही जैन इतिहास कारों ने अरहंतो, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, बलदेवों एंव प्रतिवासुदेवों के माता पिता जन्मस्थान, दीक्षास्थान, शिष्य–परम्परा, कठोर साधना, आर्यक्षेत्रों की सीमा उनके पूर्वभवों एंव तत्कालीन राजवंशों का वर्णन भी अपने साहित्य का विषय बनाया[१२]। इसका आधार द्वादशांग आगम के बारहवें अंग दृष्टिवाद का अवान्तरभेद प्रथमानुयोग था। जैन इतिहासकार महापुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से जनसाधारण तक नैतिक भावनाओं को पहुँचाने के साथ ही आध्यात्मिक वातावरण समाज में उत्पन्न करना चाहते थे।

आगम साहित्य में वर्णित इतिहासकारों के विषय का विकास आगम साहित्य पर लिखी जाने वाली टीकाओं, निर्युक्तियों, चूर्णियों एंव भाष्यों में पाया जाता है। इस

व्याख्यात्मक साहित्य में इतिहासकारों ने पूर्व प्रचलित परम्पराओं को प्रतिपादित किया है।

व्याख्यात्मक साहित्य में निर्युक्तियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं[१३]। आगमों के विषय का प्रतिपादन करने के लिए इसमें अनेक कथानक, उदाहरण, दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है। संक्षिप्त एंव पद्यमय होने के कारण निर्युक्तियों द्वारा धर्मिक सिद्धान्तों का प्रचार एंव प्रसार जनसाधारण में हुआ। आचारांग, सूत्रकृतागों–सूर्याप्रज्ञप्ति व्यवहार कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक एंव ऋषिभाषित इन दस सूत्रों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी। इन निर्युक्तियों की रचना बल्लभी वाचना के समय ईसवी सन् की पाँचवी छठी शताब्दी के पूर्व ही हुयी होगी[१४]।

आगमों पर लिखे गये भाष्य साहित्य का समय चौथी पाँचवी शताब्दी ई०वी० मान्य किया गया है। भाष्यों में आगमों में वर्णित अनुश्रुतियों एंव लौकिक कथाओं के द्वारा निर्ग्रन्थों के परम्परागत प्राचीन आचार विचारों की विधियों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें निशीथ व्यवहार भाष्य एंव बृहत्कत्पभाष्य अपना विशेष स्थान रखते हैं।

छठी शताब्दी ई०वी० में आगम ग्रन्थों पर गद्यात्मक संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में चूर्णियाँ लिखी गयी। चूर्णी साहित्य में रीतिरिवाज, मेले, त्यौहार, व्यापार के मार्ग आदि का ज्ञान होता है।

आगमों पर लिखी गयी टीकाओं में लौकिक एंव धार्मिक कथाओं, जनश्रुतियों, अर्द्धऐतिहासिक एंव पौराणिक परम्पराओं द्वारा जैन श्रमणों के आचार–विचार प्रतिपादित किये गये हैं। आगमों के प्रमुख टीकाकार हरिभद्र, शीलांक, शान्तिसूरि–नेमिचन्द्रसूरे अभयदेवसूरि ओर मलयगिरि आदि आचार्य हैं।

धार्मिक

निवास स्थान

आगम ग्रंथों से ज्ञात होता है कि श्रमणों का समाज में आदर का स्थान था[१५]। श्रमणों को चातुर्मास के अतिरिक्त किसी एक विशेष स्थान पर न रहने का निर्देश दिया गया। इसी कारण जैन श्रमण एक जनपद से दूसरे जनपद में विहार करते हुए धर्म का उपदेश करते थे[१६]। ये प्रायः नगर एंव ग्राम के पास बने हुए चैत्यों अथवा उद्यानों में रहते थे। राजकीय वर्ग के सदस्य एंव जन सामान्य उनके दर्शनों को जाते एंव आवश्यक वस्तुए भेट करते थे[१७]।

वैराग्य

ये श्रमण सांसारिक भोग विलास की वस्तुओं को नाशवान एंव क्षणभंगुर

जानकर सांसारिक जीवन को त्यागकर भिक्षु जीवन व्यतीत करते थे[१८]। जैन धर्म के अन्तर्गत यह निवृत्ति ही निर्ग्रन्थ धर्म का मूल है[१९]। स्थानांग–सूत्र के अन्तर्गत वैराग्य के दस कारण बतलाये गये हैं[२०]। आगमों से राजाओं द्वारा भी भावुकतावश एंव परम्परागत आधार पर दीक्षा लेने की जानकारी होती है[२१]। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय एंव ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए त्रयरत्नों का पालन करते थे[२२]। इसके साथ ही अन्तरंग एंव बहिरंग बारह प्रकार के तप एंव संवर और निर्जरा, गुप्ति एंव समितियों के द्वारा कर्मबन्धनों से मुक्ति प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते थे[१]।

व्रत संयम

आगम साहित्य में जैन श्रमणों के लिए आवश्यक व्रत संयम आदि से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया गया है, जिनका पालन करना अत्यन्त कठिन था[२३]। आहार लेते समय उन्हें बिना स्वाद का आस्वादन लेने[२४] एंव कठोरतप करने में शरीर के शोषण का ध्यान न देने का निर्देश दिया गया है[२५]। चिलात मुनि द्वारा की गयी कठोर तपस्या की जानकारी आगम साहित्य से होती है[२६]।

श्रमण निर्ग्रन्थ भिक्षा द्वारा जीवन यापन करते एंव प्रतिदिन केश लोच करते थे। रात्रिभोजन त्याग, स्थावर एंव त्रस जीवों की रक्षा, अभवय वस्तुओं का त्याग, गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का त्याग, पयंक आसन, स्नान एंव शरीरभूषा का त्याग आदि व्रत संयमों का पालन उनके लिए आवश्यक था[२७]।

गमनागमन

श्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान पर धर्मोपदेश करते थे इस गमनागमन में मार्गजन्य कष्टों के कारण जंगलों में पथभ्रष्ट होना, दुर्गम रास्तों पर चलना, चोर डाकुओं एंव जंगली जातियों के उपद्रव, प्राकृतिक प्रकोप एंव जंगली जानवरों आदि से उत्पन्न कठिनाईयों का सामना जैन श्रमणों को करना पड़ता था।

दीक्षा

उदारवादी प्रकृति होने के कारण निर्ग्रन्थ श्रमणों की दीक्षा लेने का सबको समान अधिकार था[२८]। लेकिन कुछ परिस्थितियों में जैसे नपुंसकता, वातरोगी, बाल, वृद्ध, जड़, राजापकारी, ऋणग्रस्त एंव गर्भावस्था वाली को दीक्षा लेने का निषेध था[२९]। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में बाल[३०], वृद्ध[३१], गर्भवती[३२] को प्रवज्या लेने का अधिकार प्राप्त था।

जैन धर्म के अन्तर्गत प्रवज्या (दीक्षा) ग्रहण करने के लिए माता पिता अथवा अभिभावकों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था[३३]।

निष्क्रमण संस्कार

आगम साहित्य से दीक्षा ग्रहण कर लेने के पश्चात् निष्क्रमण संस्कार किये जाने की जानकारी होती है[३४]। निष्क्रमण संस्कार में राजा भी सक्रिय रुप से भाग लेते थें यह अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता था। श्रमण दीक्षा लेने वाले के परिवार को राज्य द्वारा सहायता प्रदान की जाती थी[३५]।

मुनि आचार

महावीर द्वारा उपदिष्ट पंचयामी मार्ग को अपनाना श्रमणों को अनिवार्य था।[३६] नाव द्वारा नदी आदि जलाशय पार करने में अनेक उपसर्गो को सहन करना पड़ता था[३७]। नाव द्वारा नदी पार करने में उपसर्गो का सामना करने के विधानों का आगम ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है[३८]।

श्रमणों को अराजकता पूर्ण राज्यों एंव विदेशी राजाओं के राज्य में राजकीय कर्मचारियों द्वारा अनेक प्रकार के कष्ट दिये जाते थे[३९]। इसी मार्ग में उपाश्रय जन्य[४०], रोगजन्य[४१], दुर्भिक्षजन्य[४२] वादविवाद जन्य[४३], एंव ब्रह्मचर्य जन्य[४४] अनेक कठिनाईयाँ उत्पन्न होती थी।

विद्यामन्त्र एंव विधान

धर्मोपदेश एंव भिक्षु जीवन यापन में आने वाली कठिनाइयों से रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार के विधानों का उल्लेख आगमग्रन्थों में किया गया है। उपाश्रय जन्य संकटों से बचने के लिए श्रमणों को अपनी बस्ती की दिन में तीन बार देखभाल करने, खुले स्थानों पर न रहने आदि का आदेश दिया गया है[४५]।

रोग–जन्य संकटों में कुशल साधु, शुभ आसन पर बैठे वैद्य चिकित्सा कराने एवं वैद्य के कहने पर उसे उपाश्रय में बुलाने का निर्देश देने के साथ ही शूल उठने, सर्पदंश आदि से पीड़ित होने पर रात्रि के समय औषधि लेने का विधान है।[४६]

जैन सूत्रों में भिक्षुओं को काम वासना, विलासी जीवन एवं गमनागमन में स्त्रियों के उपसर्ग से दूर रहने के लिए दृष्टान्तों द्वारा उपदेश दिया गया है।[४७] ब्रह्मचर्य जीवन में स्त्रियों के उपसर्ग न सह सकने के कारण प्राणत्याग करने का विधान बतलाया गया है।[४८] वेश्याओं द्वारा ब्रह्मचर्य नष्ट करने पर जैन ग्रन्थों में श्रमणों द्वारा से बधिकर राजकुल में ले जाने का आदेश दिया गया है।[४९]

जैन सूत्रों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि जैन भिक्षु संकटों के समय मंत्र, विद्या, चूर्ण एवं निमित्त आदि का भी प्रयोग करते थे।[५०] राजाओं द्वारा आचार्य का अपहरण एवं हत्या के प्रयत्न करने पर भिक्षु के लिये धनुर्वेद का पराक्रम दिखाकर आचार्य की रक्षा करने का विधान है।[५१] राजा द्वारा राज्य निष्कासन का आदेश दिये जाने पर आकाश विद्या का भी उपयोग करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[५२] दुष्काल

के समय अथवा नियमविहित भिक्षा प्राप्त न होने पर मंत्र विद्या के बल से आहार लाकर भिक्षुओं की जीविका चलाते थे।[५३]

आदर्श एंव अपवाद मार्ग का अवलम्बन

जैन तीर्थकरों द्वारा जैनधर्मानुयायियों को अपने धर्म एंव व्रत नियमों का पालन करने के उपदेश भी दिये गये। इसी आधार पर आगम ग्रन्थों में व्रत एंव शील को खण्डित करने की अपेक्षा शुद्ध कर्म करते हुए प्राणोत्सर्ग करना अच्छा बतलाया गया है[५४]। जैन भिक्षुओं को सर्वप्रयत्नों द्वारा धर्मसंयुक्त शरीर की रक्षा करने का आदेश दिया गया है[५५]।

भिक्षु, भिक्षुणियों को राजाओं, मंत्रियों एंव पुरोहितों द्वारा कष्ट दिये जाने पर शान्तिपूर्ण ढंग से उन्हें दूर करने का निर्देश दिया गया है लेकिन इसमें असफल होने पर अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेने के लिए भिक्षुओं को आदेश प्राप्त था[५६]। क्योंकि तीर्थकरों द्वारा सत्य को ही संयम कहा गया है[५७] अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेने पर प्रायश्चित करने का भी विधान बतलाया गया है[५८]।

जैनसंघ

तीर्थकर महावीर ने जैन श्रमणों के संघ को चार भागों में विभक्त किया था – श्रमण, श्रमणी, श्रावक एंव श्राविका। जैन भिक्षु अपने संघ एंव गणों का निर्माण करके, किसी आचार्य के नेतृत्व में, नियमों एंव व्रतों का पालन करते हुए रहते थे[५९]। आचार्य व्रजस्वामी के गण में ५०० भिक्षुओं के एक साथ रहने के उल्लेख मिलते हैं[६०]।

आगम ग्रन्थों में श्रमणों के पॉच प्रकार बतलाये गये हैं[६१] – १, णिग्गंथ (खमग), २, सक्क (रत्तपड), ३, तावस (वणवासी) गेहअ (परिव्वायअ) एंव आजीविय (पंडराभिक्सुः गोशाल के शिष्य)

धार्मिक सहिष्णुता एंव समन्वयवाद

आगम ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से जैन धर्म की धार्मिक सहिष्णुता एंव समन्वयात्मक प्रवृत्ति ज्ञात होती है। हिन्दू धर्म में[६२] मान्य परम्परागत देवी देवताओं इन्द्र[६३], स्कन्द[६४], रुद[६५], मुकुन्द[६६], शिव[६७], वेश्रमण[६८], नाग[६९], यक्ष[७०], भूत[७१], आर्या[७२] और कोट्टकिरिया[७३] आदि देवी देवताओं की पूजा के साथ ही समय समय पर एंव विशिष्ट अवसरों पर तत्सम्बन्धित उत्सव भी मनाये जाते थे। जैन ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलता है।

त्रेषठ शलाका पुरुष

जैनाचार्यो ने तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म के वर्णन के साथ ही त्रेषठशलाका

पुरुषों का भी वर्णन किया हे। जिनमें चौबीस तीर्थकरों के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख समवांयाग, कल्पसूत्र एंव आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है[७४]। सर्वप्रथम उल्लेख समवायांग सूत्र में किया गया है[७५] आवश्यक निर्युक्ति[७६] में बलदेव, वासुदेव एंव प्रतिवासुदेवों का वर्णन किया गया है "जिससे ज्ञात होता है कि बलदेव और वासुदेव हमेशा भाई के रुप में उत्पन्न होते हैं तथा प्रतिवासुदेव वासुदेवों के प्रतिस्पर्द्धी (विरोधी) होते हैं[७७]। वासुदेव प्रतिवासुदेवों के बीच युद्ध होने, वासुदेवों द्वारा प्रतिवासुदेवों के प्राणहरण करने एंव विजय प्राप्त करने की जानकारी होती है[७८]।

जैनाचार्यो एंव इतिहासकारों द्वारा आगम साहित्य में जैन तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म एंव श्रमण आचार विचार के साथ जैनधर्म के मान्य त्रेषठशलाकापुरुषों के जन्म स्थान, दीक्षास्थान आदि विषयों के उल्लेखों से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एंव भोगोलिक जानकारी हाती हैं। छठी शताब्दी ई०वी० के उत्तरयुगीन जैन इतिहासकारों द्वारा समाज संस्कृति, राजनीति को अपने साहित्य का विषय बनाया गया। आगम साहित्य के आधार पर जैन इतिहास का विकास हुआ जो साहित्य की अनेक विधाओं में प्राप्त होता है। इन साहित्यिक विधाओं में आगमों में वर्णित विषयों को सिद्धान्तों का रुप दिया गया एंव महा पुरुषों के जीवन वर्णन द्वारा समाज के सभी क्षेत्रों में आध्यात्मिकता एंव नैतिकता लाना इतिहासकारों ने अपना उद्देश्य बनाया।

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत छठी शताब्दी ई०वी० तक अनेक धार्मिक ग्रन्थों एंव पुराणों आदि की रचना हो चुकी थी। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों–पौराणिक आख्यानों एंव परम्पराओं से जैन इतिहासकार प्रभावित हुए। परिणामस्वरुप अपने धार्मिक सिद्धान्तों को सर्वोपरि रुप देने के लिए हिन्दू पुराणों के आधार पर पुराणों में जैन इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। जैन इतिहासकारों ने अपने पौराणिक साहित्य में तीर्थकर, चकवर्ति, नारायण, प्रतिनारायण एंव बलदेव आदि महापुरुषों के चरितों को निरुपण करने के साथ ही जैन धर्म के परम्परागत चले आते हुए सिद्धान्तों को विकसित एंव सर्वोपरि रुप देने के लिए हिन्दू पुराणों के कथानकों के जैनीकरण की प्रकिया अपनायी।

बाल्मीकि रामायण की शैली पर जैन इतिहासकारों ने सांतवी शताब्दी में चरितकाव्यों की रचना की जिनमें पद्मचरित एंव बंरागचरित प्रमुख हैं। जैन इतिहासकार साहित्यकार होने के साथ ही उपदेशक एंव धर्मप्रचारक थे वे अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा जैनधर्म के सिद्धान्तों एंव नैतिक भावनाओं को जनसाधारण में पहॅुचाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने तत्कालीन प्रसिद्ध महापुरुष, जैन धर्मानुयायी एंव आचार सम्पन्न स्त्री पुरुषों के जीवन से प्रभावित होकर चरित ग्रन्थों में उनका चरित्र वर्णन किया। चरितग्रन्थ धार्मिक एंव दार्शनिक तथ्यों से युक्त हैं। अनेक चरितग्रन्थों में आश्रयदाताओं के चरित्र वर्णन किये गये हैं क्योंकि उनके द्वारा जैन धर्म को प्रश्रय दिया गया था।

पुराण एंव चरितकाव्यों की तरह ही जैन इतिहासकारों ने अपने विषय धार्मिक सिद्धान्तों का विकास करने के लिए कथा साहित्य को भी अपनाया क्योंकि जैन धर्म के अनेक तत्वों, व्रत, संयम, अनुष्ठान, व्रतों का स्वरुप उनके विधि विधान् अपरिग्रह, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य एंव अहिंसा के रुपों एंव उनके परिणामों को कथाओं एंव कहानियों के द्वारा अति सुगमता से समाज के उच्च एंव निम्न, धनी एंव निर्धन, शिक्षित एंव अशिक्षित सभी वर्गो के मनुष्यों तक पहुँचाया जाना सम्भव था। अतएव जैन इतिहासकारों ने समाज के सभी वर्गो से सम्बन्धित कथाओं, आख्यानों एंव कथाकोषों की रचना की जिसमें धार्मिक सिद्धान्तों को स्थान दिया।

जैन धर्म के सिद्धान्तों का विकास अभिलेखीय साहित्य के द्वारा भी हुआ, जैन धर्म को जनवर्ग एंव राजवंशों द्वारा प्रश्रय प्राप्त था। इसी कारण जनवर्ग एंव राज्याधिकारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अभिलेखों में दान, तप, शील, समाधिमरण, मुनि एंव श्रावक आचारों एंव मोक्ष के वर्णन के साथ ही जैन संघ, गण गच्छ एंव जैनाचार्यों और उनकी वंशावलि का उल्लेख किया गया है। जैन आगम साहित्य में वर्णित विषय उपदिष्ट धर्म, आचारविचार एंव महापुरुषों के चरित्र निरुपण का विकास छठी शताब्दी ई०वी० के उत्तरकालीन पुराणों, चरितकाव्यों, कथा साहित्य, एंव अभिलेखीय साहित्य के माध्यम से होता हैं। जैन इतिहासकारों ने समाज, संस्कृति एंव राजनीति एंव भोगोलिक वर्णनों को भी अपनी साहित्यिक कृतियों का विषय बनाया जिनका विश्लेषण विभिन्न अध्यायों में विस्तार के साथ किया गया है।

संदर्भग्रन्थ

१. आ०पु० ३/१४–२०
२. आ०पु० ३/५७–६२
३. आ०पु० ३/८०–२००, ह०पु० ७/१२४
४. आ०पु० १६/१७९–१८९, ह०पु० ७/६५
५. स०सू० २४, क०सू० ६–७, आ०नि० ३६६ डौक्ट्रीन्स आव द जैन्स पृ २३
६. मूलाचार ७/३६–३८
७. मूलाचार ७/१२९–१३३, त०सू० ९,१८
८. आ०चू०२, पृ १८७
९. नि०चू०पृ ८
१०. वीर निर्वाण एंव जैन काल गणना पृ १२०
११. भारतीय जैन श्रमण पृ १७
१२. सम०सू० २४६–७५
१३. आ०चू०पृ० ४६१
१४. बृ०क०सू० भाग पृ ५

१५. द इन्वेजन ऑफ अलैक्जेन्डर द ग्रेट पृ ३५८, आ०चू०२, पृ ६३
१६. ओ०नि० १७०—७१
१७. औ०सू० ११—२ पृ० ४२—४७
१८. औ०सू० १४ पृ ४६
१९. उ०सू० ८/१—२
२०. स्था० सू० १०/७१२
२१. आ०चू० २ पृ २०२, उ०टी० १८/२३२—अ, उ०सू०९वॉ अध्याय में नमि द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का विस्तृत वर्णन है।
२२. उ०सू० ९वॉ अध्याय
२३. उ०सू० १९ पृ ३६—४३ ज्ञातृ ध०क० १, पृ० २८
२४. आ०सू० ७/४/२१२ पृ० २५२
२५. ज्ञातृ ध०क० १ पृ ४३, उ०टी०१, पृ० २१
२६. निदान कथा पृ० ८७—८८। आ०चू०पृ० ४६७
२७. दश० वै०सू० ६/८
२८. व्य०भा०भाग ४, २/२०१
२९. स्था०सू० ३.२०२, नि०भा० ११/२५०६—७
३०. नि०भा० ११/३५३७—३९, ११/३५३६
३१. नि०भा० ११/३५३६
३२. उ०टी० ९, पृ० १३३
३३. क०सं०५/११० पृ १२१। ज्ञातृ०ध०क० १, पृ ३३ । उ०सू०२२ पृ २७६
३४. ज्ञातृ ध०क० १, पृ २४—३४, आ०चू०पृ० २६६—६७, उ०टी० १८ पृ २५७
३५. द०वै०चू०पृ० ८३ ज्ञातृ ध०क०५ पृ ७०—७१
३६. बृह०क०भा० १/२३९३—९४, १/३०५५—५७, १/३०७३, ३/३९०४, आ०चू०२, पृ० १५४, नि०चू०पी० २५५, २८९ की चूर्णी
३७. बृह०के०भा० ४/५६२९—३३, नि०भा० १२/४२१८, १२/४२३४
३८. आ०सू० २, ३.२. पृ० ३४७ अ, वृह०क०सू० ४/३३ नि०भा० १२/४२२८, नि०चू०पी० १९८—९९।
३९. नि०चू० ९/२५७३
४०. बृह०क०भा० १/२४९३—९९, नि०भा० ५/१९१४ की चूर्णी, ओ०नि०२१८ पृं० ८८—अ बृह०क०भा००४/५६७३—७७, ३/४७४५—४६
४१. व्य०भा ५/८९—९० पृ० २०
४२. बृह०क०भा० ४/४९५६—५८ १/९२२—२३
४३. नि०भा० १६/५७४०—४३, व्य०भा० ५/२७—८१ नि०चू० १२/४०२३ की चूर्णी, सु०सू० २/६, बृह०क०भा ६/६१९७
४४. आ०सू० २, २/१/२९४ पृ० ३३२, उ०टी० १ पृ० २०—अ। सू०कृ०टी० ४/१.२
४५. बृह०क०सू० ३/११, बृह०क०भा० ४रु५६७३—७७
४६. बृह०क०भा० १/९१०—२०१३, व्य०भ० ५/८९—९० पृ० .२०, नि०सू०

१०/१६–३६ ।

४७. व्य०भा० ३/२४५–५४ पृ ५२, २/२६७–८, ५/७३–७४, पृ० १७, नि०सू० ६/१–७७, नि०सू०भा० २१६६–२२८६

४८. आ०सू० १/२१२ पृ० २५२

४९. पि०नि० ४७४

५०. बृह०क०भा० १/३०१४

५१. बृह०क०भा० १/२७५५–८७

५२. व्य०भा०वृ० १/६०–६१ पृ० ७६–७७

५३. बृह०क०भा० ४/४६५४–५५

५४. वरं प्रवेष्टुं ज्वलिंत हुताशनं, न चापि भग्स्नं चिरसंचितं व्रतं।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणों, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम्।।
वृह०क०भा० ४/४६४६ की चूर्णी

५५. वृह०क०भा० १/२६०० की टीका

५६. वृह क०भा० १/२६६४–६८

५७. नि०चू० १६/५२४८ की चूर्णी

५८. बृह०क०भा० ४/४६४७–५४, नि०भा०पी० ३६७–८, ६/२२४२–४४ भ०आ०गाथा ६२५ में भी प्रायश्चित से असंयम सेवन का नाश बताया गया है।

५९. प्रा०सा०का इ०पृ० २१८

६०. आ०चू०पृ० ३६४

६१. आ०चू० २.१ पृ ३३०, वृह क०भा०वृ० १/१४६०

६२. ए०ऑव हि०इ० भूमिका

६३. स्था०सू० ६४. आ०चू०पृ० २१३, त्रि०श, पु०च० १/६/२१४–१५, उ०टी० ८ पृ० १३६ वृह क०भा० ४/५१५३, क०सू० १/१३

६४. आ०चू०पृ० ३१५

६५. व्य०भा० ७/३१३, पृ०५५, अ, आ०चू०पृ० ११५

६६. आ०नि० ४८१, आ०चू०पृ० २६४

६७. आ०चू०पृ० ३१२, आ०नि० ५०६

६८. जी०सू०३पृ २८१, इ०मा०पृ० १४२–४८

६९. उ०सू० अध्याय १८, गाथा ३५ की भावविजय टीका, श्लोक ६७, व०हि०पृ० ३०४–३०५, ज्ञातृ तृ०ध०क०८पृ० ६५ आ०नि०३३५, टीका पृ ३८५

७०. वि०सू०७ पृ० ५१, ज्ञातृ ध०क०२, पृ० ८४–१, ८५.२।

७१. उ०सू०३६/२०५, ज्ञातृ०ध०क०८ पृ १६।

७२–७३. पि०नि०४४१, ज्ञातृ ध०क०८ पृ०१३८ अ, इ०मा०पृ० २२४।

७४. स०सू०२४, कल्पसूत्र ६–७, आ०नि० ३६६

७५. स०सू० १२, आ०नि० ३७४, स्था० सू० १०/७१८

७६. आ०नि० ४१

७७. वा०हि० पृ० २४०–२४५, उ०टी० १८, पृ० २५५–अ

७८. उ०सू० २२

अध्याय – ४

पुराण

महावीर के उपदेशों का संग्रह द्वादशांग आगम के बारहवें अंग के तीसरे खण्ड प्रथमानुयोग में हैं जो पौराणिक साहित्य के रुप में ज्ञात है। महावीर के समय प्रथमानुयोग में ५,००० पद थे[१]। जिनसेनाचार्य ने "पुराण" की व्याख्या "पुरातंन पुराण स्यात्" से की है[२]। जब यह बात महापुरुषों के विषय में अथवा महान आचार्यो के उपदेश के रुप में कही जाती है तब इसे महापुराण कहा जाता है। आदिपुराण में अनेक महापुरुषों के विषय में अथवा महान आचार्यो के उपदेश के रुप में कही जाती है तब इसे महापुराण कहा जाता है। आदिपुराण में अनेक महापुरुषों का चरित निरुपण हुआ है इसलिए महापुराण कहलाता है[३]। पुराण ग्रन्थ ऋषि प्रणीत होने से "आर्ष", सत्यार्थ का निरुपक होने से "सूक्त" तथा धर्म का प्ररुपक होने से "धर्मशास्त्र" माना जाता है। "इति इह आसीत्" यहाँ ऐसा हुआ ऐसी अनेक कथाओं का निरुपण होने से ऋषिगण इसे "इतिहास" ऐतिह्य एंव इतिवृत्त भी मानते हैं[४]। पुष्पदन्त के महापुराण में "अट्टहास एक पुरुषाश्रित कथा", पुराणत्रिषष्टि पुरुषाश्रिता कथाः पुराणनि का उल्लेख है[५]। पुराणों की कथाऐं तीर्थकरों के द्वारा उपदिष्ट एंव परम्परा में चली आ रही थीं। इसी आधार पर साहित्य निर्माण सूत्रपात होने पर समय–समय पर बदलती हुयी भाषाओं में पुराणों का सृजन हुआ[६]। जैन धर्म में मान्य त्रेशठशलाका पुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन करना ही पुराणों का उद्देश्य है। जैन पुराणकारों ने वैदिक धार्मिक ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध आख्यानों को अपनाकर उनके जैनीकरण करने की प्रकिया भी अपने पौराणिक साहित्य में अपनायी।

विभिन्न बारह जिन परिवारों[७] एंव शाही साम्राज्यों के वर्णन के कारण जैन पुराण बारह प्रकार के कहे गये हैं[८]। दूसरे दृष्टिकोण से राज्य, समय, धर्म, महान व्यक्तियों एंव उनके कार्यो का वर्णन करने के परिणाम स्वरुप पुराणों के पॉच प्रकार बताये गये हैं[९]। जैन पुराण ब्राह्मण पुराणों के अनुरुप हैं क्योंकि जैन पुराणों में भी साम्राज्य कथाओं एंव वंशों, मन्वन्तर आदि का वर्णन प्राप्त होता है[१०]।

जैन पुराणों के लक्षण

जैन धर्म के अनुसार विश्व को जड़चेतन रुप से अनादि एंव अनन्त माना गया है इसकी कभी न तो उत्पत्ति हुयी है न ही कभी इसका सर्वथा विनाश, बल्कि इसका विकास एंव अवनति कालचक्र के आरोह–अवरोह कम से ऊपर नीचे की ओर

परिवर्तन शीलता को लिए हुए बदला करता है। इसी आधार पर जैन पुराणों का प्रथम लक्षण है – उत्सर्पिणी एंव अवसर्पिणी युग में कालक्रम के अनुसार लोक व्यवस्था में परिवर्तन। जैन पुराणों का यह लक्षण हिन्दू पुराणों के प्रथम एंव द्वितीय लक्षण–सर्ग, प्रतिसर्ग से मिलता जुलता है। हिन्दू पुराणों के इन लक्षणों में उत्सर्पिणी एंव अवसर्पिणी युग के समान ही इस जगत की उत्पत्ति एंव प्रलय का उल्लेख पाया जाता है। उत्सर्पिणी युग में मनुष्यों के बल, आयु एंव शरीर का प्रमाण बढ़ता है और अवसर्पिणी युग में बल आयु एंव शरीर का प्रमाण क्रमशः घटता जाता है। प्रत्येक युग का काल दस कोड़ा–कोड़ी सागर बतलाया गया है। इन दोनों ही कालों के छः छः भेद बतलाये गये हैं जो कालचक्र के परिभ्रमण से कृष्ण और शुक्ल पक्ष की तरह घूमा करते हैं[११]।

जैन पुराणों का तीसरा लक्षण है – वंश। आदिपुराण में कर्मभूमि की स्थापना कर चार–हरि, अकम्पन, काश्यप एंव सोमप्रभ राजाओं को प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव द्वारा महामाण्डलिक राजा बनाये जाने की बात ज्ञात होती है[१२]। सोमप्रभ एंव हरि क्रमशः कुरुवंश एंव हरिवंश के शिरोमणि कहलाये इसी प्रकार अकम्पन नाथवंश एंव काश्यप उग्रवंश के राजा हुए[१४]। भागवत पुराण ब्रह्मा द्वारा राजाओं की सृष्टि का उल्लेख करता है[४]। जैन परम्परा में भोगभूमि के अन्तर्गत न कोई शासक था और न कोई प्रजा। ऋषभदेव ने ही कर्मभूमि में पृथक् पृथक् राजाओं को नियुक्त किया[१५]।

जैन पुराणों का चौथा लक्षण है – मनुओं अथवा कुलकरों के कार्यो एंव उनकी ऊँचाई लम्बाई इत्यादि का उल्लेख । जैन पुराणों में चौदह कुलकरों की गणना की गयी है[१६]। इन कुलकरों की पौराणिक काल गणना अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। कुलकरों ने प्रजा को जीवन का पथ प्रदर्शन कराया अतः एवं ये मनु कहलाए[१७] एक कुलकर से दूसरे कुलकर के बीच का अन्तर मन्वन्तर कहलाता है कई करोड़ वर्षो का एक मन्वन्तर माना गया है।

जैन पुराण में राजाओं के वंश वर्णन को "वंशानुचरित" कहा जाता है। हरिवंश पुराण में कुरु, हरि, नाथ एंव उग्रवंश के राजाओं का वर्णन है।

इनके अतिरिक्त जैन पुराणों के आख्यानों को भी उनका लक्षण बतलाया जा सकता है। जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राजा, तीर्थ, दान, तप, गति और फल का वर्णन आवश्यक बतलाया गया है[१८]।

लोक का नाम कहना तथा लम्बाई चौड़ाई बतलाना एंव उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य घटनाओं का उल्लेख लोकाख्यान कहलाता है। अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्व लोक का आकार क्रमशः बेत्रासन के समान नीचे विस्तृत और ऊपर सकरा, झल्लरी के समान सब ओर फैला हुआ तथा मृदंग के समान बीच में

चौड़ा बतलाया गया है[१९]। इन्हीं लोकों मध्यलोक के किसी एक भाग में देश, पर्वत, द्वीप एंव समुद्र आदि का वर्णन देशाख्यान एंव देश की राजधानी इत्यादि का वर्णन पुराख्यान कहलाता है। किसी राजा की नगरी आदि के वर्णन को राजाख्यान् की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति आदि उनके विकास की ओर संकेत करते हैं।

हिन्दू पुराणों की भांति हर स्थान पर पूर्व कथित बात के समाप्त होने पर "सूत उवाच" जैसी शैली नहीं अपनायी गयी है। बिना उस रुप के पूर्व पक्ष का उत्तरपक्ष से सम्बन्ध मिलाने का प्रयास किया गया है। जैनपुराणों पर इस दृष्टि से महाकाव्यों का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है[२०]। जैनपुराणों में काव्यात्मक शैली भी दृष्टिगोचर होती है। जैन पुराणों में महाकाव्यों की तरह वक्ता श्रोता को बहुत कम स्थलों पर सम्बोधित करता है। आदिपुराण में केवल एक ही स्थान पर श्रोता द्वारा पुराण सुनने की इच्छा व्यक्त की गयी है[२१]।

जैन पुराणों का प्रारम्भ प्रायः अर्हत्देव की वन्दना से होता है[२२] प्रारम्भ में तीनों लोकों, कालचक्र एंव कुलकरों के प्रादुर्भाव का वर्णन होता है उसके पश्चात् जम्बूद्वीप एंव भारत देश का वर्णन करके तीर्थस्थापना एंव वंश विस्तार का वर्णन प्राप्त होता है। तत्पश्चात् सम्बन्धित पुरुष के चरित्र का वर्णन होता है। पूर्वभव की कथाओं के प्रसंग के साथ साथ प्रसंगानुसार अन्य अवान्तर कथाओं का भी समावेश मिलता है। इन लोक कथा एंव अवान्तर कथाओं में जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन, सत्कर्म प्रवृत्ति, असत्कर्म निवृत्ति, संयम, तप, त्याग, वैराग्य आदि की महिमा, कर्म सिद्धान्त की प्रबलता इत्यादि वर्णन मिलता है। पुराणों के शेष भाग में तीर्थकंर की नगरी, मातापिता का वैभव, गर्भ जन्म, क्रीड़ा, शिक्षा–दीक्षा, प्रवज्या, तपस्या, परिषह, अपसर्ग, केवल प्राप्ति, समवसरण, धर्मोपदेश, विहार निर्माण इत्यादि का वर्णन संक्षेप में या विस्तार से पाये जाते हैं। जैन पुराणों में त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित्र एंव घटनाओं के वर्णन के अतिरिक्त विभिन्न व्यापारों एंव परिस्थितियों, प्रेम, विवाह, संगीत, समाज एंव गोष्ठी, राजकाज मन्त्रणा, दूतप्रेषण, सैनिक अभियान, व्यूहरचना, युद्ध एंव नायक के रुप में चकवर्ती आदि भी जैन पुराणों का विषय रहा है।

जैन पुराणकारों ने मध्ययुगीन सामन्त वर्गीय श्रृंगारिक प्रवृत्तियों का वर्णन करने के लिए श्रृंगार रस का प्रयोग रानी राजाओं एंव प्रेमी प्रेमिकाओं के प्रसंग में मर्यादानुकूलित होकर किया है। मध्ययुगीन सामन्त वर्गीय श्रृंगारिक प्रवृत्तियों की पुष्टि नवीं, दसवीं शताब्दी के मन्दिरों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्तियों के अंकन से होती है। महती घटनाओं एंव महान चरित्रों द्वारा जैन धर्म के निवृत्ति परक सिद्धान्तों के प्रतिरसानुभूति कराने के लिए अलंकारों का भी प्रयोग किया है। जैन पुराणों की शैली को ओजपूर्ण, गम्भीर एंव गरिमायुक्त बनाने के लिए जैन पुराणकारों नें ऋषभ, भरत, बाहुबली, पौराणिक राम जैसे महान चरित्रों का वर्णन किया है।

भोगोलिक

पुरातात्विक साक्ष्यों के प्राप्त तथ्यों की भांति ही जैन पुराणों में भारतवर्ष के भूगोल का वर्णन पाया जाता है। त्रेशठशलाका पुरुषों का चरित निरुपण करने के साथ ही इनसे सम्बन्धित भोगोलिक स्थानों का भी वर्णन पाया जाता है। इन भोगोलिक वर्णनों में तत्कालीन लोकालोक विभाग द्वीप समुद्र के वर्णनों के साथ जनपदों, नगरों एंव नदी पर्वतों का भी प्रसंगानुकूल उल्लेख हुआ है।

लोक सम्बन्धी मान्यताऐं

जैन पुराणों में इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो लोकों में विभाजित किया गया है – अलोकाकाश एंव लोकाकाश।

अलोकाकाश

जैनपुराणों में अलोकाकाश में जीव–अजीवात्मक आदि पदार्थों का अभाव पाया जाता है। गति एंव स्थिति के लिए आवश्यक धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव एंव पुदृगल की गति एंव स्थिति नहीं पायी जाती है[२३]। यह अलोकाकाश असीमित विस्तार वाला है।

लोकाकाश

लोकाकाश में कालद्रव्य एंव अवान्तर विस्तार से अन्य सभी पंचास्तिकाय इसमें स्थिर रहते हैं। यह लोक नीचे, ऊपर मध्य में क्रमशः वेत्रासन, भृदंग एक–एक बहुत बड़ी झालर के समान है। इन्हें अधोलोक मध्यलोक एंव उर्ध्वलोक कहा गया है[२४]।

अधोलोक

अधोलोक वेत्रासन की आकृति का चोकौर है। यह नीचे की और सातरज्जु प्रमाण है जो धीरे–धीरे मध्यलोक की स्थिति तक एक रज्जु प्रमाण रह जाता है। ऊपर की और इसका विस्तार ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग तक पॉच रज्जु प्रमाण है। धनोदधि धनवात और तनुवात ये तीनों वातावलय इसके चारों और है[२५]। जिनका रंग कमशः गोमूत्र के वर्ण, मूंग के समान वर्ण एंव परस्पर मिले हुए वर्णो की आकृति के समान है। पृथ्वी के नीचे ये दण्डाकार आकृति को धारण किये हुए बीस–बीस हजार योजन तक विस्तृत हैं। इन तीनों वातावलयों के ऊपर रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, पंकप्रभा, वालुकाप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा एंव महातमः प्रभा नामक सप्त भूमियॉ स्थित है[२६] पुराणों में इनका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

मध्य लोक

अधोलोक के तनुपातवलय के अन्तभाग तक मध्यलोक स्थित है। यह मृंदगाकृति हैं। तिर्यक लोक पृथ्वी तल के एक हजार नीचे एंव निन्यायवें हजार योजन ऊचाई तक है। मध्यलोक के मध्यभाग में जम्बुद्वीप लवण समुद्र से घिरा हुआ है[२७] लवण समुद्र एक हजार योजन विस्तार वाला है[२८]। लवण समुद्र को आकाश के समान विस्तृत, पाताल के समान गहरा एंव तमालवन के समान श्याम वर्ण का बतलाया गया है[२६]

जम्बूद्वीप

भरत जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित है। जैन पुराणों में वर्णित द्वीपों में जम्बूद्वीप का वर्णन अधिक विस्तृत पाया जाता है। जम्बूवृक्ष होने के कारण द्वीप का नाम जम्बूद्वीप हुआ[३०]। इसका आकार गोल है। हरिवंश पुराण में जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताइस योजन, तीनकोश एक सौ अट्ठाइस धनुष एंव साढ़े तीन ऊंगल बतायी गयी है[३१]। आदिपुराण में जम्बूद्वीप को एक लाख योजन चौड़ा माना गया है[३२]। जम्बूद्वीप का धनाकार क्षेत्र सात सौ नव्वे करोड़, छप्पनलाख, चौरानव्वे हजार एक सौ पचास योजन बतलाया गया है[३३]।

जम्बूद्वीप में सातक्षेत्र, एक मेरु, दो करु, जम्बू एंव शाल्मली नामक दो वृक्ष, छः कुलाचल, छः महासरोवर, चौदह महानदियॉ, बारह विभंगा नदियॉ आदि की स्थिति मान्य की गयी है[३४]।

क्षेत्र

जम्बूद्वीप में भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र स्थित हैं। भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के उत्तर में एंव ऐरावत क्षेत्र दक्षिण में है।

भरत

भरत क्षेत्र का विस्तार पॉच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में छः भाग प्रमाण है[३५] यह जम्बूद्वीप के विस्तार का एक सौ नब्वे वॉ भाग है। भरत क्षेत्र की प्रत्यंचा चौदह हजार चार सौ इकहत्तर योजन एंव कुछ कम छः कला है। इसकी चूलिका अठारह सौ पचहत्तर योजन तथा कुछ अधिक साढ़े छः भाग बतलायी गयी है[३६]। भरत क्षेत्र के ठीक मध्यभाग में विजयार्द्ध पर्वत है। यह पर्वत पूर्व एंव पश्चिम के समुद्रों तक विस्तृत है[३७]। रजत के समान सफेद यह पर्वत पच्चीस योजन पृथ्वी के ऊपर एंव छह योजन पृथ्वी के नीचे तक विस्तृत है। पृथ्वी से दस योजन ऊपर पर्वत की उत्तर एंव दक्षिण दो श्रेणियॉ हैं। दक्षिण–श्रेणी में स्वर्गपुरी

के समान साठ नगरों एंव उत्तरश्रेणी में पच्चास नगरों की स्थिति बतलायी गयी हैं जहाँ विद्याधर निवास करते थे[३८]। इस पर्वत के अग्रभाग पर नौ कूट हैं[३९]।

इस भरत क्षेत्र का नाम आदि तीर्थकर ऋषभनाथ के पुत्र भरत के नाम पर पड़ा[४०]। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में भी भगवान ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से ही "भारत" नाम पड़ने के वृतान्त मिलते हैं[४१]।

ऐरावत

जम्बूद्वीप के दक्षिण में ऐरावत क्षेत्र हैं। इसका विस्तार हैरण्यवत क्षेत्र का १/४ है[४२]। भरत क्षेत्र की भांति इस क्षेत्र के अग्रभाग पर ६ कूट हैं।

हेमवत क्षेत्र

भरत क्षेत्र के आगे हेमवत क्षेत्र है इसका विस्तार दो हजार एक सौ पॉच योजन तथा पॉच कला प्रमाण माना गया है[४३]।

हरिवर्ष क्षेत्र

हेमवत क्षेत्र से आगे आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से एक भाग प्रमाण युक्त हरिवर्ष क्षेत्र है[४४]।

विदेह क्षेत्र

इसका विस्तार तैंतीस हजार, छह सौ चौरासी योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में चार भाग प्रमाण है। इसकी प्रत्यंचा जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन है[४५]।

रम्यक एंव हैरण्यवत क्षेत्र

विदेह क्षेत्र के विस्तार से चौथाई विस्तार रम्यक क्षेत्र का एंव रम्यक से चौथाई विस्तार हैरण्यवत क्षेत्र का है।

कुलाचल

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत सात क्षेत्रों की स्थिति के साथ ही छह कुलाचलों एंव गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियों की जानकारी होती है[४६]। हिमवान, महाहिमवान्, निषध, नील, रुकमी और शिखरी ये छः कुलाचल हैं इनमें उत्तरवर्ती कुलाचल अपने से पूर्व कुलाचल से चौगुने विस्तार वाला हैं। इनमें से आगे के तीन कुलाचल दक्षिण के कुलाचलों के समान कहे गये हैं[४७]। ये कुलाचल जम्बूद्वीप के प्रत्येक क्षेत्र में पाये

गये हैं। प्रत्येक कुलाचल पर विभिन्न संख्याओं में कूटों की स्थिति बतलायी गयी हैं। भरतक्षेत्र में हिमवान कुलाचल है जिसके पूर्व से पश्चिम दिशा में ग्यारह कूट सुशोभित हैं[४८]। हेमवत क्षेत्र के आगे महाहिमवान् कुलाचल है जिसका वर्ण सफेद है। इसके शिखर पर ८ कूटों की स्थिति बतलायी गयी है[४९]। हरिवर्ष क्षेत्र के आगे निषध कुलाचल है जिसका वर्ण स्वर्णमय है इस पर ९ कूट स्थित हैं[५०]। विदेह क्षेत्र से आगे वैदूर्यमणि कुलाचल है। इसके शिखर पर ९ कूट हैं[५१]। रम्यक क्षेत्र से आगे रजत की भाँति वर्णवाला स्वामी कुलाचल है जिसके शिखर पर आठ कूट है। ये कूट ऊँचाई, मूल, मध्य एंव अग्रभाग के आकार में महाहिमवान् पर्वत के समान हैं[५२]। शिखरी कुलाचल की स्थिति हेरण्यवत क्षेत्र एंव ऐरावत क्षेत्र के बीच में बतलायी गयी है। सुवर्णमय इस पर्वत पर हिमवत् पर्वत के कूटों की भांति ग्यारह कूट हैं[५३]। हरिवंश पुराण में पर्वतों एंव क्षेत्रों का विस्तार दिया गया है[५४]।

क्षेत्र	योजन	पर्वत	योजन
१. भरतक्षेत्र	५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन	हिमवत् पर्वत	१०१२ $\frac{१२}{१९}$ योजन
२. हेमवत क्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१९}$ "	महाहिमवत् पर्वत	४२१० $\frac{१०}{१९}$ "
३. हरिक्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$ "	निषध पर्वत	१६८४२ $\frac{२}{१९}$ "
४. विदेह क्षेत्र	३३६८४ $\frac{४}{१९}$ "	नील पर्वत	१६८४२ $\frac{२}{१९}$ "
५. रम्यक क्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$ "	रूषमी पर्वत	४२१० $\frac{१०}{१९}$ "
६. हेरण्यवत क्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१०}$ "		
७. शिखरी पर्वत	१०५२ $\frac{१२}{१९}$ "		
८. ऐरावत क्षेत्र	५२६ $\frac{६}{१९}$ "		

हिन्दू पुराणों में कुलाचलों की संख्या सात बतलायी गयी है जो जैन पुराणों की मान्यता से भिन्न है[५५]।

नदी एंव सरोवर

जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों के बीच स्थित छह कुलाचलों के मध्यभाग में पूर्व से पश्चिम छह विशाल सरोवरों की स्थिति बतलायी गयी है। उनके नाम इस प्रकार

हैं – पदम, महापद्म, तिगिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक एंव पुण्डरीक। इन सरोवरों से चौदह नदियाँ निकली हैं जिनमें सात तो पूर्व सागर में एंव सात पश्चिम सागर में प्रवेश करती हैं[५६]।

उत्तर कुरु एंव देवकुरु

जम्बूद्वीप में विदेह क्षेत्र के आगे वैदूर्यमणि नील कुलाचल एंव सुमेरु पर्वत के मध्य स्थित प्रदेश में उत्तर कुरु एंव सुमेरु एंव निषध कुलाचल के मध्य स्थित प्रदेश में देवकुरु नामक भोगभूमियों की स्थिति बतलायी गयी है[५७] भोगभूमि होने के कारण यहाँ के निवासियों की सभी इच्छाएँ कल्पवृक्षों से पूरी होती थीं इन कल्पवृक्षों की संख्या दस बतलायी गयी है[५८]।

उत्तरकुरु का वर्णन जैनेवर साहित्य में भी मिलता है। महाभारत के अनुसार उत्तरकुरु मेरु के उत्तर में था जहाँ हिमवन्त को पारकर पहुँचते थे[५९]। उत्तरकुरु की स्थिति पामीर पठार के उत्तर में बतलायी गयी है[६०]।

उत्तरकुरु एंव देवकुरु ग्यारह हजार आठ सौ योजन दो कला प्रमाण विस्तृत माने गये हैं। इनकी प्रत्यंचा त्रेपन हजार और धनुपृष्ठ छह हजार चार सौ अठारह योजन बारह कला है। इन दोनों कुरु–प्रदेशों का वृत्तक्षेत्र इकहत्तर हजार एक सौ तैंतालीस योजन तथा एक योजन के नौ अंशों में चार अंश प्रमाण है[६१] देवकुरु की स्थिलि सीतोदा नदी के दूसरे तट पर निषधाचल के समीप स्थित शाल्मलीवृक्ष की दक्षिण दिशा को छोड़कर अन्य दिशाओं में मानी गयी है। इस स्थान पर वेणु एंव वेणुधारी देव निवास करते हैं अतएव वेणधारी देव देवकुरु में इष्ट माने गये हैं[६२]।

धातकी खंड द्वीप

संख्यात द्वीप समुद्रों को पाकर धात–की खण्ड द्वीप की स्थिति बतलायी गयी है। धातकी खण्ड द्वीप का विस्तार जम्बूद्वीप से दुगुना है । इसका विस्तार चार लाख योजन विस्तार वाला चूड़ी के आकार का लवण समुद्र से घिरा हुआ है। इस धातकी खण्ड द्वीप में भी प्रत्येक मेरु की अपेक्षा भारत आदि सात क्षेत्र एंव हिमवान आदि छह कुलाचल है[६३]।

पुष्करद्वीप

कमल के विशाल चिन्ह से युंक्त पुष्करद्वीप कालोदधि को चारों ओर से घेरकर स्थित है। पुष्करद्वीप का अर्धभाग मानुषोत्तर पर्वत से घिरा हुआ है इसलिए इसे पुष्कराद्ध माना गया है[६४]। इष्वाकार पर्वतों से यह पूर्व पुष्कराद्ध एंव पश्चिम पुष्कराद्ध में विभाजित है। मानुषोत्तर पर्वत की परिधि का विस्तार एक करोड़ छत्तीस हजार सात सौ तेरह हैं। इन दोनों खण्डों में धात–की खण्ड द्वीप की भांति मेरु,

पर्वत, क्षेत्र एंव नदियॉ है[६५]। जिस प्रकार जम्बूद्वीप को लवण समुद्र घेरे हैं उसी प्रकार पुष्करद्वीप को पुष्करवर समुद्र घेरे हुए है[६६]।

(४), (५), (६), (७) – **पुष्करद्वीप** के आगे वारुणीवर द्वीप, क्षीरवर द्वीप, धृतवरद्वीप, इक्षुवर द्वीप आदि की स्थिति बतलायी गयी है। जिन्हें इन्हीं के नामानुरुप सागर घेरे हुए हैं[६७]।

नन्दीश्वर द्वीप

नन्दीश्वर सागर नन्दीश्वर द्वीप को चारों और से घेरे हुए स्थित है। नन्दीश्वर द्वीप में नन्दोत्तरा आदि वापिकाओं की स्थिति बतलायी गयी है जो स्वच्छ जल से युक्त रहती। इनकी गहराई एक लाख योजन एंव लम्बाई चौड़ाई जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन है[६८]। तीर्थकर ऋषभ के अभिषेक के समय इन्हीं वापिकाओं से जल लाया गया था[६९]। नन्दीश्वर द्वीप का विस्तार एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन बतलाया गया है[७०]। इस द्वीप की अभ्यन्तर परिधि एक हजार छत्तीस करोड़ बारह लाख दो हजार सात सौ योजन एंव बाह्य परिधि दो हजार बहत्तर करोड़, तेंतीस लाख चौवन हजार एक सौ नब्बे योजन है। ढोल के आकार एंव चौरासी हजार योजन ऊॅचे एंव इतने ही चौड़े तथा एक हजार योजन गहरे विस्तार वाला अज्जन पर्वत नंदीश्वर द्वीप को घेरे हुए है[७१]। नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्गत बावन चैत्यालयों की स्थिति बतलायी गयी है[७२]। विभिन्न उत्सवों पर सौधर्मेन्द्र द्वारा पूजा होने के उल्लेख मिलते है[७३]।

अरुण द्वीप

अरुण द्वीप अरुण सागर से घिरा हुआ है। समुद्र से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त अन्ध ाकार व्याप्त रहता है जिसमें अल्प श्रृद्धिधारी देव दिशाविमूढ़ होकर भटकते रहते हैं[७४]।

कुण्डलवर द्वीप

कुंडलवर द्वीप के मध्य में चूड़ी के आकार के कुण्डलगिरि पर्वत एंव चारों और कुण्डलवर सागर की स्थिलि बतलायी गयी है। कुण्डलगिरि के चारों और चार जिनालय है जो अज्जनगिरि के जिनालयों के समान हैं[७५]।

रुचकवर द्वीप

इसके मध्य में रुचकवर पर्वत है। चारों दिशाओं में चार–चार कूट है। देवों के स्थान पर देवियॉ सुशोभित हैं।

स्वयम्भूरमण द्वीप

इसके मध्य में चूड़ी के आकार वाला स्वयंप्रभ पर्वत है एंव चारों और स्वयंप्रभ

सागर स्थित हैं[७६]।

उर्ध्वलोक

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में स्थित मेरुपर्वत निनन्यावे हजार ऊंचा एंव तीन मेखलाओं से युक्त है। यह चालीस योजन ऊंची चूलिका से सुशोभित है[७७]। मेरुपर्वत की इसी चूलिका से ऊपर उर्ध्वलोक की स्थिति बतलायी गयी है। उर्ध्वलोक में उत्तर एंव दक्षिण दिशा में अलग–अलग १६ कल्पवृक्ष है[७८]। मेरुपर्वत की चूलिका के ऊपर नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश एंव इनसे आगे पॉच अनुत्तर विमानों की स्थिति है। उर्ध्वलोक की अन्तिम सीमा पर ईषत्प्राग्भार भूमि है[७९]।

ज्योर्तिलोक

पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर ज्योर्तिलोक है जिसका विस्तार एक सौ दस योजन है। यह सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त है जिसकी मोटाई एक सौ दस योजन बतलायी गयी है। ज्योर्तिलोक का प्रारम्भ तारा पटल से होता है। तारापटल के ऊपर सूर्यपटल एंव सूर्यपटल से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रपटल और इसके आगे बुध, शुक, गुरु, मंगल, शनेश्वर ग्रहों के पटल स्थित हैं[८०]।

पुराणों में नगर ग्राम आदि का विभाजन स्पष्टतः प्राप्त होता है। जो नगर नदीं एंव पर्वत से घिरा रहता है उसे खेत कहा गया है। केवल पर्वत से घिरे हुए को खर्बट और पॉच सौ गॉवों से घिरे हुए स्थान को मटम्ब संज्ञा दी गयी है। इसी तरह समुद्र के किनारे स्थित एंव नावों द्वारा आवागमन होने वाले स्थान को द्रोण मुख एवं शूद्रों एंव किसानों के निवास स्थान, बाग बगीचों से युक्त एंव बाड़ से घिरे हुए घर जहॉ हो उसे ग्राम कहा गया है[८१]।

राजनैतिक

राज्य की उत्पत्ति

जैन पुराणों में वर्णित राज्य विषयक सिद्धान्त हिन्दू एंव बौद्ध परम्परा से मिलते हैं[८२]। जैन परम्परा में राज्य का प्रारम्भ ऋषभ द्वारा "अव्यवस्था से बचने के लिए एंव प्रजा के रक्षण के लिए चार मांडलिक राजाओं की नियुक्ति से होता है[८३]।

राज्य के अंग

राज्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित राज्य के अंग एंव उपांगों के सम्यक् वर्णन की भांति जैन पुराणों में एक साथ एंव कम से अंग एंव उपांगों का वर्णन नहीं हुआ है। पौराणिक कथानकों में वर्णित राजाओं के पौराणिक आख्यानपरक कथानकों में राजा

एंव राज्य के सप्तांगों का उल्लेख प्राप्त होता है[८४]। सोमदेव इन सप्तांगों को राज्य के लिए परमावश्यक बतलाते हैं[८५]।

राजनीतिक गतिविधि

पुराणों में वर्णित राज्यवंशीय परम्पराओं, उत्सवों, आमोद–प्रमोदों तथा वैभवादि के वर्णनों से जैन जगत में प्रचलित कतिपय राजनीतिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है। राज्य पद की गरिमा के अनुकूल राजा की दिनचर्या का होना नितान्त आवश्यक बतलाया गया है[८६]। जैन धर्म आचार पर विशेष बल देता है इसी कारण राजा के जैन मुनि के समीप पैदल जाने, प्रदक्षिणा करके नतांजलि होकर प्रणाम करने की जानकारी होती है[८७]। जैनाचार्यो श्रमणों आदि का राजकुल में आदर होता था[८८]। राज्यशास्त्रीय ग्रन्थों में राजा के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए धर्म के अभ्युदय हेतू अनुकूल वातावरण के सृजन का उत्तरदायित्व राजा को दिया गया है जिसके निमित्त राजा मन्दिरों में धार्मिक पूजा के लिए आज्ञा प्रसारित करते थे[८९]। जिससे सामान्य जनता पर प्रभाव पड़े और लोग धर्म का आचरण करें।

इसी तरह राजा का प्रजा द्वारा विशेष सम्मान किया जाता था[९०]।

अभिषेक

राज्यतंत्र के मूल में अभिषेक का महत्वपूर्ण स्थान हिन्दू एंव जैन परम्परा में समान रुप से बतलाया गया है। राज्यतंत्र में राजा के राजपदीय जीवन का प्रारम्भ यहीं से होता है। आदि पुराण में तीर्थकर ऋषभदेव के राज्याभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है[९१]। अभिषेक में सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक माना गया है। तीन प्रकार के जल द्वारा अभिषेक करना तीनों वर्णो के प्रतिनिधित्व की और संकेत करता हुआ पाया जाता है[९२]।

अभिषेक के उपरान्त राजा द्वारा पट्टबन्ध बॉधा जाता था। यह पट्टवन्ध चंचला राजलक्ष्मी को स्थिर करने का सूचक माना गया है[९३]। ऋषभदेव द्वारा पट्टबन्ध इत्यादि धारण करने के वृतान्त का वर्णन स्पष्टतः पूर्वमध्ययुगीन अभिषेकीय परम्पराओं की और संकेत करता हुआ पाया जाता है। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय एंव गोविन्द चतुर्थ के पट्टबन्ध महोत्सव के लिए गोदावरी जाने के उल्लेख मिलते हैं[९४]।

अन्तः पुर

राज्यतन्त्र के अन्तर्गत अन्तःपुरीय व्यवस्थाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कूंचकी अन्तःपुर की व्यवस्था करते थे[९५]। अन्तः पुरों में द्वारपालियॉ एंव परिचारिकाऐं रखी जाती थीं[९६] ये रानियों एंव राजाओं की सभी प्रकार की सेवाऐं करती थी[९७]। द्वारपालिकाऐं अस्त्रों से युक्त होकर बाह्य एंव आन्तरिक स्थानों पर पहरा देती थी[९८]।

राजकीय आमोद प्रमोद

पुराणों के कथानक राजाओं के आमोद–प्रमोद का वर्णन करते हैं जो राजकीय जीवन में व्यवहृत होने वाले आमोद–प्रमोदीय पद्वतियों का विश्लेषण करते हुए तत्युगीन जीवन में व्यवहृत होने वाली पद्धतियों की ओर प्रच्छन्न रुप से संकेत करते हुए पाये जाते है। प्रमदोद्यान में झूला, कृत्रिम कीड़ा पर्वत, वृक्षों के झुरमुट, सरोवर मनोविनोद हेतू बनाये जाते थे[९९]। वेश्या, नृत्यकार, बन्दीजन, चारण एंव भाटों का मनोरंजन के साधन के रुप में उल्लेख हुआ है[१००]।

राजाओं की शिक्षा

राज्यतन्त्र के अन्तर्गत युवराजों की शिक्षा का प्राविधान मिलता है। उन शिक्षाओं का यथोचित ज्ञान प्राप्त किये बिना वह न तो राज्यपद का अधिकारी होता था और न ही राजपद के संचालन में अपने को सक्षम पाता था[१०१]। प्रशासकीय गुण एंव ज्ञान के अभाव में अनेक राजाओं का राजपद एंव जीवन से हाथ धोने के दृष्टान्त प्राप्त होते है[१०२]। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एंव दण्डनीति के साथ[१०३] धर्मशास्त्र, कामशास्त्र धर्मतन्त्रश हस्तितन्त्र, छंद, आयुर्वेद, तन्त्र, मंत्र, ज्योतिष आदि विद्याओं का ज्ञान आवश्यक होता था[१०४]। इनके द्वारा ही वह पुरुषार्थो की प्राप्ति एंव शासन को सुचारु रुप से चला सकता था[१०५]।

राजा के कर्त्तव्य

राज्यपद की उत्पत्ति के मूल में कर्त्तव्य की भावना सभी परम्पराओं के सिद्धान्तों में समान रुप से सन्निहित है। राज्यपद के उद्गम के साथ ही साथ राजाओं के कर्त्तव्यों की जो परम्परा प्रारम्भ होती है वह पूर्वमध्ययुगीन राजाओं के जीवन से भी सम्बद्ध रही है। सभी जैन पुराण राजा के कर्त्तव्यों पर थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रकाश डालते हैं। प्रजापालन, प्रजारक्षण एंव प्रजारंजन राजा के आवश्यक कर्त्तव्य थे[१०६]। दुष्ट पुरुषों का निग्रह एंव शिष्ट पुरुषों की रक्षा उसका धर्म था[१०७]। नगरनिर्माण प्राचीन वस्तुओं का रक्षण, अपराधियों को दण्ड, न्यायपूर्वक कर वसूल करना, एंव युवराजों के राजपद के योग्य हो जाने पर आत्मिक चिन्तन एंव दीक्षा धारण कर मोक्ष साधन में अपने को लगा लेना राजाओं के कर्त्तव्य थे[१०८]। अनेक सामन्तों, गुप्तवरों, लेखवाहक, दूतों तथा अन्य प्रशासकों द्वारा राज्य की स्थिति से अवगत होकर अपने व्यवहार का निर्णय किया करता था[१०९]। अपने गुणों एंव कर्त्तव्यों के पालन से राजा देवतुल्य समझे जाते थे।

मंत्रि परिषद

राजकीय कार्यों में राजा को सहयोग देने एंव विचार विमर्श करने हेतू

मंत्रिपरिषद की नियुक्ति होती थी। मन्त्रियों को राज्य के चार मूलभूत स्थिर स्तम्भ माना गया है[११०]। नये राजा की नियुक्ति एंव राज्य कार्य संचालन का भार मंत्रियों पर होता था। विलासिता प्रिय राजाओं द्वारा राज्यभार मंत्रियों पर सोंपने के उल्लेख मिलते हैं[१११]।

मंत्रियों की संख्या आवश्यकतानुसार निश्चित की जाती थी। महामात्य, सचिव, राज्यवृद्ध, बुद्धि सचिव, कार्य सचिव इत्यादि शब्द मंत्रियों के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं[११२]। राज्य एंव राजा के हित साधन में लगे रहना एंव राजकीय कार्यो में राजा के साथ विचार विमर्श करना मंत्रियों के कर्त्तव्य थे[११३]। रावण के मंत्रिमंडल का उल्लेख प्राप्त होता है[११४]। नीतिवाक्यामृत में मंत्रियों के विरुद्ध जाने वाले राजाओं के विनाश की बात कही गयी है[११५]।

राजनैतिक विभाजन

छठी शताब्दी से भारत में एक केन्द्रीय शक्ति का अभाव रहने लगा। पुराणों में माण्डलिक[११६], मण्डलेश्वर[११७], सामन्त[११८] राजाओं का उल्लेख मिलता है। आदिपुराण से मण्डल से पृथक् राजधानी, दोणमुखा एंव खर्पट आदि विभाजन की जानकारी होती है[११९]। राजधानी में आठ सौ, द्रोणमुखा में चार सौ एंव खर्पट में दो सौ ग्रामों की स्थिति मान्य की गयी है। शासन की सबसे छोटी इक्काई गॉव थी। दस गॉवों के **बीच** एक बड़े गॉव की कल्पना की गयी है जिसे "संग्रह" की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है[१२०]। पुराणों में वर्णित राजनैतिक स्थिति राज्यतन्त्र शासन प्रणाली की ओर संकेत करती है।

कर व्यवस्था

पुराणों में राजा द्वारा न्यायपूर्वक एंव व्यावहारिक कर लेने की जानकारी होती है[१२१]।

सैन्य व्यवस्था

राज्य को सुव्यवस्थित रुप से बनाये रखने के लिए राज्य के सप्तांगों में प्रबल सेना का होना आवश्यक बताया गया है। पुराणों में चतुरंगिणी सेना[१२२] (रथ, अश्व, हाथी, पैदल) एंव अक्षोहिणी सेना के उल्लेख मिलते हैं[१२३] चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय यात्रा में सबसे आगे पदाति, फिर अश्व तत्पश्चात् रथ एंव हाथियों की सेना के चलने की जानकारी होती है[१२४]। चतुरंगिणी सेना के उल्लेख सांची एंव भरहुत की उकेरियों में भी प्राप्त होते हैं[४]। आदिपुराण में महाराज वज्र दन्त की षंडाग सेना का उल्लेख मिलता है जिसमें हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, देव एंव विद्याधरों की सेना को सम्मिलित किया गया है[१२५]। पद्मपुराण में भी राजा इन्द्र रावण के साथ अपनी

षंडाग सेना को युद्ध की तैयारी की आज्ञा देता है[१२७]। पुराणों में सेना के मुखिया सेनापति के लिए प्रायः सेनानी शब्द का प्रयोग किया गया है[१२८]। विभिन्न कालों में सेनापति के लिए महादण्डाधिपति, दण्डनाथ, दण्डनायक आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था[१२९]।

युद्ध

पुराणों से दिग्विजय, कन्या द्वारा राजा का वरण करना एंव कन्या अपहरण युद्ध के कारण होने की जानकारी होती है[१३०]। भारतीय परम्परा में युद्धों को सम्पादित करने की अपनी परम्परा रही है। युद्धों के सम्पादनार्थ युद्ध की आचार संहिताऐं प्रचलित रही हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में धर्मयुद्ध प्रशस्त माना गया है[१३१]। आदि पुराण युद्ध विषयक सिद्धान्तों का विश्लेषण तो करता है साथ ही साथ युद्ध के प्रकारों का भी उल्लेख करता है। नेत्र युद्ध, मल्लयुद्ध आदि के विशेष साक्ष्य नहीं प्राप्त होते लेकिन दृष्टियुद्ध, जययुद्ध, बाहुयुद्ध एंव गजयुद्ध के पर्याप्त साक्ष्य प्राप्त होते हैं[१३२]।

युद्ध के लिए राजा मंत्रिपरिषद एंव सेनापति से सलाह लेते थे[१३३]। मित्र राजा अस्त्र शस्त्र, वाहन एंव सेना द्वारा सहायता देते थे[१३४]। युद्ध की तैयारी एंव अभियान के समय रणभेरी शंख, तुरही आदि बजाये जाते थे[१३५] राजपरिवार की साहसी एंव युद्धप्रिय महिलाऐं एंव दासियॉ भी सैनिक अभियान के साथ जाती थीं[१३६]। युद्ध में प्रयोग किये जाने वाले अस्त्र–शस्त्रों एंव आयुधों का विस्तृत उल्लेख पद्मपुराण में किया गया है[१३७]। आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, तामशास्त्र, प्रभास्त्र, नामास्त्र, गरुड़ास्त्र आदि दिव्यास्त्रों[१३८] एंव निद्रा प्रतिवोधनी[१३९] और अनेक विद्याधरों द्वारा साधित विद्याओं के प्रयोगों का भी उल्लेख मिलता है[१४०]। योद्धाओं के वस्त्राभूषणों का भी वर्णन मिलता है जिन्हें वह युद्ध में जाते समय अपने शरीर रक्षा के लिए प्रयोग करते थे[१४१]। युद्धभूमि में योद्धाओं को उत्तेजित करने के लिए विविध वाद्य यन्त्रों द्वारा तुमुलनाद किया जाता था[१४२]। राजा भी युद्ध करते थे[१४३]। जीवित शत्रुओं को बन्दी बनाकर डेरे पर एंव बन्दी राजा को राजा के सम्मुख लाया जाता था[१४४]। किसी महापुरुष की प्रार्थना पर बन्दी राजा को छोड़ देने एंव सम्मान देने के उल्लेख मिलते हैं[१४५]। कभी–कभी द्वीपों के जीते गये राजाओं को वहॉ का अधिकारी बना दिया जाता था[१४६]। दिग्विजय वीरता का द्योतक थी जिसका स्वागत अन्य राजा भेंट लाकर एंव नतमस्तक होकर करते थे। पटहशंख, झर्झर एंव बन्दीजनों के जयनाद द्वारा अभिनंदन किया जाता था[१४७]।

दूत व्यवस्था

कौटिल्य कालीन दूतनीति के अनुसार ही शक्तिशाली राजानिर्बल राजा के

पास अधीनता स्वीकृत करने के लिए दूत भेजता था जो राजा को दूत नीति से समझाता था। पाखण्डपूर्ण शब्दों के प्रयोग की भी जानकारी होती है[१४८]। दूतों की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं[१४९]। दूत को मारना निषिद्ध था उसका अपमान किया जा सकता था[१५०]। अधिक अपमान किये जाने एंव प्रस्ताव के अस्वीकृत कर देने पर शक्तिशाली राजा युद्ध के लिए तैयार हो जाता था[१५१]।

राज्यापराध एंव दण्ड

उपद्रव, लूट, राजद्रोह, विषदान, हत्या, षडयन्त्र अन्तःपुर में उपद्रव करना, हाथी घोड़ों की चोरी, वीरों की हत्या आदि राज्या–पराध एंव कन्याहरण, वेश्यावृत्ति, नागरिकों को लूटना, चोरी आदि सामाजिक अपराधों का उल्लेख पुराणों में मिलता है[१५२]। इन अपराधियों को कठोर दण्ड देने सांकलों से बॉधकर राजदरबार में ले जाने, नगर में घुमाने, चौराहों पर गर्दन, हाथ पैरों को सांकल से जकड़कर धूल फेंकने, अपराधी को राजदरबार में तलवार से दो टुकड़े करने, पानी में विष मिलाकर पिलाने आदि दण्डों के प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१५३]। सर्वप्रथम प्रतिश्रुति कुलकर ने हा, मा, एंव धिक में तीन दण्ड की धाराऐं स्थापित की[१५४]।

पुराण एंव समाज व्यवस्था

जैन धर्म निवृत्तिमार्गी धर्म है। इसकी इस प्रवृत्ति को बदलती हुयी परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होना पड़ा। महावीर के काल में श्रमण परम्परा के अन्तर्गत कर्म एंव तप का महत्व बढ़ गया था जिसने जैन सामाजिक संगठन को काफी प्रभावित किया। जैन समाज में व्यक्ति से ही चारों वर्णो की उत्पत्ति मानी गयी है[१५५]। जैन पुराणों एंव अन्यान्य साहित्य से ज्ञात होता है कि जैन समाजीय आदिम व्यवस्था ब्राह्मण एंव बौद्धों की आदिम व्यवस्था से मिलती जुलती है। भोगभूमि व्यवस्था के नष्ट होने पर कर्मभूमि की स्थापना करके, ऋषभ ने शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की, अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर वैश्यों की एंव दैन्य भाव से सेवा कर्म का उपदेश कर शूद्रों की रचना और उनकी आजीविका के साधनों को उनकी उत्पत्ति के अनुरुप ही निश्चित किया[१५६]। ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति भरत द्वारा की गयी। इनकी अहिंसात्मक एंव बौद्धिक निपुणता से प्रभावित होकर अध्ययन अध्यापन, यजन याजन आदि कार्य ब्राह्मण वर्ण के निश्चित किये[१५७]।

सामाजिक संगठन का आधार

पुराणों में वर्ण विभेद का आधार कर्म अथवा वृत्ति को माना गया है[१५८]। जैन पुराणों में उल्लिखित वर्ण व्यवस्था हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के उल्लेख से मिलती है[१५९]।

ब्राह्मण

जैन धर्म में ब्राह्मणों के लिए हिन्दू धर्म की भांति छः वृत्तियाँ बतलायी हैं यद्यपि ये भिन्नता लिये हुए हैं – इज्या, (अर्हत पूजा) वार्ता (व्यापार) दयादत्ति अनुग्रहयोग्य (पात्रदात्ति) महातपस्वी मुनियों को आहार देना (समदत्ति) श्रद्धापूर्वक सुवर्ण आदि का दान (अन्वयदत्ति शास्त्रों की भावना एंव उपवास करना) ये कर्म ब्राह्मणों के लिए अत्यावश्यक थे। स्मृतियों में ब्राह्मणों को इन छः कर्मो के अतिरिक्त कृषिकर्म की अनुमति दी गयी है[१६०]। दान में प्राप्त भूमि का उपयोग कृषि कर्म द्वारा ही करते थे।

जैन ब्राह्मणों के दस अधिकार बतलाये गये हैं[१६१]। हिन्दू परम्परा की भांति जैन परम्परा में दुष्कर्म एंव अन्याय करने वाला ब्राह्मण अवध्य नहीं क्योंकि जैन धर्म आचार पर अत्यधिक बल देता है। ब्राह्मण जैन राजाओं के पुरोहित होते थे[१६२]। चारित्रिक भ्रष्टता से युक्त ब्राह्मण दुराचरणों द्वारा जीवनयापन करते थे[१६३]। चरित्र से शुद्ध ब्राह्मणों की जैनसमाज में स्थिति अच्छी थी[१६४]। सभी जीवों में समभाव रखना उनकी श्रेष्ठता थी।

क्षत्रिय

तीर्थकर ऋषभ ने कर्मभूमि की स्थापना करके हाथों में शस्त्र लेकर दुर्बलों की रक्षा करना सिखलाया था। क्षत्रियों का मुख्य अधिकार शस्त्र धारण कर प्रजा की रक्षा करना था[१६५]। जैन परम्परा में तीर्थकरों के क्षत्रिय वंश में होने की जानकारी होती है[१६६]। श्रमण परम्परा में क्षत्रिय वर्ण को ब्राह्मण वर्ण से श्रेष्ठ बतलाया गया है[१६७]।

वैश्य

पुराणों में खेती, पशुपालन, वाणिज्य एंव शिल्प द्वारा जीविकोपार्जन करने का विधान किया गया है[१६८]। ब्राह्मणों द्वारा भी वैश्यों के व्यापार कार्य को प्रमुख पेशा मानने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१६९]।

शुद्र

ब्राह्मण क्षत्रिय एंव वैश्य इन तीन वर्णो की सेवा सुश्रूषा आदि इनकी जीविका के साधन थे। इन्हें स्पृश्य एंव अस्पृश्य दो भागों में विभाजित किया गया है[१७०]। आदिपुराण में प्राप्त उल्लेखों में शूद्रों को धार्मिक क्षेत्र में तीन वर्णो की भांति सुविधा न मिलने की जानकारी होती है[१७१]।

इन जातियों के अतिरिक्त इस काल में अनेक जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका कारण समाज में अनुलोम एंव प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन था[१७२]। इसी कारण ऋषभ ने अपने ही वर्ण से सम्बन्धित व्यवसाय को करने एंव उल्लंधन

करने वाले के लिए राजा द्वारा दण्ड देने का विधान किया[१७३]। इसके साथ ही पुराणों में अक्षत्रिय (क्षत्रियेत्तर) वर्णो को क्षत्रिय हो जाने की अनुमति दी गयी है। इस प्रकार का अनुमोदन परवर्ती काल में जैन समाज की अस्त व्यस्तता में क्रमबद्धता लाने के लिए दिया गया। इसमें विशेष रुप से ब्राह्मण वर्ण ने भाग लिया। क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर लेने पर उन्हें ब्रह्म क्षत्रिय की संज्ञा दी गयी है[१७४]।

आश्रम व्यवस्था

जैन परम्परा में आश्रम सम्मुचय, आश्रमविकल्प, एंव आश्रमवाद के सिद्धान्त पाये जाते हैं। आश्रम सम्मुचय में चारों आश्रमों ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एंव सन्यासाश्रम का उल्लेख मिलता है। जिनका पालन करना आवश्यक बतलाया गया है[१७५]।

जैन परम्परा में आश्रम विकल्प पर अधिक बल दिया है जिसमें ब्रह्मचारी से भिक्षु बनने और गृहस्थाश्रम में भिक्षुओं के रहने की अनुमति दी गयी है। जिन्हें क्रमशः मुनि—आर्यिका श्रावक श्राविका कहा गया है।

आश्रमवाद का सिद्धान्त गृहस्थाश्रम की महिमा को बतलाता है जिसमें रहकर व्यक्ति प्रत्येक काम कर सकता है[१७६]। जैन परम्परा में अर्हत एंव तीर्थकरों के शुद्ध वंश में उत्पन्न होने के उल्लेख मिलते हैं[१७७]।

जैन परम्परा में गणों का उल्लेख मिलता है जो हिन्दू पुराणों के चतुर्थ आश्रम से मिलता जुलता है। गण का सर्वप्रथम उदय श्रुतकेवली भद्रवाहु के नेतृत्व में बारह हजार भिक्षुओं के दक्षिण भारत में जाने एंव संगठित रुप में रहने से हुआ।

पुरुषार्थ

जैन परम्परा में धर्म अर्थ, काम एंव मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की कल्पना की गयी है। जैन धर्म निवृत्तिमार्गी एंव आचार प्रधान होने के कारण कर्म एंव पुनर्ज्न्म पर अधिक बल दिया गया है जिसे सम्यक् दर्शन चरित्रज्ञान इन त्रयरत्नों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं[१७८]। धर्म को अर्थ और काम का मूल मानते हुए धर्म को वृक्ष, अर्थ को उसके फल एंव काम को रस की संज्ञा दी गयी है[१७९]। प्रथम तीन गृहस्थ के पुरुषार्थ एंव चतुर्थ सन्यासियों का मूल कहा गया हैं[१८०]। मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति पर जीव पुर्नजन्म आवागमन से मुक्त हो जात्ता था। पुरुषाथों की प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम एंव भिक्षुआश्रम की कल्पना की गयी है।

विवाह

जैन पुराणों में प्राप्त उल्लेखों से अनुलोम विवाह प्रथा की जानकारी होती है[१८१]। सम्पन्नता, शीलता एंव उत्तम परिवारीजन वर की श्रेष्ठता के सूचक थे[१८२]।

स्वयंवर विवाह प्रचलित थे[१८३]।

राज्य परिवारों एंव उच्चवर्गीय व्यक्तियों में बहुपत्नी विवाह प्रचलित थे[१८४]। इसीकारण विवाहित महिलाओं एंव विधवाओं की संख्या अत्यधिक थी। जैन पुराणों में विधवा विवाह के उल्लेख मिलते हैं लेकिन यह सार्वभौमिक नहीं था। पति की मृत्यु के बाद सादा जीवन एंव आजीवन उसी अवस्था में रहने का निर्देश दिया गया है[१८५]। जैन परम्परा में मामाफूफी के लड़के लड़कियों में परस्पर विवाह की प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है[१८६]। दहेज प्रथा प्रचलित थी[१८७]। हिन्दू परम्परा की भांति पुत्र न होने पर पुत्र द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए दूसरा विवाह जैन परम्परा में मान्य नहीं था लेकिन हिन्दू परम्परा में परम्परागत प्रचलित नियोग प्रथा को जैन समाज में भी अपनाया गया। राज्य का उत्तराधिकारी न होने पर साधुओं को धर्मश्रवण के बहाने राजप्रासाद में बुलाकर उनसे सन्तानोत्पति कराने के उल्लेख मिलते हैं[१८८]। कभी कभी पुरुषों द्वारा स्त्रियों का अपहरण करने की जानकारी होती है[१८९]। विवाह की वेदी पर चित्र रचना की जाती थी[१९०]।

यौन नैतिकता

वेश्या सेवन, द्यूत, तथा सुरापान प्रचलित थे[१९१]। राजघरानों में धार्मिक सन्यासियों के गुप्त यौन सम्बन्ध एंव मित्र की पत्नी में आसक्ति होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं[१९२]। नैतिक दृष्टि से पर पुरुष एंव परनारी का परिवार ही श्लाध्य था[१९३]। अनैतिक दृष्टि से गर्भधारण करने वाली स्त्रियों को परिवार से निर्वासित कर दिया जाता था[१९४]।

नारी का स्थान

जैन परम्परा में पुत्रों के समान ही पुत्रियों के साथ व्यवहार करने का निर्देश दिया गया है। स्त्रियॉ मुनिधर्म में दीक्षित एंव श्राविका व्रत को ग्रहण कर सकती थी[१९५] महावीर के अनुयायियों में श्राविकाऐं एंव आर्यिकाऐं भी थीं। पैतृक सम्पति में पुत्र के समान अधिकार रखती थी[१९६]। स्त्रियों को चक्रवर्ती के १४ रत्नों में गिना गया है, जैन ग्रन्थों में स्त्रियों को चौंसठ कलाओं का ज्ञाता कहा गया है। स्त्रियों द्वारा कठोर तप करने की भी जानकारी होती है[१९७]।

स्त्रियों द्वारा खण्डकाव्यों का भी निर्माण किया गया है[१९८]।

राज्य दरबारों में स्त्रियों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक जाने एंव राजा द्वारा उनका सम्मान करने की जानकारी होती है[१९९]। पर्दा प्रथा का अभाव था वे तीर्थस्थानों पर जाती थीं। स्त्रियों द्वारा युद्धादि में जाने एंव प्रति पक्षी को ललकारने के उल्लेख मिलते हैं[२००]।

ऋषभ द्वारा अपनी पुत्रियों को लिपि की शिक्षा देने एंव श्रावक के घर ही शिक्षा व्यवस्था होने के कारण स्त्री शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ[२०१]। राजघरानों की एंव जन सामान्य स्त्रियॉ शास्त्रों में निष्णात एंव कवियत्री मिलती है[२०२]।

पुराणों से विभिन्न नगरों की स्त्रियों के अंग प्रत्यंगों के सौन्दर्य के उल्लेख मिलते हैं। पउनारी की स्त्रियों के चरणतल, सिंहलनगर की स्त्रियों के नख, बेउल्ल की स्त्रियों की अंगुलियॉ, गोल्क की स्त्रियों की एड़ी, कॉची की स्त्रियों की श्रोणि एंव गम्भीर देश की स्त्रियों की नाभि इत्यादि[२०३]। इस तरह विभिन्न गुणों से युक्त नारी के विभिन्न प्रकारों का वर्णन मिलता है।

जैन पर्व एंव उत्सव

जैन परम्परा में अष्टान्हिका महापर्व एंव नन्दीश्वर अष्टान्हिका महोत्सवों का विशेष महत्व है ये उत्सव अत्यन्त धूमधाम से मनाये जाते थे। पर्वो एंव उत्सवों पर जिनेन्द्र प्रतिभा का अभिषेक किया जाता एंव उनकी अष्टविधि पूजा की जाती थी[२०४]।

शकुन, अपशकुन की मान्यताऐं

जैन पुराणें से प्रस्थान कालिक मंगलों एंव मंगलाचरण करने की जानकारी होती है। जाने वाले व्यक्ति के आगे सपल्लवमुख पूर्ण कुम्भ रखा जाता था[२०५]। दाये अंग का फड़कना शुभ माना जाता था। प्रस्थान करते समय अनेक शकुन अपशकुन होने के वृतान्त मिलते हैं[२०६]।

धार्मिक

पुराणों के अनुसार मोक्ष मार्ग के लिए सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एंव अहिंसा से युक्त धार्मिक अनुष्ठानादि ही जैन धर्म है[२०७]। पद्मपुराण के अनुसार जैनधर्म का मूल है दया और उसका मूल है अहिंसा[२०८]।

निवृत्तमार्गी एंव परलोकवादी धर्म होने के कारण जैन धर्म में प्राणीमात्र का यथार्थ रुप में वर्गीकरण, ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त, स्याद्वाद एंव सप्तभंगी, संयम प्रधान नीतिशास्त्र (आचारशास्त्र) एंव क्रियात्मक आचार शास्त्र का दार्शनिक कल्पना के साथ मिश्रण देखने को मिलता है[२०९]। जैन धर्माचार्यो ने लौकिक एंव पारलौकिक सुख की प्राप्ति धर्म द्वारा बतलायी है। सर्वसाधारण को धर्म में प्रवृत्त कराना ही जैनाचार्यो का प्रमुख उद्देश्य रहा है। जैनाचार्य समन्तभद्र ने जैन धर्म को प्राणियों को सांसारिक कष्टों से छुड़ाकर उत्तम सुख में नियोजित करने वाला माना है[२१०]।

त्रयरत्न

सम्यक् ज्ञान, चारित्र एंव दर्शन मोक्षमार्ग के साधन हैं। समन्त भद्र इन्हें दुख से छूटने एंव सुख प्राप्त करने का साधन मानते हैं[२११]।

सम्यक् दर्शन

सांसारिक मिथ्याभावों का ज्ञान होना एंव ज्ञान की सत्यता पर दृढ़ आस्था ही सम्यक् दर्शन है। जैन दर्शन में मूलतः दो तत्व हैं जीवएंव अजीव। इन दोनों का विस्तार पॉच आस्तिकाय, छः द्रव्य, सात या नौ तत्व के रुप में पाया जाता है[२१२]।

सम्यक् ज्ञान

तीर्थकर महावीर द्वारा उपदिष्ट ज्ञान सम्बन्धी धर्मोपदेश ही सम्यक्ज्ञान है[२१३]। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यायः एंव केवल के भेद से यह सम्यक् ज्ञान के पॉच प्रकार हैं[२१४]।

सम्यक् चरित्र

अच्छा व्यवहार ही सम्यक् चरित्र है। आस्त्रव, संवर, विरति, निर्जरा, आदि सम्यक् चरित्र के अंग हैं[२१५]।

बन्धन के कारणों को आत्मा की और से आने को आस्त्रव कहते हैं। आत्मा को दुख देने वाले कोध, मानाभिमान्, मायाकपट एंव लोभ ये चार कषाय ही कारण हैं। आस्त्रव को रोकना अर्थात् कर्मो को न आने देना संवर हैं। बंधे हुए एंव आने वाले कर्मों से छूटने के लिए जीव को जो तपश्चर्या, धार्मिक अनुष्ठानादि करने पड़ते हैं। महाव्रत गुणव्रत, शिक्षाव्रत, गुप्तियॉ, एंव समितियॉ आदि अनेक नियम इसके अन्तर्गत आते हैं[२१६]।

मुनिआचार एंव श्रावकाचार

अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में भोगभूमि व्यवस्था में धर्मकी कोई सत्ता नहीं थीं। किन्तु तीर्थकंर ऋषभ द्वारा कर्मभूमि की स्थापना होने पर उनके द्वारा आजीविका के साधनों का उपदेश दिया गया[२१७]। ऋषभ ने प्रत्येक कार्य में अहिंसामूलक व्यवहार का उपदेश देकर अहिंसा को ही धर्म बतलाया। अहिंसा अर्थात् धर्म की रक्षा के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एंव अपरिग्रह इन चार अन्य धर्मो का पालन आवश्यक बताया। इसी का एक देश से गृहस्थ पालन करते हैं और सवदेश से मुनि पालते हैं। ये ही गृहस्थ एंव मुनियों के धर्म हैं[२१८]।

जैन परम्पराओं एंव साहित्य से ज्ञात होता है कि जैन धर्म आचार प्रधान धर्म

है यह मुनि आचार पर अधिक बल देता है। आचार से सम्बन्धित व्रतों के धारक महाव्रती कहे जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एंव अपरिग्रह का पालन करना ये पंच महाव्रत एंव अणुव्रत हैं[२१९]।

अहिंसा

मुनियों एंव गृहस्थों के लिए मनसा, वाचा कर्मणा सभी प्रकार से हिंसा का त्याग आवश्यक है[२२०]। अहिंसा परमो धर्मः मानकर जैन धर्म अहिंसा की व्याख्या करता है। तत्वार्थ सूत्र में प्रमाद, मन, वचन एंव काय के योग से होने वाले प्राणों के धात को हिंसा कहा गया है। इसी कारण छहों काय के जीव की हिंसा न करने, के लिए काम, क्रोध आदि भावों को न आने देने एंव रात्रि भोजन न करने का निर्देश दिया गया है[२२१]।

जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं – स्थावर एंव त्रस[२२२]। चलने फिरने वाले – मनुष्य पशु पक्षी त्रस जीव एंव पृथ्वी रुप, जल रुप, अग्नि रुप, वायुरुप एंव वनस्पति रुप जीव हैं उन्हें स्थावर कहा गया है। गृहस्थ स्थावर जीव की हिंसा से नहीं बच सकते। त्रसों की हिंसा चार प्रकार की बतलायी गयी है – संकल्पी, आरम्भ, उद्योगी, विरोधी। अतएव जैन श्रावकों को संकल्पी हिंसा का त्याग करने एंव अन्य हिंसाओं से बचने का निर्देश दिया गया है[२२३]।

सत्य

मुनियों के लिए प्राणों पर संकट आने पर भी सत्य पर अडिग रहना उनका सत्य महाव्रत है। जैन आगम ग्रंथों में कहा गया है कि सत्य का आश्रय लेने वाला मृत्यु से तैरकर भी पार हो जाता है[२२४]। हिंसात्मक एंव पीड़ात्मक सत्य बोलने को त्याज्य बतलाया गया है[२२५]। क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का परित्याग एंव शास्त्रों के अनुसार कहे गये वचनों को सत्यमहाव्रत के अन्तर्गत लिया गया है[२२६]।

जैन सिद्धान्तों के अनुसार श्रावक को सत्याणुव्रत का पालन करना आवश्यक बताया गया है[२२७]। प्राणों पर संकट आ पड़ने पर श्रावक को झूठ बोलने की अनुमति तो दी गयी है लेकिन प्रायश्चित आवश्यक माना गया है।

अचौर्य

बिना दिये हुए किसी की कोई वस्तु न लेना अचौर्य महाव्रत कहा गया है[२२८]। जैन भिक्षु को आवश्यकतानुसार दोषरहित वस्तु लेने का निर्देश दिया गया है[२२९]। परिमित एंव तपश्चरण योग्य आहार श्रावक की प्रार्थना पर विधि के अनुसार लेना इस महाव्रत के अन्तर्गत आता है[२३०]। चोरी का धन, पराये धन की लिप्सा, दूसरे को

दुख देने एंव लोभ की जड़ है[२३१]।

श्रावकों के लिए इस अणुव्रत का पालन आवश्यक बतलाया है[२३२]। इस व्रत द्वारा जैन समाज में सत्यता ईमानदारी एंव निस्पृहता की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्य

जैन भिक्षु अन्तरंग एंव बहिरंग सभी प्रकार के अपरिग्रह के त्यागी होते हैं। पूर्वभोगों की स्मृति, स्त्रियों की संगति एंव गरिष्ठ भोजनादि, विलासी वस्तुओं का पूर्णरुपेण परित्याग करके एकान्त सेवन आवश्यक बतलाया गया है[२३३]। क्योंकि ब्रह्मचर्य ही उत्तम तपस्या, नियम, ज्ञान, चरित्र, संयम एंव विनय का मूल है[२३४]।

जैन धर्म पुरुषों एंव स्त्रियों को काम वासनाओं पर नियन्त्रण रखने का उपदेश देता है। परस्त्रियों में राग छोड़कर अपनी स्त्रियों में ही सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है[२३५]।

अपरिग्रह

सांसारिक वस्तुओं एंव आभ्यन्तर काम, कोध, मद, मोह आदि भावों का त्याग ही अपरिग्रह महाव्रत है। सजीव या निर्जीव वस्तुओं का संग्रह करने या कराने से दुख प्राप्त होते हैं[२३६]।

न्यायोचित धन में सन्तुष्ट रहने एंव स्वर्ण दास, गृह, खेत आदि पदार्थो के परिमाण बुद्धिपूर्वक कर लेना ही श्रावकों का अपरिग्रहाणुव्रत है[२३७]।

पॉच समिति

पौराणिक साहित्य से ज्ञात होता है कि महाव्रतो के पालन के साथ ही जैन श्रमण एंव श्रावकों को पॉच समिति – ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण एंव उत्सर्ग का पालन करना आवश्यक था[२३८]।

तीन गुप्तियॉ

राग, काम, कोध आदि विषयों से आने वाले दोषों से जैन भिक्षु अपनी रक्षा करते थे। वे तीर्थकरों की स्तुति के साथ ही दोषों के शोधन, तप की वृद्धि एंव कर्मो की निर्जरा के लिए कायोत्सर्ग करते। इसके लिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, एंव काय गुप्ति का पालन अनिवार्य होता था[२३९]।

महाव्रतों, समितियों एंव गुप्तियों के साथ ही जैन भिक्षुओं का अन्यान्य नियमों का पालन करना आवश्यक था[२४०]।

१, स्नान न करना, गृहस्थ के घर जाने पर गृहस्थ स्वयं उनका शरीर पोंछ देते हैं।

२, दन्तमंज्जन न करना। भोजन के समय ही दन्तशुद्धि एंव मुखशुद्धि करते है।

३, पृथ्वी पर सोना एंव खड़े होकर भोजन करना, वह भी सूर्य अस्त होने से पूर्व एक बार।

४, नग्न रहना।

५, केशलोंच करना

तप एंव योग

पौराणिक साहित्य से कठोर तप द्वारा ही मोक्ष एंव केवल ज्ञान प्राप्त करने की जानकारी होती है[२४१]। अपभ्रंश पउम चरिउ में चौबीस तीर्थकरों द्वारा विभिन्न वृक्षों के नीचे कठोर तप द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है[२४२]। पुराणों में अहिंसा, संयम एंव तप रुप धर्म को ही उत्कृष्ट मंगल बताया गया है। मुनियों का तप अन्तरंग एंव बहिरंग के भेद से बारह प्रकार का बतलाया गया है।

आभ्यन्तर (अन्तरंग) तप[२४३]

मन का नियमन करने के लिए जैन भिक्षु अन्तरंग तपों को अपनाते । प्रायश्चित, विनय, वेयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एंव ध्यान आभ्यन्तर तप के प्रकार है।

बहिरंग तप[२४४]

मुनि आचार का सम्यक् रुप से पालन करने के लिए बहिरंग तप किया जाता। उपवास, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्त शय्यासन एंव कायक्लेश बहिरंग तप के प्रकार हैं।

तप के द्वारा ही अणिमा, महिमा, गरिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य इंशिख एंव वशित्व इन आठ प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव है[२४५]। बारहवें बलभद्र एंव बसुदेव द्वारा बारह अनुप्रेक्षाओं एंव बाइस परीषहों को जीतकर कठोर तप करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। आदि पुराण में इन बारह तपों के अतिरिक्त तप्तधोर, महाधोर, उग्र, महाउग्र एंव दीप्त इत्यादि तपों का भी उल्लेख मिलता है[२४६]।

जैन परम्परा में कर्मो के संवर तथा निर्जरा को योग कहा जाता है। योग में मन, वाणी एंव कर्म से शारीरिक एंव लौकिक सभी मनोविकारों को रोककर

एकाग्रता धारण की जाती है[२४७] मुनि तप द्वारा योग साधना में प्रवृत्त होते[२४८]। तीर्थकर महावीर ने योग में प्रवृत्त होने से पूर्व बाह्य एंव आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप किये थे[२४९]। हरिवंश पुराण में महावीर द्वारा आतापन योग से आरुढ़ होने का उल्लेख मिलता है[२५०]।

पुराणों में योगासनों का भी उल्लेख मिलता है। जैन परम्परानुसार विषम आसन में बैठने से मन में एकाग्रता नहीं आ पाती है[२५१]। पर्यकं एंव कायोत्सर्ग नामक आसन को सुखासन माना गया हैं मन वचन तथा काय का निग्रह करना एंव शुभाशुभ की भावना रखना प्राणायाम कहलाता है। धर्म तीर्थ के प्रवर्त्तक जैन तीर्थकरों की मूर्तियॉ पद्मासन एंव खडगासन में भी पायी जाती है। ये आकृतियॉ आत्मध्यान में लीन योगी की तरह ही हैं। भगवद्गीता में भी योगाभ्यासी का वर्णन मिलता है[२५२]।

योग के विभिन्न आसनों की तरह ही समाधान, अध्ययन, धारणा, ध्येय और ध्यान इत्यादि भी योग के अंग है। योग की परम्परा का विकास जैन भिक्षुओं की तपस्यापरक प्रवृत्तियों से ही हुआ।

ध्यान

तप में आने वाली बाधाओं एंव चित्त की शुद्धि के लिए ध्यान नामक किया की जाती थी। जैन परम्परा में ध्यान के चार भेद बतलाये गये हैं – धर्म, शुक्ल, आर्त्त एंव रौद्र ध्यान। धर्म एंव शुक्ल ध्यान को मोक्ष का कारण होने के कारण इन्हें प्रशस्त माना गया है। इन्द्रियों तथा रागद्वेषादि भावों से मन का निरोध करके धार्मिक चिन्तन में लगाातार जैन भिक्षु धर्मध्यान करते थे। आज्ञाविचय, उपाय विचय, विपाक विचय एंव संस्थान विचय के भेद से धर्म ध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है[२५३]। शुक्ल ध्यान केवल ज्ञान की चरम अवस्था में ही होता था। पृथक्त्व विचार तथा एकतत्व तर्क विचार के भेद से दो भागों में विभक्त किया गया है[२५४]। धर्मध्यान की तरह ही शुक्ल ध्यान द्वारा कमशः आत्मा उत्तरोत्तर कर्ममल से रहित होकर अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त करती है। आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धों के आत्मज्ञान का रुप धारण् कर लेता है।

प्रायश्चित

मुनि आचार एंव श्रावक आचार का पूर्णरुपेण पालन न करने पर मुनियों एंव श्रावक श्राविकाओं द्वारा प्रायश्चित करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनमें निर्दोष मुनियों के साथ भोजन न करने, चर्या के लिए न जाने, पीछी, कमण्डलु अलग रखने एंव उपवासादि रखने आदि कृत्य किये जाते थे। जैन पुराण विवेक, तप, छेद, परिहार एंव स्थापना द्वारा प्रायश्चित करने का अनुमोदन करते हैं[२५५]।

श्रावकाचार

निवृत्तिमूलक मुनिधर्म या आचार की भांति ही श्रावकाचार या धर्म कुछ प्रवृत्तिमूलक होता है। पूर्वमध्ययुगीन लौकिक एंव पारलौकिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा तत्युगीन प्रवृत्तिमूलक धर्म की विशेषता है। धर्म द्वारा ही लौकिक एंव पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है। जैन संध मुनि, आर्यिका, श्रावक एंव श्राविका इन चार भागों में विभक्त था। श्रावक संध ही मुनि संघ का आधार है। जैन श्रमणों एंव तीर्थकरों ने श्रावकाचार के अन्तर्गत बारह प्रकार के व्रतों का उपदेश दिया। इन बारह व्रतों में पॉच अणुव्रतों, चार शिक्षाव्रतों एंव तीन गुणव्रतों का पालन करना होता है[२५६]।

पॉच अणुव्रतों[२५७] अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन एंव अपरिग्रह का जैन श्रावकों के लिए करना आवश्यक बतलाया गया है जिनका उल्लेख मुनियों के पॉच महाव्रतों के साथ किया जा चुका है।

गुणव्रत

श्रावकों को तृष्णा एंव संचयवृत्ति पर नियन्त्रण, इन्द्रियलिप्सा का दमन एंव दानशील बनने के लिए अणुव्रतों के साथ गुणव्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है। दिग्व्रत, देशव्रत, एंव अनर्थदण्ड से तीन गुणव्रतों का उल्लेख जैन पुराणों में प्राप्त होता है[२५८]।

दसों दिशाओं में गमनागमन, आयात निर्यातादि अपने कार्य कलापों को सीमित करना दिग्व्रत नामक गुणव्रत है। दिग्व्रत के अन्दर समुद्र, नदी, पहाड़ी, पर्वत व ग्राम एंव दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाऐं बॉधकर अपना सम्बन्ध कुछ विशेष स्थानों से रखना देशव्रत गुणव्रत है। अनर्थदण्ड गुणव्रत को धारण करने पर पापात्मक चिन्तन एंव उपदेश, अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसादान एंव दुःश्रुति इन पॉच अनर्थदण्डों का गृहस्थ सर्वथा त्याग करता है। इन तीन व्रतों के पालन करने से मूलव्रतों के गुणों में वृद्धि होती है इसी कारण इन्हें गुणव्रत कहा जाता है[२५९]।

शिक्षाव्रत

जैन पुराणें में प्रयत्नपूर्वक सामायिक करना, प्रौषधोपबास धारण करना, अतिथि संविभाग और आयु के क्षय होने पर सल्लेखना धारण करना, इन चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया गया है[२६०]।

सामाजिक व्रत में गृहस्थ को प्रतिदिन मध्यान्ह एंव सन्ध्या में कुछ समय तक मन, वचन एंव कर्म को स्थिर रखकर परमात्मा एंव मोक्ष आदि आध्यात्मिक चिन्तन करना होता है।

प्रौषधोपवास के अन्तर्गत प्रत्येक अष्टमी एंव चतुर्दशी को गृह व्यापारादि एंव खानपान त्यागकर जप एंव स्वाध्याय में दिन व्यतीत करना आवश्यक माना गया है[२६१]।

त्रयरत्नों से युक्त एंव परिग्रह से रहित मुनि पहले बिना समय निर्दिष्ट किये गृहस्थ के घर जाता है तब वह अतिथि कहलाता है। ऐसे अतिथियों को प्रेमपूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार लोभरहित होकर भोजन कराने एंव उपकरण आदि देना अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है[२६२]।

समाधिमरण शिक्षाव्रत मुनि एंव गृहस्थ दोनों के लिए ही आवश्यक बतलाया गया है। मुनि एंव श्रावक सभी मनोविकारों से मुक्त होकर, शुद्ध मन के द्वारा अपने सभी पापों का प्रायश्चित करके एंव महाव्रतों को अपनाकर समाधिमरण कर लेते हैं[२६३]। सल्लेखना प्रायः मुनि अवस्था प्राप्त होने पर की जाती है।

ग्यारह प्रतिमाऐं

गृहस्थ को छोड़ने में असमर्थ श्रावक एंव श्राविकाओं के लिए जैन धर्म में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्थान दिया है। जिनमें श्रावक एंव श्राविकाऐं अपने श्रावकाचार का पालन करती।।

१, दर्शन २, व्रत ३, सामायिक ४, प्रोषधोपवास ५, संचित त्याग प्रतिमा ६, ब्रह्मचर्य प्रतिमा ७, आरम्भ त्याग प्रतिमा ८, परिग्रहत्याग प्रतिमा ९, अनुमति त्याग प्रतिमा १०, उदिष्ट त्याग प्रतिमा एंव ११, दिवामैथुन त्याग प्रतिमायें हैं[२६४]।

बारह अनुप्रेक्षाऐं

पुराणों में श्रावक के अनासक्ति योग के लिए बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाऐं बतलायी गयी है। कृष्ण के प्राणरहित होने पर अखण्डचरित के धारक बल्देव द्वारा अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२६५]। अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, संसार, त्रिलोक, निर्जरा, दासधर्म एंव बोधि अनुप्रेक्षाये बारह अनुप्रेक्षाऐं हैं[२६६]।

इन अनुप्रेक्षाओं द्वारा संसार को क्षणभंगुर बताकर, कषायों से रहित होकर सत्कर्मों को करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन द्वारा ही बाइस परीषद रुपी शत्रुओं को जीता जा सकता है[२६७]।

पंच परमेष्ठी एंव पूजा

जैन धर्म के अर्न्तगत अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एंव साधु को पंच परमेष्ठी कहा गया है। आदिपुराण में लोकोत्तम परमेष्ठी एंव अरहन्त परमेष्ठी का

उल्लेख किया गया है[२६८]। राग, द्वेष, काम, कोध आदि दोषों से रहित एंव त्रयरत्नों से युक्त प्राणी ही जैनधर्म में साधु–आचार्य, उपाध्याय, सिद्ध तथा परमेष्ठी कहा गया है[२६९]।

जैन परम्परा में पूजा के चार प्रकार बताये गये हैं – १, नित्यपूजा २, चतुर्मुख पूजा ३, कल्पद्रुम एंव अष्टान्हिका पूजा[२७०]। ग्राम, भूमि आदि का दान, मन्दिर, निर्माण उनकी व्यवस्था एंव गन्ध, पुष्प अक्षत से जिनेन्द्र की प्रतिदिन पूजा करना नित्यपूजा कही जाती है। राजाओं द्वारा किये जाने वाले महायज्ञ चतुर्मुख पूजा, एंव चक्रवर्तियों द्वारा सब प्राणियों की इच्छाओं को पूर्ण करने को कल्पद्रुम पूजा कहा गया है[२७१]। अष्टान्हिका पूजा सभी साधारण व्यक्तियों द्वारा की जा सकती है। जिनसेन की तरह आचार्य रविषेण ने भी जिनपूजा का उल्लेख किया है[२७२]।

पुराणों में पूजन में प्रयुक्त होने वाली आठ वस्तुओं का उल्लेख किया गया है जिसके कारण इसे अष्टविधि पूजा कहा गया है। इन्द्र द्वारा जिनेन्द्रदेव की अष्टविधि पूजा करने के उल्लेख मिलते हैं[२७३]। पूजा की ये आठ वस्तुयें जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप एंव फल निवृत्तिमूलक जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुरुप अपना अपना एक विशेष सांकेतिक अर्थ रखते हैं। जैन परम्परा में इन आठों वस्तुओं को पुनः एक साथ मिलाकर चढ़ाने को अर्घ्य कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु से पूजन करते समय अलग–अलग मंत्रों का उच्चारण करने एंव मंत्रों द्वारा कार्य की सिद्धि होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२७४]।

दान

धार्मिक प्रवृत्तियों की वृद्धि के साथ ही धार्मिक कृत्यों में भी वृद्धि हुयी। जैनधर्म के अन्तर्गत दान को धर्म का विशेष अंग माना गया है। जैन भिक्षुओं को गृहस्थों से प्राप्त शुद्ध भोजन को करने का विधान बतलाया गया है। आदिपुराण में दान के महत्व का उल्लेख किया गया है[२७५]। अभय आहार, औषध एंव शास्त्र दान ये दान के चार प्रकार कहे गये हैं। अभयदान का पालन मुनियों एंव श्रावकों के लिए अत्यावश्यक बतलाया गया है क्योंकि इसी के द्वारा अहिंसा महाव्रत का पालन सम्भव है। राजाओं द्वारा अपने राज्य में विशिष्ट उत्सवों एंव पर्वो पर हिंसा निषेध करने एंव प्रजा को उसका पालन करने के आदेश देने की जानकारी होती है[२७६]।

जैनधर्मानुयायी राजाओं एंव व्यक्तियों द्वारा जैन भिक्षु भिक्षुणियों के लिए आहार एंव आवासादि की व्यवस्था करने के उल्लेख मिलते हैं। इसके साथ ही जैन भिक्षुओं को एक जनपद से दूसरे जनपद में घूमते हुए अनेकानेक कष्टों एंव बीमारियों का सामना करना होता था। जैन भिक्षु स्वाध्याय भी करते अतएंव उन्हें औषधि एंव शास्त्र दान देने का विधान बतलाया गया है। इन दानों में अभयदान जैन धर्म की

अपनी विशेषता है।

दान देते समय दान, देय और पात्र पर विशेष ध्यान दिया गया है। पुराणों में सत्पात्र को दान देने से स्वर्ग एंव मनुष्य गति प्राप्त होने एंव अपात्र को दान देने से तिर्यक एंव नरक गति प्राप्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२७७]।

पुराणों में प्राप्त मुनि आचार, श्रावकाचार एंव धर्म के सिद्धान्तों से ज्ञात होता है कि तीर्थकंरों द्वारा उपदिष्ट धर्म जो आगमों में वर्णित हुआ है वह पुराणों में आचार एंव सिद्धान्तों का रुप धारण कर लेता है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. आ० पु० प्रथम भाग २/११०– १११
२. आ० पु० १/२१–२६
३. आ० पु० पृ० २१
४. आ० पु० २४/२५ ह०पु० १/७०
५. म० पु० भाग १ पृ० ३२
६. प० च० पृ० ८, प० पु० १/२१–२४
७. अरंहतों, चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों, चारणों, प्रज्ञाश्रमणों, कौरवों, इक्ष्वाकुओं, काशिकों, वादियों, हरिवंश एंव नाथ वंश।
८. षट्खण्डागम भाग १ पृ० ११२
६. आ० पु० २/३८
१०. विष्णुपुराण खण्ड ३ ६/२५–२६
११. आ० पु० ३/१४–२१
१२. आ० पु० १६/२५६–२५७
१३. आ० पु० १६/२६०
१४. भा० पु० १२/७/१६
१५. आ० पु० १६/२५५
१६. आ० पु० ३/६३–१६५
१७. आ० पु० ३/२३०
१८. आ० पु० ४/३, २/३८
१६. आ० पु० ४/४१
२०. सु० म० ग्र० पृ० ७१
२१. आ० पु० १/१५२
२२. आ० पु० १/१

२३. ह० पृ० ४/३–४
२४. ह० पु० ४/५–६
२५. ह० पु० ४/१०
२६. ह० पु० ४/४६
२७. महाभारत के अनुसार मेरु के पूर्व में सीता एंव पश्चिम में वंसु नदियाँ बहती हैं।
२८. प० पु० ३/३२
२९. प० पु० ५/१५९
३०. ह० पु० ५/१७७
३१. ह० पु० ५/४–५
३२. आ० पु० ४/४८–४९
३३. ह० पु० ५/६–७
३४. ह० पु० ५/८–११
आ० पु० ४/४९
३५. ह० पु० ५/१७
३६. ह० पु० ५/४३
३७. आ०पु० १८/१४९, ह०पु० ५/२०
३८. प० पु० ३/३८
३९. ह० पु० ५/२६–२८
४०. आ०पु० १२/८
४१. भा० पु० ५/४७, वा० पु० ३३/५२
४२. ह० पु० ५/१२–१४
४३. ह० पु० ५/५७
४४. ह० पु० ५/७४–७९
४५. ह० पु० ५/९१–९६
४६. ह० पु० ४/४९
४७. ह० पु० ५/१५–१६
४८. ह० पु० ५/५३–५६
४९. ह० पु० ५/७१–७३
५०. ह० पु० ५/८८–९०
५१. ह० पु० ५/९९–१०१
५२. ह० पु० ५/१०२
५३. ह० पु० ५/१०५–१०८

५४. ह० पु० पृ० ७१
५५. भा० पु० अ० ७, पृ० १३६
५६. अ० पु० ५/१२३–१२६, विस्तृत वर्णन पृ० ६०–८१
५७. आ० पु० ३/२४, ह० पु० ५/१६७
५८. आ० पु० ३/३८–४०, ह०पु० ७/८१
५९. आ० पु० का सा० अ० पृ० ३३
६०. आ० पु० ३/२८–३४
६१. ह० पु० ५/१७०
६२. ह० पु० ५/१८९–१९०
६३. ह० पु० ५/४९०
६४. ह० पु० ५/२७७
६५. ह०पु० ५/५७६–५९४
६६. ह०पु० ५/६१३
६७. ह०पु० ५/६१४–६१५
६८. ह०पु० ५/६५७
६९. आ० पु० १६/२१४
७०. ह०पु० ५/६४७
७१. ह० पु० ५/६५२–६५३
७२. आ० पु० ५/२९२
७३. ह० पु० ५/६७९–६८०
७४. ह० पु० ५/६८५
७५. ह० पु० ५/६८६–६९८
७६. ह० पु० ५/७३१
७७. ह० पु० ५/२८३–२८४
७८. ह०पु० ६/३५–३८
७९. ह० पु० ६/३९–४१
८०. त्रि० सा० ३३२
८१. आ० पु० १६/१६४–१७३
८२. म० शा० प० अध्याय ५८, दीघ निकाय भाग ३ पृ० ८४–८५
८३. आ० पु० १६/२५५
८४. प० पु० २६/२२, ५५/८३–८९, ८/४६७–४६८, ४/६१–६६
८५. नीं० वा० अ० १७–१८
८६. प० पु० ३/१–५, ३५, २/२१९/२२०, २५३, १०/५७

८७. प०पु० ३/१३–१५
८८. प०पु० १०/१४२, २६/८७
८९. प०पु० ६६/२१
९०. प० पु० २६/४२
९१. आ० पु० १६/२२३–२३१
९२. आ० पु० १६/२२७
९३. आ० पु० १६/२३२–२३३
९४. द्वयाश्रय काव्य २/१०६, ३/११५
आ० पु० परिशिष्ट ५६–५७
९५. प०पु० २६/४१
९६. प० पु० २८/८
९७. प० पु० ३/११४, १५ प० च० (विमलसूरि) २३/८
९८. प० पु० ३/११७
९९. प० पु० ५/२९७–३०४, ६/२२७–२३१, ६/३३५
१००. प० पु० २/३६–४३
१०१. नी० वा०पृ० ५६
१०२. भा० पु० ४/१४/३४
१०३. आ० पु० ४/१३६, ४१/१३६ भरत द्वारा इन शिक्षाओं को प्राप्त करने का उल्लेख
१०४. आ० पु० ४१/१४१–१४८
१०५. आ० पु० ४१/१७६–१७८
१०६. आ० पु० ४१/९७, प० पु० २६/२२
१०७. आ० पु० ४१/१००, ४२/१९९
१०८. आ० पु० १७/९१
१०९. प०पु० ६/५३८, १२/७९–८१, १०/२०–२२
११०. आ० पु० ५/१२, ५/१९१, पंचतन्त्र पृ० ६६
१११. इं० अं० जिल्द ३ पृ० १२२, १३४, १४४
११२. प्र० चि० पृ० ७८, ति० मं० पृ० ३३
११३. शि० व० २/२, आ० पु० ४/१६४
११४. अ० प० च० (स्वयम्भू) ४२/११
११५. नी० वा० पृ० १०८
११६. आ० पु० १६/२५६–२६२
११७. आ० पु० २८/२४

११८. ए० इं० जिल्द ६पृ० २३, ए० इं० जि० ४ पृ० ३०६
११६. आ० पु० १६/१७०—१७४
१२०. आ० पु० १६/१७५
१२१. आ० पु० १६/२५४
१२२. प० पु० ६६/५१—५६, ६/६८, प० च० (स्वयंम्भू) २५/१४/१—१० भाग २, २५/१६/८ ह० पु० २/७०
१२३. प० पु० ५५/३६, प० च० (स्वयंम्भू) ४३/६/१
१२४. आ० पु० २६/७७, ८/४१
१२५. सांची फु० १५
१२६. आ० पु० ६/११३
१२७. प० पु० १२/१८२—१८४
१२८. आ० पु० २६/८२, ३०/१११
१२६. हिस्ट्री ऑफ मिडिएवल इंडिया जिल्द १ पृ० १४२—५५
१३०. प० पु० ६/४२७—४३३, ६/१५—१६
१३१. प० पु० ६३/२८—३६
१३२. प० पु० ४/७१—७२, ८/४५१
१३३. प० पु० ५५/२, प० च० (स्वयंम्भू) ४८/५/५, भाग ३
१३४. प० पु० ५५/८३—८६
१३५. प० पु० ५५/३—५
१३६. आ० पु० २७/११८—११६, ए० इं० जिल्द १८ पृ० २४४
१३७. प०पु० १०/११२, १२/१३४, १३६, २१२, २५७, ५०/३२, ३७, ५२/४०, ६२/७, ७३/१७४ आ० पु० ३७/१६१, १६७
१३८. प० पु० १२/३२४—३३६, प०च० ४८/१२/१
१३६. प० पु० ६०/६०—६२
१४०. प०च० (स्वयंम्भू) भा०३, ५६/७/१—६
१४१. प०पु० १२/१८८, ४४/५६, १०/११६, ५७/३०, ३२, ३६
१४२. प०च० (स्वयंम्भू) ५६/१/१०, प० पु० ५८/२६—२८
१४३. प० पु० ८/४४६, १०/११५
१४४. प० पु० १०/१५८, ६०/११२
१४५. प०पु० १०/१५६—१६१, १३/१—२२
१४६. प० पु० १०/२०
१४७. प० पु० १२/३५५, १०/१४७
१४८. प०पु० ६/५१—६५

१४६. ह० पु० २/७०
१५०. प०पु० ६६/५१–५६, ६/६८, प०च० (स्वयंम्भू) २५/१४/१–१०
१५१. प० पु० २७/५३–५४
१५२. प० पु० ३७/८१–८५
१५३. प० पु० ७२/७३–७६
१५४. ह० पु० ७/१४१
१५५. आ. पु० ३६/११७
१५६. आ० पु० १६/२४३–२४५, १६/१८३
१५७. आ० पु० ३८/१८, २० प० पु० ४/१२२
१५८. आ० पु० ३८/४५–४६, प० पु० ११/२००, २०३
१५६. भ० गी० ४/१३, १८/४१, मनु–स्मृति १८/८४
१६०. बृहत्पराशर संहिता ५/३
१६१. आ० पु० ४०/१७५–१७६, १६४–२०१
१६२. प० पु० ५/३६
१६३. प० पु० ३५/११–१५, ५/३६–४०
१६४. प० व० (स्वयंम्भू) २७/१४/५
१६५. आ० पु० १६/२४३, १६/१८१, य०च०पृ० ६६, प०पु० ३/२५६
१६६. क० सू० २/२३२, बा० सं० ३८/१६, का० सं० २८/५
१६७. कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया पृ० २१३–२१४
१६८. आ० पु० १६/१८४, प० पु० ५/६६–६६
१६६. आ० पु० ३८/३५, प० पु० ११/२०२
१७०. आ० पु० १६/१८५
१७१. आ० पु० २६/१५०
१७२. जै० वि०मी० पृ० ४०, जैन कम्यूनिटी पृ० ७०–१११
१७३. आ० पु० १६–२४८
१७४. आ० पु० ४२/२८
१७५. वेदान्तसार ३/४/४०, मनु० ५/१, ४/१, ३३–३७, ८८–८७
१७६. मनु० ५/८६–६०, व० ध० सू० ८/१४–१७, ५६/२६
१७७. द रिलीजन ऑफ इन्डिया पृ० १६३
१७८. आ० पु० २१/१०७
१७६. आ० पु० २४/८
१८०. आ० पु० ४/१६५
१८१. आ० पु० १६/२४७

१८२. प० पु० ६/४१, ७०, ६६/६१–६४
१८३. प० पु० ६/३५६–४२३, रघुवंश ६/१२–८६, प०च० (स्वयंम्भू) २१/१–१०
१८४. आ० पु० ३७/३५–३७, प० पु० ४८/३
१८५. ए०रि० जिल्द ६ पृ० २५१, आ० पु० २६/३२
१८६. प० पुं० ८/३७३, ६५/३१
१८७. प० पु० ३८/६–१०
१८८. बृह० क० भा० ४/४६५८, कुस जातक ५३१
१८६. प० पु० ४४
१६०. प० पु० ६/१६३
१६१. प० पु० ५/६०–१०१
१६२. प० पु० ४१/७२–७६
१६३. प० पु० ५३/१४६–१४७, प० च० (स्वयंम्भू) भाग ३, ५१/५/१
१६४. प० पु० ४८/४५
१६५. आ० पु० २४/१७५, १७७, १७६ प०च० (स्वयंम्भू) ४७/३/६
१६६. नी० वा० २४, १० और २५
१६७. अ० पु० ६४/१२३
१६८. जै० सि० ए० पृ० २०१, २०२, आ० पु० २४/१–२८, मे० जै० पृ० २६६
१६६. पु० जै० म० अं० जिल्द २६ नं० १ पु० ६
२००. प० पु० २४/१३०, प०च० (स्वयंम्भू) २१/४/१, भाग ३, ४८/८/१–२
२०१. बा० पु० २४/१७५
२०२. ना०प्र०प० भा० २, पृ० ८०–८५
२०३. प०च० (स्वयंम्भू) ५१/८/१–१६
२०४. प०पु० २६१–६, ६८/१–२२
अष्टविधि पूजा – जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प (पीले चावल) नैवेद्य, धूप, फल, दीप । इसके साथ ही इन सब चीजों को मिलाकर अर्घ्यचढ़ाया जाता था जो जैन धर्म की अपनी विशेषता है।
२०५. प० पु० १६/७६, १६/८२, ८३
२०६. प० च० (स्वयंम्भू) ५६/८/१–४, ३८/१०/१–६, भाग २
२०७. प० पु० २/८६–८७, आ० पु० ५/२०
२०८. प० पु० ६/२८६
२०६. भा० द० पृ० २७०
२१०. र० क० श्रा० आ० २
२११. त० सू० १/१ पर सर्वार्थसिद्धि टीका, र०क०श्रा०आ०३

सं०सि० भूमिका पृ० ३४, नि० सा० १०२

२१२. ह० पु० ५८/५–६, प० पु० ६/२८२

२१३. भा० द० पृ० २७०

२१४. त० सू० १/६

२१५. ह० पु० ५८/२६६, त० सू० ६/१

२१६. ह० पु० ५८/२६६

२१७. ह० पु० ६/३५, आ० पु० १६/१७६–१८०

२१८. ह० पु० ५८/१३६–१३७

२१९. पं० च० (स्वयंम्भू) ३६/४/१–११, भा–२, ह०पु० २/११६–१२१, आ०पु० २०/१५६, १०/१६३

२२०. आ० पु० २०/१६१, ह० पु० ५८/१२६

२२१. आ० श्रु० १/३/३

२२२. ह० पु० ५८/१३८, ३/११६–१२०

२२३. जै० ध० पृ० १६, आ० पु० ४१/११०

२२४. आ० श्रु० १/३/३

२२५. द० वै० ७/११–१२

२२६. आ० पु० २०/१६२, ह० पु० ५८/१३०

२२७. ह० पु० ५८/१३६

२२८. ह० पु० ५८/१३१

२२९. उ० सू० १६/२६

२३०. आ० पु० २०/१६३

२३१. प्र० व्या० ३/६

२३२. ह० पु० ५८/१४०

२३३. प० च० (स्वयम्भू) ४ भा० २ ४६/१४–१–१०, आ० पु० २०/१६४, सू० कृ० ३/६/२३, १/१५/६, उ० सू० १६/३–४

२३४. प्र० सं० द्वा० ४/१ उ० सू० २२/४०

२३५. ह० पु० ५८/१४१

२३६. आ० पु० २०/१६५, सू० कृ० १/१/२

२३७. हा० पु० ५८/१४२

२३८. ह० पु० २/१२२–१२६

२३९. ह० पु० २/१२७ –

खड़े होकर दोनों भुजाओं को नीचे की और लटकाकर, पैर के दोनों पंजों को एक सीध में चार अंगुल के अन्तर से रखकर साधु के निश्चल ध्यान में लीन

होने को कायोत्सर्ग कहते हैं।
२४०. ह० पु० २/१२६
२४१. आ० पु० २०/४५६–४७१, ह० पु० ६/१०१–११०, ६०/१०
२४२. प० च० भा० २ ४/१–११
२४३. ह० पु० ६४/२७–३२ आ० पु० १८/६७–६८
२४४. ह० पु० ६४/२१–२६
२४५. आ० पु० सा० अ० पृ० १६१
२४६. आ० पु० ३६/१४६–१५०
२४७. आ० पु० २/२२५, १८/२
२४८. स्टडीज इन जैनिज्म पृ० ५८, ५६, ह० पु० ६/१३५
२४९. ह० पु० ३/१८८–१८६
२५०. ह० पु० २/५८
२५१. आ० पु० २६/५८–६४, ७०–७१
२५२. भ० गी० ६/१४
२५३. आ० पु० २१/१३४
२५४. आ० पु० २१/१६८
२५५. ह० पु० ६४/२७–२८
२५६. प० पु० १४/१८३, आ० पु० १०/१६२
२५७. प० पु० १४/१८४–१६४, प०च० ३६/४/१/११, आ० पु० १०/१६३
२५८. प० पु० १४/१६८, आ० पु० १०/१६५
२५९. ह० पु० ५८/१४४–१५२, २/१३०
२६०. ह० पु० ५८/१६१, आ० पु० १०/१६६, प० पु० १४/१६६
२६१. प०च० भा० २ ३४/१
२६२. प० पु० २४/२००–२०१, ह० पु० ५८/१५८
२६३. ह० पु० ५८/१६०
२६४. आ० पु० १०/१५६–१६१, जैन धर्म, पृ० १८६–६६, जैनधर्म का योगदान पृ० २१३–२१४
२६५. ह० पु० २/१३२ पृ ६३/७८
२६६. जैनधर्म का योगदान पृ० २६६–७०
२६७. ह०पु० ६३/६१
२६८. आ०पु० ५/२४५
२६९. य०च०इ०क०पृ० २६६–७०
२७०. आ०पु० ३८/२६ । २३/११३–३६, २४/२८, २३/७६ में चकवर्ती द्वारा की

गई पूजा का उल्लेख है।

२७१. आ० पु० ३८/३१

२७२. प०पु० २४/२१३

२७३. आ०पु० १३/२०१

२७४. आ०पु० ४०/२ विस्तृत वर्णन ४०/५–७७

२७५. आ० पु० ६/८५–८६

२७६. द्वयाश्रय काव्य १/१५/३४

२७७. आ० पु० ६/८६–८६

अध्याय – ५

कथा साहित्य

कथा साहित्य जैन साहित्य का विशेष अंग रहा है। निवृत्तिमार्गी होते हुए भी जैन कथाकारों का उद्देश्य अपने धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापन एंव प्रचार करना था। वे प्रत्येक घटना को धार्मिक आख्यान एंव उपाख्यानों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। जैन कथासाहित्यकारों ने तीर्थकरों, श्रमणों एंव अन्य शलाका पुरुषों के नैतिक एंव सदाचार मय जीवन को कथाओं के माध्यम से प्रवाहित करके जनसाधारण के जीवन स्तर को उन्नत बनाया[1]।

जैन कथाओं की शैली एक परम्परा को अपनाये हुए है। भूत एंव वर्तमान के सुख दुख की व्याख्या कारण निर्देश सहित की गयी है[2]। कथाओं को जनसाधारण में रोचक बनाने हेतु कहावतों मुहावरों एंव सुक्तियों का भी प्रयोग किया गया है[3]। प्रत्येक कथा के प्रारम्भ में मंगलाचरण स्वरुप जिनेन्द्र भगवान की स्तुति परक कुछ पंक्तियाँ होती हैं तथा कथा की समाप्ति पर जिनेन्द्र भक्ति की कामना की जाती है[4]।

जैन कथाकारों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जनपदीय भाषाओं में गद्यात्मक पद्यात्मक मिश्रित शैली में कथासाहित्य का निर्माण किया है। उनका उद्देश्य जनसाधारण में नैतिक भावना को पहुँचाना था। इन कथाख्यानों में मानव जीवन के इहलौकिक एंव पारलौकिक सुख को प्रधानता देकर आदर्शवाद को स्थान दिया गया है। जैन कथा साहित्य की प्राचीनता परम्परागत लक्षित होती हैं धर्म, अर्थ एंव काम से सम्बन्धित कथाओं के वर्णन के साथ ही मोक्ष विषयक भावना सर्वत्र विद्यमान है जिसमें विरक्ति त्याग, तपस्या, पूजन आदि धार्मिक चिन्तन मुख्य है।

धार्मिक

जैन धर्म के अन्तरगत संसार को दुख, कष्टों से युक्त होते हुए क्षण भंगुर माना गया है[5]। जैन धर्म कर्म पर बल देते हुए कर्मो का फल अवश्यम्भावी मानता है। इसी कारण जैन कथा साहित्यकारों ने अपने कथाग्रन्थों में आत्म विषय दमन करने, इच्छाओं पर नियन्त्रण करने एंव संसार के माया, मोह के त्याग द्वारा ही शाश्वत निर्वाण सुख प्राप्त हो सकता है, को स्पष्ट किया है[6]।

महावीर द्वारा उपदिष्ट पंच महाव्रतों का कथासाहित्यकारों ने लोक प्रचलित कथाओं के माध्यम से उपदेश दिया। संयम, तप, त्याग एंव वैराग्य पर प्रधानता देते हुए धर्म के शाश्वत रुप से जनसाधारण को परिचित कराया[7]। परिणाम स्वरुप समाज

के सभी उच्च एंव निम्न वर्ग के स्त्री पुरुषों द्वारा निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिए त्याग पूर्ण वैराग्यमार्ग को अपनाने की जानकारी होती है । जैन धर्म की मान्यता के अनुसार यदि समस्त भरत क्षेत्र के धान्यों को एकत्र कर उनमें एक प्रस्थ सरसों मिला दी जाये और तब एक वृद्धा के लिए उसमें से सरसों को निकालना कठिन है उसी प्रकार अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्य जीवन दुर्लभ है । अतएव मानव शरीर प्राप्त कर अज्ञान में धर्म को न छोड़ने का उपदेश कथाकारों द्वारा दिया गया। आवश्यक नियुर्क्ति में भी मनुष्य जन्म की दुर्लभता प्रतिपादित करने हेतु चोल्लक, पाशक, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वप्न, चकचर्म, युग एंव परमाणु ये दस दृष्टान्त दिये गये हैं[१०] जैन कथाकारों ने धार्मिक कार्यों में बाधक क्रोध, मान, माया, लोभ एंव मोह को मानवी रुप प्रदान करके उनकी कथाओं द्वारा जनसाधारण को इनसे परे रहने का उपदेश दिया[११]। जैन धर्म की मान्यता है कि औषधि, मंत्र, तन्त्र एंव योग विद्या से रोग की चिकित्सा हो सकती है लेकिन पूर्वजन्मकृत कर्मो से जीव की रक्षा नहीं की जा सकती सत्कर्मो से मनुष्य शुभ फलों को प्राप्त करता है[१२]।

जैन कथाकारों ने अपनी कथाओं में व्रत एंव शील को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विशुद्ध कर्म करते हुए प्राणोत्सर्ग एंव धधकती अग्नि में प्रवेश करना धार्मिक दृष्टिकोण से अच्छा है लेकिन व्रत एंव शील को भंग करना अच्छा नहीं बताया गया है[१३]। संसार की सभी उत्तम वस्तुऐं – सौभाग्य, सम्पदा, विद्धता, विमलयश, वशीकरण, निरोगता एंव आध्यात्मिक वस्तुऐं – स्वर्ग, मोक्ष आदि की प्राप्ति शील एंव धर्म के द्वारा ही सम्भव है[१४]।

कथा साहित्य में मुनि आचार एंव श्रावक आचार को स्पष्ट करते हुए सदाचार पर बल दिया गया है। इसके लिए जैन कथाकारों ने मूर्खों एंव विटों की कथाओं एंव तीर्थकंरों, श्रमणों एंव अन्य शलाका पुरुषों के सदाचारमय जीवन की घटनाओं को अपना विषय बनाया है[१५]।

जैन धर्म के अन्तर्गत समस्त जीवों को भव्य एंव अभव्य दो प्रकारों में विभक्त किया गया है। लेकिन कथा साहित्यकारों ने तीन मार्ग भ्रष्ट व्यापारियों की कथा द्वारा तीन प्रकार के अभव्य, कालभव्य एंव तत्क्षणभव्य जीवों का उल्लेख किया है[१६]। जैन परम्परा में यह मान्यता थी कि जनपद विहार करने से जैन साधुओं की दर्शन शुद्धि एंव महान आचार्यो की संगति से धार्मिक भावनाऐं उत्पन्न होती है। ये आचार्य त्रयरत्नों–सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र एंव सम्यकस्वरुप इन चार आराधनाओं का पालन करते थे। जैन कथाकारों ने कथाओं के माध्यम से शान्तिपूर्वक समाधि मरण करने का जनसाधारण को उपदेश दिया है[१७]।

जैन लेखकों ने धर्मोपदेश के लिए उपदेश परक कथाओं के साथ ही प्रेमाख्यानों को भी अपना माध्यम बनाया है। हरिभद्रसूरि ने प्रेमाख्यानों को धर्म एंव

अर्थ की सिद्धि का स्त्रोत माना है। समराइच्चकहा में समरादित्य अशोक, कामाकुंर एंव ललितांग नामक मित्रों के साथ कामशास्त्र की चर्चा करता है[१८]।

जैन कथाऐं धार्मिक सिद्धान्तों के उल्लेख के साथ ही उन महान् आत्माओं के महत्वपूर्ण जन्म का भी वर्णन करती हैं जो धार्मिक उपदेशक के रुप में सामने आते है[१९]। वृहत्कथाकोष से पुनर्जन्म, कर्म, ईश्वर, देव द्वारा मन्दिरों में पूजा ग्रहण करने, मन्दिरों में उत्सव, व्रत एंव अनुष्ठान आदि होने की जानकारी होती है। बौद्ध एंव ब्राह्मण धर्म के समान ही उत्सवों पर रथ यात्रा का प्रदर्शन किया जाता था[२०]। साधु सेवा, जैन शासन प्रभावना का फल, दान, मुनियों के दोष निरुपण का फल आदि जैन धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों को कथाकारों ने अपने कथासाहित्य में वर्णित किया है[२१]।

जैन श्रमण घातक कर्मों को नाशकर मोक्ष प्राप्त करते थे[२२]। जैन कथासाहित्यकारों ने विषयों में आसक्त जीव को मुक्त होने एंव पवित्र धर्म भावों को धारण करने का उपदेश दिया है[२३]। दान, पूजा, व्रत एंव शील रुप पवित्र चार धर्म का पालन श्रावकों को करते रहने का निर्देश दिया गया है। जैन धर्म में गुरु को सम्मानीय स्थान प्राप्त था। गुरु की प्रथम वन्दना एंव आज्ञा पालन करने वाले सुख प्राप्ति के साथ ही मोक्ष प्राप्त करते थे[२४]। जैन धर्म का पंच नमस्कार मंत्र प्राणीमात्र को शान्ति पूर्वक मृत्यु एंव सुगति प्रदान करने वाला बताया गया है[२५]।

सामाजिक

तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं एंव विभिन्न प्रकरणों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से साहित्यिक ग्रन्थों में समावेश होना स्वाभाविक होता है। जिससे स्वाभाविक या अस्वाभाविक रुप से तत्कालीन इतिवृत्त प्रतिबिम्बित हो उठते हैं। हिन्दू परम्परा के अन्तर्गत कथाओं के माध्यम से इतिवृत्तियों को निबद्ध करने की परम्परा रही है उसी परम्परा का अनुगमन जैन कथा साहित्य में किया गया है।

कथाकारों ने जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथाओं को अपनाया। जैनधर्म मूलतः जनसामान्य में व्याप्त हुआ। प्रायः सभी श्रमण परम्परा के धार्मिक मतों के धार्मिक प्रचार के केन्द्र जन साधारण ही रहे, पर इन धर्मो की अपनी उदात्त भावनाओं ने सामन्तवादी विचारधारा वाले समाज को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि कथाओं के पात्र सामन्तवादी समाज के राजकीय वर्ग से लेकर जनसाधारण तक के वर्ग के हैं। जैन धर्म का अभ्युदय ही समाज के उपेक्षित वर्ग को सम्मानित स्थान प्रदान करने हेतु हुआ। समाज में व्याप्त अव्यवस्था को दूर करने वाली प्रवृत्तियों के दर्शन भी इन कथाओं में होते हैं। शासक और सामान्य वर्ग के बीच की दूरी दूर करने हेतु सामाजिक प्रवृत्तियों में स्तरीकरण एंव क्रमीकरण के प्रयास किये

गये। पूर्वमध्ययुगीन समाज पूर्ण रुपेण विघटनकारी प्रवृत्तियों से पूर्ण रहा है इन प्रवृत्तियों को समाप्त कर समाज में एक नये जीवन संचार करने का प्रयास जैन कथा साहित्य में मिलता है। जैन कथाओं से ज्ञात होता है कि जनसाधारण का जीवन संगठित एंव सुव्यवस्थित था राजा प्रजा को पुत्र के समान मानता था, प्रजा अपनी रुचि के अनुसार ही अपना जीवन यापन करती थी[२६]। उत्सर्पिणी युग में सभी मनुष्यों की इच्छाऐं कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण होती थी इस आदर्श को पूर्वमध्ययुगीन जीवन के आदर्शों से जोड़ने का प्रयास किया गया है।

वर्ण व्यवस्था

जैन कथा साहित्य के सम्यक् अवलोकन से ऐसा ज्ञात होता है कि वर्णव्यवस्था का आधार कर्म था। इस समय तक जैनव्यवस्था के अन्तर्गत भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया। श्रमण–परम्परा के सभी धर्म सम्प्रदायों में कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया गया है। कर्मत्याग से जातिच्युत होने की परम्परा हिन्दू धर्म में प्रचलित रही। राज्यव्यवस्थाकारों के अनुसार सभी वर्णो के लोगों को अपने अपने वर्णानुसार कर्मों में प्रवृत्त कराना राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। आधुनिक समाजशास्त्रियों के अनुसार किसी व्यवस्थित समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों का विभिन्न प्रकार के कार्यो में निष्णात होना आवश्यक माना गया है अन्यथा सामाजिक व्यवस्था का चलना सम्भव नहीं होगा क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक प्रकार के कार्यो में निष्णात होना असम्भव है।

इस व्यवस्था को उल्लंधन करने पर व्यक्ति को दण्डित किया जाता था, साथ ही वह राज्य से निकाल दिया जाता था[२७]। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एंव शूद्र में क्षत्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। आदि तीर्थकंर ऋषभ देव ने तीन वर्णों की रचना की थी भरत ने व्रत संस्कार की अपेक्षा कर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की[२८]। षट्कमों के साथ साथ ब्राह्मण को कृषिकर्म करने की अनुमति प्राप्त थी[२९]। वैश्य स्थल एंव जलमार्ग दोनों ही के द्वारा व्यापार करते थे। कथाओं से व्यापार में आने वाली कठिनाइयों को सहन करके धनोपार्जन की जानकारी होती है[३०]। शासन से सम्बन्धित एंव प्रजा की रक्षा में तत्पर क्षत्रिय वर्ण मषि द्वारा जीविका चलाते थे[३१]।

विवाह

जैन धर्म में भी विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। यह किसी विशेष शर्त पर आधारित न होकर जन्म–जन्मान्तरों का अटूट बन्धन[३२] माना गया है इसके साथ ही कुछ वगों में विवाह को एक समझौता माना गया है, जिसमें कि

स्त्री अपने ऊपर बालक के जन्म एंव पालन की और पुरुष स्त्री एंव सन्तति के खान–पान एंव सुरक्षा आदि की जिम्मेदारी लेता है। मानव जीवन में सामाजिक संरचना बनाये रखने हेतू विवाह आवश्यक था[३३]। विवाह संस्कार शुभ मुहर्त में सम्पन्न किया जाता था[३४]। जैन परम्परा में विवाह को धार्मिक जीवन में साधक माना गया है। कथाओं में प्राप्त उल्लेखों से वयस्क विवाह होने की जानकारी होती है[३५]। उदारवादी दृष्टिकोण के परिणाम स्वरुप वर्ण जाति एंव धर्म का बन्धन नहीं था[३६]। सामान्यतया समान कुल वाले परिवारों के बीच विवाह सम्बन्ध होते थे[३७]। जैन सूत्रों में विवाह के तीन प्रकार – आयोजित, स्वयंवर एंव गान्धर्व विवाह के उल्लेख मिलते है। अपहरण विवाह भी विवाह का एक प्रकार था[३८]। मौन रहना विवाह की स्वीकृति मानी जाती थी[३९]।

जैनागमों में वर्णित स्वयंवरों के दृश्य इस बात के प्रमाण है कि कन्या अपना वर चुनने में स्वतन्त्र थी। स्वयंवर मण्डप में कन्या को आमन्त्रितों का पूर्ण परिचय करा दिया जाता था। स्वयंवर विवाह में कोई विशिष्ट शर्त–गतियुद्ध, जय, बेधन इत्यादि रखी जाती थी[४०]। एक विवाह का आदर्श होते हुए भी बहुपत्नी विवाह प्रचलित थे[४१]। सामन्तवादी युग के वातावरण से परिपूर्ण ये जैन कथाऐं नरपतियों की विलासिता की और संकेत करती हैं। ये वैवाहिक बन्धनों को तोड़कर म्लेच्छों की कन्याओं को वरणकर काम पिपासा शान्त करते थे[४२]।

अनुलोम विवाहों को समाज में मान्यता प्राप्त थी[४३]।

आमोद–प्रमोद

धार्मिक कृत्यों के समान ही आमोद प्रमोद को जैन समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जुआ एंव शिकार मनोरंजन के प्रमुख साधन थे[४४]। मनोविनोदार्थ अनेक प्रकार के खेल खेलने, नाटक देखने, जलक्रीड़ा करने, बसन्ताादि उत्सव मनाने, नृत्यगाान करने आदि सामूहिक कार्यक्रम सम्पादन करने की जानकारी होती है[४५]।

नारी की स्थिति

यद्यपि जैन संस्कृति निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करती है किन्तु फिर भी उसमें सांसारिक व्यवस्था को भी स्थान दिया गया है। स्त्रियों के उदात्त प्रेम के उल्लेख मिलते हैं[४६]। सन्तान प्राप्ति के लिए वे इन्द्र, स्कन्द, नाग एंव यक्ष आदि देवी देवताओं की उपासना करती थी[४७]।

शिक्षा के क्षेत्र में भी स्त्रियों के अग्रसर रहने के उल्लेख मिलते हैं। वे अनेक प्रकार की विद्याओं का उपार्जन करके धर्म प्रचार करतीं[४८]।

जैन कथाओं से आध्यात्मिक शक्ति द्वारा लौकिक विनाश एंव दुखदायी शक्तियों के समाधान करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विभिन्न कथाओं से ज्ञात होता है कि स्त्रियॉं अपने व्रत साधनादि द्वारा अपने पति एंव परिवारीजनों को कष्टों से बचाती थी[४९]।

शीलवती, सुदर्शन नीली एंव अंजना सती की कथाओं से ज्ञात होता है कि सदाचार को सुरक्षित रखना अपना विशेष कर्त्तव्य समझती थी[५०]। राजा का भी यह कर्त्तव्य था कि देशाटन परं गये व्यापारियों की स्त्रियों की रक्षा करे[५१]। पुरुषों के समान स्त्रियॉं धार्मिक कृत्यों में भाग लेती, एंव दीक्षा ग्रहण करके संघ का नेतृत्व करती थी[५२]। ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना जयन्ती आदि कन्याओं ने आजन्म ब्रहमचर्य पालन किया। जैन कथाओं में उपदेशिकाओं के उल्लेख मिलते हैं[५३]। स्त्रियों द्वारा ग्रन्थ प्रणयन करने एंव विद्धता में उच्च स्थान प्राप्त करने के वृतान्त प्राप्त हैं[५४]। स्त्रियों द्वारा जिन पूजा करने, पुष्प अर्पित करने एंव निर्वाण प्राप्त करने की जानकारी होती है[५५]। स्त्रियों को भरत चक्रवर्ती के १४ रत्नों में गिना गया है[५६]। उच्च स्थिति के साथ ही उनकी पराधीनता का भी उल्लेख प्राप्त होता है[५७]।

वेश्या वृत्ति

जैन कथाओं में दिखाया गया है कि किस प्रकार से समाज के अन्तर्गत निन्दनीय समझी जाने वाली वेश्याओं के समाजीकरण का प्रयास किया गया। वेश्याऐं नृत्य, संगीत एंव वाद्य में निष्णात् मानी गयी हैं। प्राचीन काल में राजकुमारी को शिष्टाचार की शिक्षा प्राप्त करने हेतु वेश्याओं के पास भेजा जाता था। उनके पास शिक्षा हेतु भेजने का उद्‌देश्य उनकी सामाजिक स्थिति की अभिवृद्धि करना अभिप्रेत रहा है। समाज में उन वेश्याओं का सम्मान किया जाता था। जो राज्य द्वारा पुरस्कृत होती एंव बुद्धिमान व्यक्ति जिसकी प्रशंसा करते थे[५८]।

विधवा विवाह

जैन समाज में विधवा विवाह निषेध था। वह अपना जीवन अध्यात्म की और लगाकर समाज सेवा करते हुए जीवन यापन करती[५९]।

पर्दा, नियोग एंव सती प्रथा

कथाओं में प्राप्त उल्लेखों से पर्दा प्रथा का अभाव ज्ञात होता है। वे स्वतन्त्रता पूर्वक पतियों के साथ भ्रमण हेतु जाती थीं। स्त्रियों द्वारा उत्सव में जाने एंव श्रमणों से अपनी शंकाओं का समाधान करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[६०]।

जैन कथाओं में प्राप्त उल्लेखों से समाज में नियोग प्रथा प्रचलित होने की

जानकारी होती है। प्रायः स्त्री के विधवा होने एंव संन्तान न होने पर देवर के साथ नियोग कराया जाता था। लेकिन यह सार्वभौमिक नियम नहीं था।

सती प्रथा का पूर्णतः अभाव था[६१]। जैन संस्कृति में जैन नारी को आर्यिका बनकर धर्म ध्यान में जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया गया हैं।

गणिकाऐं

जैन संस्कृति में गणिकाऐं समाज का एक आवश्यक अंग थी। तीर्थकर ऋषभ देव के दीक्षा के समय द्वार पर द्वारयोषिताओं को मंगल द्रव्य लिए खड़ा किया गया था[६२]। गणिकाओं को रतिशास्त्र के आचार्य के रुप में स्वीकृत किया गया है। चारों वेदों एंव अनेक लिपियों में निष्णात होने के उल्लेख मिलते हैं[६३]। गणिकाओं द्वारा श्रावक धर्म स्वीकार करने की भी जानकारी होती है[६४]।

धूर्तों एंव पाखण्डी व्यक्ति सीधे नागरिकों को ठगने के साथ ही परदेश गये हुए व्यक्तियों की पत्नियों को अपहरण कर लेते थे[६५]। स्तेंयशास्त्र के प्रवर्त्तक मूलदेव द्वारा शिष्यों को धूर्त एंव दम्भ की शिक्षा देने की जानकारी होती हैं[६६]। वसुदेव हिण्डी में द्यूर्तसभा एंव द्यूर्तशाला का उल्लेख हैं[६७]। क्षेमेन्द्र ने अपने "कलाविलास" में धूर्तो के कुछ गुणों का उल्लेख किया है[६८]। जैन कथाऐं विश्वास पात्र बनकर ठगने वाले मित्रों का भी उल्लेख करती है[६९]। इन कथाओं को लिखने का उद्देश्य जनसाधारण को इनसे सावधान रहने का उपदेश देना था।

आर्थिक

कथा साहित्य से ज्ञात होता है कि असि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प एंव धातुवाद अर्थोपार्जन के साधन थे। हरिभद्र सूरि ने साम दण्ड एंव भेद को अर्थोपार्जन का साधन कहा है[७०]। व्यापारी वर्ग जलपोतों एंव नौकाओं द्वारा विदेशों से व्यापार करते थे[७१]। व्यापार में अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करना होता था[७२]। चोर डाकू रास्ते में सब सामान लूट लेते थे[७३]। अचानक बाढ़ का आ जाना व्यापारियों के लिए बहुत कष्ट पहुँचाती थी।

कथासाहित्य में उल्लिखित समुद्र यात्राओं से ज्ञात होता है कि व्यापारिक केन्द्र बड़े नगरों में होते थे। कई द्वीपों से रत्नों की प्राप्ति भी होती थी। व्यापारी अपने साथ में खाने पीने का सामान एंव रोगियों के लिए अपथ्य एंव दवाऐं साथ में ले जाते थे।[७४] नाव में बैठने से पूर्व समुद्र एंव वायु की पुष्प एंव गन्ध द्रव्य से पूजा करते थे। जलपोतों के समुद्र में डूब जाने के उल्लेख मिलते हैं जिससे व्यापारियों की मृत्यु हो जाती थी[७५]।

कथाओं से जैन वर्ग की आर्थिक सम्पन्नता की जानकारी होती है। मनुष्य

विलेपन, पान, इत्र, फुलेल एंव बहुमूल्यवस्त्र, स्वर्ण, हीरा, मोती एंव पन्ने से निर्मित आभूषणों का शरीर सौन्दर्य की वृद्धि के लिए प्रयोग करते थे[७६]। दूध, घी, दही शक्कर की बहुलता थी। इसीकारण जैनों में सात्विक आहार, खाद्य, स्वाद, पेय, लेय इन चारों के प्रति अभिरुचि थी[७७]। कथाओं से व्यापारिक स्थानों एंव वहाँ के निवासियों के रहन सहन वेशभूषा एंव स्वभाव व्यवहार की जानकारी होती है[७८]।

राजनैतिक

कथाओं में प्राप्त उल्लेखों से कुछ अंशों में तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था की जानकारी होती है। महावीर कालीन राजाओं द्वारा उस समय में प्रचलित सभी धर्मो को प्रश्रय दिया गया क्योंकि वे किसी विशेष व्यक्तिगत धर्म से सम्बन्धित न रहकर, महान पुरुषों की सेवा करना अपना धर्म समझते थे[७९]। पहले यातायात के साधनों के अभाव में जैन श्रमण किसी आचार्य या संघपति के नेतृत्व में तीर्थयात्राओं के लिए जाते थे[८०]। धर्मोपदेश के निमित्त लिखी गयीं किसी कथा में विदिशा पर म्लेच्छों (शको) के ऐतिहासिक आक्रमण का उल्लेख है तो किसी में नन्दराजा एंव उसके मंत्री शकटार का उल्लेख है[८१]। चाणक्य ने कूटनीति द्वारा नन्दवंश का विनाश किया एंव मौर्य साम्राज्य की स्थापना की[८२]। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त एंव उसके गुरु भद्रबाहु का चरित्र चित्रण विभिन्न कथाओं में किया गया है[८३]। सम्प्रति द्वारा अनार्य देशों को जैन श्रमणों के विहार योग्य बनाने का उल्लेख कथाओं में प्राप्त होता है[८४]।

कथा साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा सेना, शासन, एंव विधि व्यवहार का केन्द्र था। पीड़ित प्रजा कभी भी राजदरबार में राजा से अपने कष्टों को कह सकती थी[८५]। राजकीय सदस्यों, ब्राह्मण, पुरोहित एंव जनसामान्य के साथ निष्पक्ष न्याय[८६] होने की जानकारी होती है। न्याय व्यवस्था कठोर होते हुए भी राजा निरंकुश होते थे। निरपराधी को दण्ड मिलने एंव अपराधी के छूट जाने के उल्लेख कथा साहित्य में प्राप्त होते हैं[८७]। फिर भी विभिन्न प्रकार के उपायों से वास्तविक तथ्य की जानकारी कर निर्णय देने की पद्धति अपनायी जाती थी।

कथा साहित्य में विभिन्न प्रकार के दण्डों का उल्लेख मिलता है। राजकर्मचारी द्वारा चोरों को वस्त्र युगल एंव गले में कनेर के पुष्पों की माला पहनाकर, शरीर को तेल से सिक्त करके उस पर भस्म लगाकर उन्हें नगर के चौराहों पर धुमाते हुए दण्डों एंव कोड़ों से पीटा जाता था। किसी सम्माननीय पुरुष का अपराध करने या प्राणहरण करने पर उसके नाक, कान कटवाकर गधे पर चढ़ाकर राज्य से निष्काषित कर दिया जाता था[८८]। प्राण हरण करने पर प्राण दण्ड देने एंव अपराध के अनुसार अपराधी को अंग विहीन किये जाने की जानकारी कथासाहित्य से होती हैं[८९]। सामाजिक संगठन को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए

वर्ण व्यवस्था के उल्लंधन करने वाले को निष्कासित कर दिया जाता था[६०]। वैवाहिक बंधनों को तोड़ने के अपराध में उसके अंग काट कर उसका गला चोटी से बॉध दिया जाता था[६१]।

चोरों की भॉति दुराचारियों को शिरोमुंडन, तर्जन, ताडन, लिंगच्छेदन, निर्वासन और मृत्यु आदि दण्ड दिये जाते थे[६२]। इसके साथ ही मृत्तिका भक्षण, विष्टाभक्षण, मल्लों द्वारा मुक्के, सर्वस्वहरण आदि दण्ड भी दिये जाते थे। शूली देने का प्रचलन भी कथाओं से ज्ञात है[६३]।

दण्ड देने वाले दण्डाधिकारी का भी उल्लेख प्राप्त होता है। राग, द्वेष एंव मोह से रहित होकर, अपराधों की वास्तविक जानकारी कर, निष्पक्ष होकर दण्ड देने की धोषणा दण्डाधिकारी का कार्य था[६४]।

ग्रामीण स्तर पर पंचायते भी न्याय कार्य करती थी। ग्राम का मुखिया पंचों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्डित करते। न्याय के लिए मनोवैज्ञानिक आधार भी अपनाने के उल्लेख मिलते हैं[६५]।

रानियॉ भी राजदरबार में राजा के साथ न्याय कार्य करती थी[६६]। कथाओं में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मंत्री राज्य कार्य में सहयोग देते थे। राजा के विलासी होने एंव राज्य पर ध्यान न देने पर मंत्रि नये राजा की नियुक्ति करते थे[६७]। राजा की नियुक्ति के लिए हाथी को जल का घड़ा देकर छोड़ा जाता था वह जिसका अभिषेक करता उसे राजा बना दिया जाता[६८]। इस तरह मंत्री परिषद समाज का महत्वपूर्ण अंग था।

संदर्भ ग्रन्थ

१. ऋग्वेद में स्तुतियों के रुप में कहानी के मूल तत्व पाये जाते हैं। अर्थवेद में इतिहास, पुराण, गाथा एंव नाराशंसी इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। माधवाचार्य के पक्ष एंव प्रतिपक्ष परिग्रह को कथा कहा है। पुराणों में कथाओं के माध्यम से वेद के गूढ़ार्थ का प्रतिपादन हुआ है।

२. हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य पृ० ११

३. मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २०२

४. जै० क० सा०अं० पृ० ७२

५. आ० क० को० भा० १ पृ० ३०, पु० क० को० पु० ७२, आ०क० को० भा० २ पृ० ७३

६. उ० सू० ८/१–१२

७. क्षणं चित्रं क्षणं वित्तं क्षणं जीवति मानव :। यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता

गति

८. स०ी० २ पृ० १४८–६, कुवलय माला २६६ पृ० १८८–६१, म०भा०शा०प० १७८
९. उपदेश पद, गाथा ८, पृ० २० भाग २, गाथा ५५१, पृ० २७२, वृ०क०को० पृ० ३५–४०
१०. आ०नि० ८३३
११. कुवलयमाला पृ० ४५–८०
१२. क०को०प्र०गाथा १०–२५। कुवलयमाला २३० पृ० १४०। जै०रा०पृ० ४४२ आ०क०को०भा०२ पृ० १
१३. बृ०क०को० भा०१ पृ० ४२
१४. आ०क०को०भ०३, पृ० १३७, वृ०क०को०भा०२, पृ० २४३
१५. विक०सं० कथा २६.३०, आ०क०को०भा०२पृ०११, जै०रा०पु० २५६
१६. कुवलयमाला १६६ पृ० ७८
१७. आ०पु० १/४६, वृ०क०को० पृ०७५, आ०क०को०भा०३, पृ० १७६–१७७, आ०क०को० भा०२ पृ० १७
१८. कु०पा०प्र० परिशिष्ट पर्व ३, १६, ७५, २१५। व०हि० पृ० ६–१०
१९. बृह०क०को० कथा नं० ३५, ४४, ६२, ५३, १४८
२०. बृह०क०को०कथा नं० १३, ३३, ५६, ५७, ६३, ११५, १३४, १३६।
२१. प्रा०सा०इतिहास पृ० ४३१–४३६
२२. आ०क०को०भा०२ पृ० १६४
२३. आ०क०को०भा०२ पृ० ३६–४०
२४. आ०क०को०भा०२ पृ० ३, ५६
२५. आ०क०को०भा०२ पृ० ५५–५७
२६. आराधना कथा कोश भाग १, पृ० ८, ३५, १०७, १४६, १५४
२७. आराधना कथा कोश भाग १ पृ० १४३
२८. "आदिपुराण में प्रतिपादित भारत" पृ० १४७–१४८
२९. बृ०प०सं० ५/३
३०. आ०क०को० भा०२ पृ० ३५, १३५, "दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ" पृ० ३१, ६६
३१. प०क०को० पृ० ३७७
३२. आ०क०को०भा०२, मृगसेन धीवर की कथा
३३. आ० पु० पं०भा० १६०–१६१, अर्थशास्त्र ३/२, ५६/५३, सा०ध० २/५६–६०
३४. प०क०को० पृ० ३७, ६७, आ०क०को०भा०१ पृ० १२१
३५. आ०क०को०भा०२ पृ० ४६
३६. जैन धर्म की उदारता पृ० ६८, पु०क०को० पृ० १२६

३७. ज्ञा०ध०क० १ पृ० २३
३८. ना०ध०क० १६ पृ० १८६
३९. ज्ञात ध०क० १६ पृ० १६८, अन्तकृदशा ३ पृ० १६
४०. पु०क०को० पृ० ३७१, आ०क०को० भा० २ पृ० ६७
४१. जै०यु०नि० पृ० २६०
४२. उ०द०४ पृ० ६१
४३. बृ०क०श०सं० पृ० २१६, व०हि० पृ० १३२
४४. पु०क०को० पृ० ८२, पृ० १६
४५. पु०क०को० पृ० १६७ख पृ० १२६, पृ० १०७
४६. ज्ञा०ध०क० पृ०२५, उ०सू० पृ० १६
४७. ज्ञा०ध०क० पृ० ४६, आ०चू० पृ० २६४, ३५७, अ०श०३, पृ०१४
४८. आ०पु० पं १६/१०३, १०४
४९. कु० पा० प्र० पृ० २१–२२
५०. कु०पा०प्र० पृ० २१–२२
५१. व०हि० पृ० २३३
५२. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियॉ पृ० १०१, आ० क० को० भा०२ पृ० ६३
५३. नायाधम्म कहा २ पृ० २२०–२३०
५४. ह० पु० पृ० ३२६, पं० चन्द्राबाई अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ४८१
५५. ज्ञा०ध०क० ८, क०सू०टी० २ पृ० ३२
५६. ज०द्वी०प्र० ३/६७, उ०टी० १८, पृ० २४७
५७. व्य० भा०३/२३३
५८. क०स०सा० १ ऐपिडैक्स ४ पृ० १३८
५९. ध० प० श्लोक ११–१३, म०नि०पृ० २४
६०. आ० पु० ४४/८६
६१. म०नि० पृ० ४२
६२. आ० पु० १७/८६
६३. नायाधम्म कहा पृ० १०८
६४. नायाधम्म कहा पृ० ६०
६५. व० हि० पृ० २०६। दृष्टापि दृष्टापि : कूराभिः कृतक वचन मुडाभिः।
धुर्तो मुष्णांति वधूं मुग्धा विप्रोषिते पत्यौ।। क०ठि ६/५६
६६. "आजकल" अगस्त १९७० में प्रकाशित – धूर्त शिरोमणि मल्लदेव एंव धूर्त विद्या नामक लेख
६७. व०हि० पृ० २१०, २४७–२४८
६८. क०वि० १/१८, १६, यश० च० भाग २ पृ० १४५

६६. कुवलयमाला पृ० ५८–५६
७०. स०क० पृ० ३
७१. आ०क०को० भा०२ पृ० १३५, (पु०क०को० पृ० १६, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ पृ० ३१, ६६
७२. पु०क०को० पृ० ८२ आ०क०को० भा०२ पृ० ५३
७३. पु० क०को० पृ० २३०, आ०क०को०भा०२ पृ० ७३
७४. कुवलयमाला पृ० ६५, ६८
७५. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ – "माकन्दी पुत्री की कहानी"
७६. आ०क० को० भाग २ पृ० ४६, पृ० ६५ दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, पृ० ४१
७७. पु०क०को० पृ० २७६
७८. कुवलयमाला पृ० १५२
७६. आ०क०को०भा०२ पृ० ८, ३५, १०७, १४६, १५४ पर विभिन्न कथाऐं
८०. अनेकान्त भा०५ पृ० ३६६, भा०२१ पृ० ५४–८४
८१. बृ० क०को०पृ० २४६
८२. पु०क०को०पृ० १३
८३. पु०क०को० पृ०३५७, वृ० क०को०पृ० ३१७, आ०क०को०भा०२ पृ० १६५–१६७
८४. प्रे० अ० ग्र० पृ० २५१
८५. पु० क०को० पृ० ४७
८६. आ०क०को० पृ० ३४, दीघनिकाय की अट्ठकथा२ पृ० ५१६ में वैशाली की न्यायव्यवस्था का उल्लेख है।
८७. जातक ४ पृ० २८, उ०सू० ६/३०, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ६४–६५
८८. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १५३–१५४। पु०क०को०पृ० २५५
८६. आ०क०को० भा०२ पृ० २१८
६०. आ०क०को० भा० १ पृ० १४२
६१. पु०क०को०पृ० १४६
६२. जैनागम में भारतीय समाज पृ० ८१–८३, आ० प्र०भा० पृ० ३६१, ३६२, आ०क०को०भा०२ कथा ५
६३. पु०क०को० पृ० ८२
६४. आ० प्र०भा० पृ० ३५४
६५. पु०क०को० पृ० ४७
६६. आ०क०को० भा०२ पृ० २२
६७. आ०क०को०भा०२ पृ० ३६
६८. आ०क०को०भ०२ पृ० ३६

अध्याय – ६

चरितकाव्य

इतिहास ज्ञान हेतू चरितकाव्यों का अत्यधिक महत्व रहा है। ऐतिहासिक समस्याओं पर प्रकाश डालने में इन चरितकाव्यों से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। चरितकाव्यों में वर्णित राजा रानियों एंव अन्य चरित्रों का अध्ययन उन परिस्थितियों विशेष में करना ओर उन परिस्थितियों द्वारा वह कितने अंशों में प्रभावित हुआ, का ज्ञान प्राप्त करना इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चरितकाव्यों में राजा, रानी, भिक्षु एंव अर्हतों, जैन धर्मानुयायी पुरुषों एंव स्त्रियों के साथ ही समाज के समृद्धतम लोगों को प्रमुख पात्रों के रुप में लिया गया है। सामान्यतया इन चुने हुए चरित्रों को जैन धर्मावलम्बी या धर्मानुयायी बनाना उद्देश्य रहा है जैनाचार्यो ने इन चरित्रों से शिक्षा ग्रहण करने एंव कराने के उद्देश्य से चरितकाव्यों का सृजन किया। अतएंव चरितकाव्यों में कभी भी मुख्य पात्रों के सम्बन्ध में पराजय या अप्रिय घटनाऐं प्राप्त नहीं होती हैं। चरितग्रन्थों में नायक के गुणों के वर्णन में कल्पनाऐं भी प्रदर्शित की गयी हैं।

चरितकाव्यों का रचनाकाल प्रायः उस समय प्रारम्भ हो जाता है जब हिन्दू एंव बौद्ध परम्पराओं में इतिहास परक ग्रन्थों के निर्माण की प्रकिया प्रारम्भ हो चुकी थी अतः घटनाओं के वर्णन एंव तिथियों का विवरण इतिहास सम्मत पाया जाता है। सर्वप्रथम हिन्दू बाल्मीकि रामायण के आधार पर रविषेण एंव जटासिंह नन्दी द्वारा पद्मचरित एंव बरांगचरित का सृजन किया गया जो समाज एंव संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

चरितकाव्यों में अलौकिक एंव अप्राकृत तत्वों का अभाव दिखता है जिसके परिणाम स्वरुप दिव्य लोकों, दिव्यपुरुष, दिव्ययुगों एंव अर्द्धदैवी (विद्याधर यक्ष, गन्धर्व, देव राक्षस आदि) पात्रों का वर्णन नहीं के बराबर आया है। जिन चरितकाव्यों में इनका उल्लेख हुआ है वहाॅ जैनाचार्यो ने उदारवादी एंव मानवीय बुद्धि संगत दृष्टिकोण द्वारा उन्नत एंव उदात्त मानवीय रुप में प्रस्तुत किया है।

चरितकाव्यों में वर्णित कथानकों के आधार पर जो तत्कालीन परिस्थितियाॅ प्रतिविम्बित हुयी हैं उनका प्रस्तुतीकरण विभिन्न कमों से विश्लेषित हैं।

राजनीतिक

चरितकाव्यों से राज्य के स्वरुप एंव उसके महत्वपूर्ण अंग राजा की

जानकारी होती है[1]। पृथ्वी पर राजा न होने पर "मत्स्यगतागलन्याय" की सब जगह प्रवृत्ति होने की जानकारी होती है[2]। चरितकाव्यों में राजा एंव प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों का निरुपण प्राप्त होता है[3]। पापाचरण से दूर रहने वाला त्रिवर्ग – धर्म, अर्थ, काम का सेवन करने वाला, अनुभवी वृद्धों के ज्ञान से राज्यकार्य करने वाला गुरुजनों की विनय करने वाला राजा द्वारा प्रजाकल्याण के साथ ही अपने लोक एंव परलोक को सफल बनाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[4]। "धर्मशर्माभ्युदय" में धर्मनाथ को दिये गये उपदेशों में राजनीति शास्त्रीय विषयक सिद्धान्तों का निरुपण हुआ है। दुर्विनीत राजा अपने आचरणों से अपनी आश्रयीभूत प्रजा को अपने विरुद्ध बना लेता है[५]।

राजा एंव उसकी उपाधियॉ

संस्कृत चरितकाव्यों में राजा के लिए राजा[६], महाराजा[७], माण्डलिक[८], अर्द्धचक्रवर्ती[६], एंव चक्रवर्ती[१०] शब्दों का प्रयोग किया गया है।

राजा की ये विभिन्न उपाधियॉ उसकी शक्तिवैभव एंव राज्य विस्तार पर आधारित थी। नगर या जनपद राजा द्वारा शासित होता था, राज्य की आय सीमित होती थी। राजा की अपेक्षा महाराजा कुछ बड़े साम्राज्य का अधिपति एंव उसकी सैन्य शक्ति सुदृढ़ एंव सबल होती थी। चरितकाव्यों में महाराजा के लिए सार्वभौमिक एंव सम्राट शब्द भी प्रयुक्त होने की जानकारी मिलती है। सार्वभौमिक राजा नैसर्प, पाण्डु, पिंगल, काल, महाकाल, शंख, पद्म, माणव, सर्वरत्न आदि नवनिधियों के अधिपति होते थे जो साम्राज्य की सम्पन्नता एंव सुद्ढ़ता में विस्तार करती थी[११]। माण्डलिक राजा के अधीन अनेक सामन्त राजा राज्य करते थे[१२]। अर्द्धचकवर्ती का साम्राज्य विस्तृत होता था, वे राज्यविस्तार के लिए सामरिक यात्रा एंव युद्ध भी करते थे। चकवर्ती दिग्विजय करते थे परिणामतः ६ खण्डों के अधिपति बनते थे[१३]। ये चकवर्ती सार्वभौम भी कहलाते थे क्योंकि सभी राजा इसके अधीन होते थे[१४]।

चरितकाव्यों से राजा के नवप्रकारों की जानकारी होती है – १, विजिगीषु २, अरि ३, मित्र ४, पार्ष्णिग्राह ५, मध्यम ६, उदासीन ७, आकन्द ८, आसार ६, अन्तर्द्धि थे। ये यथायोग्य गुण एंव ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण राजमण्डल के अधिष्ठाता कहे गये हैं[१५]।

राजा के गुण एंव कर्त्तव्य

राजा के अन्तर्गत राजकीय गुणों में शत्रुसंहार शक्ति, इन्द्रियजयी, व्यसनसेवनरहित, परोपकार वृत्ति, एंव सभी के साथ सम्मानयुक्त व्यवहार आवश्यक एवं राज्य को स्थायित्व प्रदान करने वाले माने जाते थे[१६]। इनके साथ ही सम्यक् ज्ञान दर्शन एंव चरित्र के युक्त सदाचार, उदारता, शूरता आदि पार्थिव गुण, शक्ति

सेना एंव कोश से मित्र राजाओं के देश को वृद्धिगत करने वाले गुण, मुनि, जैन ब्राह्मणों का सत्कार करने, धर्म अर्थ काम मोक्ष शास्त्रों का ज्ञान होना, याचकों की इच्छाएें पूर्ण करने, त्रिवेद – (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद अथवा तर्क व्याकरण व सिद्धान्त) को जानना, पुरुषार्थो की प्राप्ति में संलग्नता, आन्वीक्षिकी, त्रयी,(वर्णाश्रमों के कर्त्तव्य को बताने वाली विद्या) वार्ता (कृषि व व्यापारादि दण्डनीति राजनीति) आदि गुणों का होना राजा के लिए आवश्यक था[१७]। चरितकाव्यों में राजा के लिए कामोत्तेजक कार्यो से दूर रहने एंव विषयासक्त होने पर मंत्रियों पर राज्यभार सोंप देने के निर्देश प्राप्त होते हैं[१८]। चरितकाव्यों से राजाओं के उदारवादी दृष्टिकोण की जानकारी होती है राजा प्रायः सभी धर्मो को आश्रय प्रदान करते थे[१९]।

सभी प्रकार के कष्टों से प्रजा को मुक्ति दिलाना राजा का कर्त्तव्य था[२०]। प्रजारक्षण, प्रजापालन एंव प्रजारंजन आदि कर्त्तव्यों[२१] को पूर्ण रुपेण पालन करने पर राज्य की भूमि रत्नगर्भा एंव धनधान्य से युक्त होने की जानकारी होती है[२२]। राजा अनुशासनरहित, प्रजा पीड़क राजकर्मचारियों को दण्ड एंव प्रजा का कल्याण करने वाले राज्य कर्मचारियों को पुरस्कार, दान द्वारा सम्मानित करते थे[२३]। राजा प्रजा के कल्याणार्थ नैतिक आधारों पर कर लेता था विभिन्न माध्यमों से कोश एंव सैनिक शक्ति को समृद्ध करता था। रहस्यात्मक कार्यो की जानकारी प्राप्त करना, वृद्धों की सेवा करना, शरणागतों की रक्षा, दीनदुखियों की सेवा करना आदि राज्य को सुचारु रुप से चलाने के लिए राजा के महत्वपूर्ण कर्तव्य थे[२४]। सन्तानवत् प्रजापालन, उद्यमी मंत्रियों की नियुक्ति, राजकीय सुरक्षा हेतू चतुरगिंणी सेना के प्रबन्ध द्वारा राज्य को सुदृढ़ बनाता था[२५]।

उत्तराधिकार

चरितकाव्यों में प्राप्त वर्णनों के आधार पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यवस्था राजतन्त्रीय व्यवस्था थी जिसमें राजा का पुत्र ही राज्यपद का उत्तराधिकारी होता था[२६]। उत्तरकोशल के रत्नुर नगर के राजा महासेन द्वारा दीक्षा ग्रहण करने पर अपने पुत्र १५ वें तीर्थकर धर्मनाथ को राज्यभार सौंपे देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२७]। प्रायः राजा पुत्रों के समर्थ होने पर राज्यभार से मुक्त हो जाते[२८]। कभी कभी राजा अग्रमहिषी द्वारा उत्पन्न पुत्र के स्थान पर नवविवाहित रानी से उत्पन्न होने वाले पुत्र को राज्य देने की शपथ ग्रहण कर लेते थे और तदुपरान्त विवाह कर लेते थे[२९]। पुत्र न होने पर अनुजपुत्र राज्याधिकारी होता था[३०]। अन्य पुत्रों में भी उनकी योग्यतानुसार देश दे दिये जाते थे[३१]।

युवराजों द्वारा राजकीय कार्यभार ग्रहण करने से पूर्व प्रशासनिक कार्यो का ज्ञान एंव अनुभव प्राप्त करना आवश्यक था[३२]। प्रायः राजा राजपुत्रों को शिक्षित कराने

के लिए कुशल व्यक्ति, नियुक्त करते थे[33]। राज्याभिषेक के समय युवराज को धर्म, अर्थ, काम के यथासमय पालन करने एंव मोक्ष की साधना करने के उपदेश देने की जानकारी होती है[34]। ज्ञान, कर्म एंव शील द्वारा प्रजा का कल्याण करना, प्रमाद से दूर रहकर नीति एंव पराक्रम को धारण करना उसका परम कर्त्तव्य माना जाता था[35]। धनुषविद्या में निष्णात होना आवश्यक था। राजशास्त्रीय मर्यादाओं का अंकुश होने के कारण युवराजों का निर्धारित आदर्शो की अवहेलना करना असम्भव था।

राज्याभिषेक

राज्यपद ग्रहण करने से पूर्व उत्तराधिकारी का राज्याभिषेक होना आवश्यक था[36]। राज्याभिषेक के समय सभी वर्णो के व्यक्ति ज्योतिषी एंव राजकीय कर्मचारी – अमात्य सेनापति, मंत्रिवर्ग, श्रेष्ठि, पुरवासी आदि एकत्रित रहते थे। पवित्र १८ तीर्थो के सुगन्धित शीतल जल से श्रेष्ठिगण द्वारा पादाभिषेक करने एंव तदुपरान्त सामन्त, राजा, अमात्य आदि द्वारा जल से पूर्ण रत्नजटित कुम्भ से मूर्धाभिषेक करने की जानकारी होती है[37]। राज्याभिषेक के पश्चात् राजा युवराजपट्ठ बॉधता था[38]। इस अवसर पर विभिन्न देशों के राजा भेंट लेकर आते थे एंव सम्पूर्ण राज्य में सजावट की जाती थी[39]।

राज्याभिषेक के लिए अभिषेक मण्डप का निर्माण होता एंव मृदंग शंख झल्लरी आदि वाद्य यंत्रों द्वारा जयघोष होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[40]। इसी समय घोष युवराज धर्मोपदेश ग्रहण करते थे[41]।

मंत्रिपरिषद

प्रशासकीय कार्यो में मंत्री पुरोहित एंव सेनापति आदि अट्ठारह प्रकार की प्रकृतियों द्वारा सहायता एंव ऐश्वर्य प्राप्त करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[42]। चरितकाव्यों से मंत्रिपरिषद होने की जानकारी होती है। अमात्य, सचिव, महत्तर, पुरोहित, एंव दण्डनायक को मंत्रिमंडल में सम्मिलित करने के उल्लेख प्राप्त होते है[43] जबकि चन्द्रप्रभचरित में मंत्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कोषाध्यक्ष एंव ज्योतिषी को मंत्रीमंडल में शामिल किया है[44]।

राज्य का प्रधानमंत्री अमात्य होता था। चरितकाव्यों में अमात्य के गुणों[45] में राजकीय कार्यो के चिन्तन करने, चतुरगिंणी सेना की व्यवस्था करने एंव युद्ध, आक्रमण, भूमिकर एंव दण्ड के सम्बन्ध में राजा के साथ विचार विमर्श करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[46]। मंत्रियों को राज्य के स्तम्भ माना गया है[47]। अपने विचारों का निर्णय परस्पर सलाह के आधार पर करते एंव राजकीय नीतियों, कार्यो एंव अकार्यो से राजा को अवगत कराते थे[48]। मंत्री नीति के पारगामी होते थे एंव राजद्रोहों को रोकने का प्रयत्न करते थे[49]।

मंत्रिपरिषद् का राजा पर अंकुश रहता था। राजा के अव्यावहारिक कार्यो से असंतुष्ट होकर मंत्रियों द्वारा राजद्रोह एंव युद्ध करने के साथ ही राजा को पदच्युत कर स्वयं राज्य करने के उल्लेख मिलते हैं[५०]। दुश्चरित मंत्रियों से राज्य नष्ट होने की भी जानकारी होती है[५१]।

पुरोहित धनुर्वेद का ज्ञाता, धार्मिक एंव व्यूहादि कार्यो में कुशल होता था[५२]। करों को निर्धारित एंव राजकीय आर्थिक व्यवस्था बनाये रखना महत्तर नामक अधिकारी का कार्य था। राजकीय एंव सार्वजनिक विवादों का प्रमाणों द्वारा परीक्षण करने के लिए दण्डनायक की नियुक्ति की जाती थी। आन्तरिक एंव बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के लिए सेना का उचित प्रबन्ध किया जाता था। प्रधान सेनापति दुर्ग, चतुरगिंणी सेना का प्रबन्ध एंव संचालन करता था[५३]। कोषाध्यक्ष राजकीय समृद्धि की वृद्धि एंव रक्षा करता था। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि राज्य में युवराज का महत्वपूर्ण स्थान होता था यह सम्पूर्ण राज्यकीय कार्यो में सहायता एंव गृहमन्त्री के दायित्व को पूर्ण करता था[५४]। राजा युवराज सहित मन्त्रालय में उपस्थित होते थे[५५]। राष्ट्रीय एंव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने एंव गोपनीय बातों की जानकारी राजा को देना दूत का महत्वपूर्ण कार्य होता था। गोपनीय तथ्यों की जानकारी एंव विश्लेषण ये रहस्यात्मक भाषा एंव संकेतों द्वारा प्राप्त करते थे।

राजा के लिए वृद्ध मन्त्रियों एंव प्रत्येक वर्ण के वृद्ध व्यक्तियों का सम्मान करना अच्छा माना जाता था। राजा द्वारा अतिथियों का पर्याप्त सम्मान करने एंव राजाओं द्वारा लायी गयी भेंट स्वीकार करने एंव उन्हें प्रदान करने की जानकारी होती है[५६]।

कोश

कोश बल ही राजा का प्रधान बल माना गया है। राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए खनिज एंव अरण्य क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना की जाती थी[५७]। चरितकाव्यों से खनिज क्षेत्रों में सोना, चांदी, शिलाजीत, ताँबा, शीशा, लोहा, मणि, लवण, कोयला आदि के एंव अरण्य क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की लकड़ियों के उद्योगों की जानकारी होती है[५८]। कर व्यवस्था के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होते उद्योग एंव उद्योगों की पूंजी, श्रम, कृषि एंव अन्य विभिन्न प्रकार के कर वसूल किये जाते होंगे क्योंकि चिरकाल से क्षुब्ध प्रजा को देखकर कर रहित कर देने के उल्लेखों से कर व्यवस्था की जानकारी होती है[५९]। अश्व, हस्ति, गौ, भेड़ बकरियॉ आदि पालक पशु राज्य की सम्पत्ति थे[६०]।

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि कृषि व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए सिंचाई का विशेष प्रबन्ध किया जाता था[६१]। सिंचाई के साधनों में तालाब एंव सरोवर

प्रमुख थे जिससे "अकृष्टपज्या" धान्य की उत्पत्ति होती थी[६२]। राजा कृषकों से उपज का षष्ठाशं कर रुप से ग्रहण करता था[६३]। बाजार एंव समुद्र तट पर की जाने वाली विक्रय सामग्री पर विशेष कर लगा सकता था। आय के साधनों पर राजा अपना प्रभुत्व रखता था[६४]।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एंव षाडगुण्य नीति

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि भारत अनेक राज्यों में विभक्त था[६५]। प्रमुख राज्यों का देश एंव विदेश के राजाओं के साथ राजनैतिक, व्यापारिक एंव सांस्कृतिक सम्बन्ध रहता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए राजाओं को षाड्गुण्य नीतियों[६६] का पालन अत्यावश्यक होता था[६७]। इस षाडगुण्य नीति का प्रयोग राजा अपनी समृद्धि, शक्ति एंव उत्साह के अनुसार करते थे[६८]। राजा एकान्त में राज्यमंत्रियों से षाडगुण्य सम्बन्धी मन्त्रणा करते थे[६९]।

१ **संधि** – शांतिपूर्वक परस्पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना
२ **विग्रह** – संघर्ष एंव युद्ध का दृष्टिकोण
३ **यान** – युद्ध की तैयारी
४ **आसन** – उदासीन दृष्टिकोण
५ **द्वैधीभाव** – एक से युद्ध दूसरे से संधि
६ **संश्रय** – शक्तिमान राजा का आश्रय लेना।

चरितकाव्यों में युद्धभूमि एंव परराष्ट्र सम्बन्धी चार प्रकार की परम्परागत नीति के उल्लेख मिलते हैं[७०]। जिनपर राजा अपने मंत्रियों से परामर्श करते थे[७१]।

१ साम – शान्तिपूर्वक समझौता
२ दाम – आर्थिक सहायता या राजनीतिक कर्म
३ भेद – परराष्ट्र में आन्तरिक संघर्ष एंव भेद
४ दण्ड – बल या सेना का प्रयोग

इन नीतियों के सम्यक् व्यवहार की पद्धति भी चरित काव्यों में प्राप्त होती है। राजा अपने विरोधियों एंव शत्रुओं पर एकाएक दण्ड का प्रयोग नहीं करते थे। वे कमशः साम दाम दण्ड भेद[७२] आदि नीतियों का प्रयोग करके ही दण्ड को व्यावहारिक रुप[७३] देते थे। साम द्वारा अपने शत्रुओं को वश में करना राजा का सर्वोत्तम गुण माना जाता था क्योंकि इससे राजा अपने कोश, यश एंव सेना को सुरक्षित बनाये रख सकता है[७४]। इन नीतियों के साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते

हैं जिनमें शत्रु के साथ शान्तिपूर्वक समझौते के स्थान पर कठोरता का व्यवहार किया जाता था[७५]। दण्डनीति का प्रयोग साम, दान एंव भेद से कार्य के सिद्ध न होने पर किया जाता था[७६]। अपने राज्य को स्वतन्त्र बनाये रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था[७७]।

दूत व्यवस्था

चरितकाव्य से राज्य में दूत नियुक्त करने की जानकारी होती है जिनका प्रमुख कार्य राज्य से सम्बन्धित विषयों से राजा को अवगत कराना होता था। राजा तथा युवराज के राजकीय एंव व्यक्तिगत सन्देशों को दूसरे राजा तक पहुँचाते थे[७८]। ये नीति निपुण होते थे संधि, विग्रह आदि नीतियों के प्रयोग में ये राजा की सहायता करते[७९]। चरितकाव्यों से दूतों के युद्धभूमि में जाने एंव युद्ध के समाचारों से राजा को अवगत कराने की जानकारी होती है[८०]। वैवाहिक सम्बन्धों में भी दूतों का महत्वपूर्ण स्थान होता था[८१]। चरितकाव्यों में राजदूत में स्वामीभक्ति, धूतकीड़न, मद्यपानादि व्यसनों में अनासक्त, चतुर, पवित्र, विद्वान, उदार, बुद्धिमान, रहस्यज्ञाता कुलीनता आदि गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है[८२]। चरितकाव्यों से ३ प्रकार के राजदूतों की जानकारी मिलती है। जिनका प्रमुख कर्त्तव्य परराष्ट्र में साम दाम दण्ड भेद आदि नीतियों का उचित पालन करना है[८३]।

गुप्तवर व्यवस्था

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि राजा अपनी प्रजा की सुख शान्ति में वृद्धि करने एंव राजाज्ञाओं का पालन करवाने, शत्रुओं को दण्डित करने के लिए गुप्तवरों की नियुक्ति करते थे। राज्य की सर्वागींण जानकारी के लिए कृषि के क्षेत्र में कृषकों को, बाह्य प्रदेश में ग्वालों को, जंगलों में भीलों को, शहरों में व्यापारियों को, राजकीय घराने में राजकर्मचारी को गुप्तवर नियुक्त करने के उल्लेख मिलते हैं[८४]। इन्हीं पर राज्य का संचालन निर्भर रहता[८५]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी गुप्तवर विभाग एंव कार्यभेद से किये गये उसके नौ विभागों की जानकारी मिलती है[८६]। चरितकाव्यों से गुप्तवरों के लक्षण, गुण व उनके होने से लाभ एंव न होने से हानि की जानकारी होती है[८७]। इस तरह राजा को प्रामाणिक सूचनाऐं उपलब्ध होती थी।

दण्ड व्यवस्था

चरितकाव्यों से अपराध एंव दण्डव्यवस्था की जानकारी होती है। राजा के पास अखण्ड अधिकार एंव चतुरगिंणी सेना होती थी जिनका प्रयोग वह राजकीय व्यवस्था में हस्तक्षेप एंव अन्य अपराधों के करने पर करता था[८८]। दण्ड व्यवस्था के

अन्तर्गत हाकार, माकार, धिक्कार, अर्थदण्ड, बन्धन, ताडन, निर्वासन, प्राणदण्ड आदि *नीतियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । असम्भव अपराधों की वास्तविकता की जानकारी* केवल दूतों के द्वारा ही न करके पूर्णरूपेण छानबीन द्वारा की जाती थी[९०]। दण्ड व्यवस्था अपराधों के अनुकूल होती थी[९१]। शत्रु एंव मित्र को अपराध के समान होने पर समान दण्ड देना राजनीति थी[९२]। सर्वप्रथम अपराधी के प्रति "हाकारनीति" अपनायी जाती थी[९३]। चरितकाव्यों से "हाकार"नीति का उल्लंघन करने पर तीसरे कुलकर यशस्वी द्वारा "माकारनीति" से दण्ड देने की नीति अपनाने की जानकारी होती है[९४]। हाकार एंव माकार नीति के पालन न करने पर पॉचवे कुलकर प्रसेनजित के राज्यकाल में "धिक्कार नीति" को उपयोग में लाने के उल्लेख मिलते हैं[९५]। चोरी करने वाले अपराधी को धातुमय चूर्ण से काला करके, सिर पर करवी के पुष्प तथा कंधे पर शूल रखकर उसके सिर पर जीर्णसून का छत्र लगााकर, पूँछ एंव कान रहित करके गर्दभ पर बैठाकर नगर में धुमाते हुए अपमानपूर्ण ढंग से वध करने के उल्लेख मिलते हैं[९६]। सम्भवतः इस तरह दण्ड देना सामान्य प्रजा को अपराधी प्रवृत्ति से रोकना था। भगवान ऋषभ के समय बेड़ी डालने, कोड़े लगाने एंव फॉसी की सजा की जानकारी होती है[९७]। अभय कुमारचरित से ज्ञात होता है कि पुत्र के अपराध में पिता भी अपराधी समझा जाता था[९८]।

सैन्यव्यवस्था

राज्य को सुचारु रुप से चलाने के लिए उसका नगरों, प्रान्तों आदि में विभाजन कर दिया जाता था[९९]। प्रत्येक २ छोटे २ राज्य अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करते थे इसी कारण सैन्यशक्ति सुदृढ़ होती जा रही थी। राज्य के सप्तांगों में सेना का महत्वपूर्ण स्थान था। सेना के तीन विभाग थे।

१ दुर्ग

२ अस्त्र शस्त्रागार

३ सेनागठन

चरितकाव्यों से सेना के अन्तर्गत चतुरंगिणी सेना – अश्व, गज, रथ एंव पदाति सेना के होने के उल्लेख मिलते हैं[१००]। गजसेना को विशेष महत्व था। सेना में सैनिक लोग कई स्त्रोतों से भरती किये जाते थे[१०१]।

मौल –	वंशानुगत क्षत्रिय आदि जातियॉ
भृत्य –	केवल वेतन के लिए भरती
श्रेणी –	शस्त्रोपजीवी गण जातियॉ
आरण्य–	ज़ंगल जातियों से भरती हुयी सेना
दुर्ग –	दुर्ग में रहकर लड़ने वाली अथवा पहाड़ी जातियों से निर्मित सेना

मित्रवल – मित्र राज्यों की सेना

सेना का मुख्य सेनापति होता था[१०२]। जो सम्पूर्ण सेना का संचालन करता ।

युद्ध

परस्पर राजाओं में राज्य सत्ता के लिए युद्ध होते थे जिसमें चतु गणी सेना भाग लेती थी[१०३]। दो राजाओं में युद्ध होने पर अन्य लोग एक दूसरे की सहायता करते थे[१०४]। युद्ध से पूर्व राजा लोग अनेक प्रकार से शक्ति संचय करते थे। वर्धमान चरित से विजय बलभद्र द्वारा देवताओं, सिंहवाहिनी, विजया वेगवती, प्रभंकरी, अशा आदि से उत्कृष्ट विद्याओं एंव मूसल, गदा, हल एंव रत्नमाला को प्राप्त करने की जानकारी होती है[१०५]। युद्ध के लिए प्रयाण करते समय नानाप्रकार के वाद्ययन्त्रों से ध्वनि की जाती थी[१०६]। चतुरगिंणी सेना की आवाज एंव शंख भेरी पटह घंटा आदि की ध्वनि से पृथ्वी एंव आकाश गुजांयमान हो जाता था[१०७]। युद्ध स्थल में युद्ध सामग्री की पूर्ण व्यवस्था रहती जिससे कि युद्धवीरों के अस्त्र–शस्त्र, सवारों, कवच, भोजनसामग्री आदि समाप्त होने पर उनकी तत्काल व्यवस्था कर ी जाती थी[१०८]।

अश्व, हस्ति, रथ, पदाति सेना के सैनिक अपने अपने वाहनों पर आरूढ़ होकर समयानुकूल वेश धारण करते थे[१०९]। सेना श्वेत छत्रों से युक्त होती। युद्ध भूमि में जाते समय राजा के लिए कवच शिरस्त्राण, दो भाले धनुष धारण करना आवश्यक था[११०]। युद्ध भूमि में शत्रु को आमन्त्रित करने एंव शूर वीर योद्धाओं को सूचित करने के लिए पृथ्वी एंव आकाश तक गुजांयमान–मृदंग एंव शंख ध्वनि की जाती थी[१११]। हस्तिसेना हस्तिसेना से, पदाति, पदाति से, अश्वसेना अश्वसेना से रथी रथी सेना से युद्ध करते थे[११२]। सार्वभौमिक राजा के साथ अन्य माण्डलिक राजाओं के युद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं[११३]।

सैनिकों द्वारा मणिमाला, मुकुट बाजूबन्द, वस्त्र, प्रलम्बसूत्र, हार, किरीट, कटिवन्धन आदि धारण करने की जानकारी होती है[११४]। राजा प्रायः इन्हें पारितोषिक रुप में देते थे। युद्ध के लिए अभियानकम में नदी या पर्वत आदि पार करने होते थे[११५]। सैनिक विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित रहते जिनमें धनुष एंव कवच प्रमुख थे[११६]। शक्ति तोमह, शूल, जाल, परिध, भाले, तलवारे, मुदगर दण्ड अस्त्र शस्त्रों द्वारा युद्ध की जानकारी होती है[११७]। विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों द्वारा सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाता था[११८]। सेना में सेनानायक के प्रति सहानुभूति होती थी इसीकारण अत्यधिक घायल हो जाने पर भी प्राणपर्यन्त युद्ध से विमुख नहीं होते थे[११९]। बंराग चरित से युद्ध भूमि में सैन्य शोभा एंव युद्ध वर्णन की जानकारी होती है[१२०]। सेना के ऊपर फहराती हुयी पताकाऐं इस बात का प्रतीक होती कि विजयी सेना पराजित सेना के तेज का अपहरण कर रही है[१२१]। चरितकाव्यों से शस्त्रादि युद्धों

के उल्लेख के साथ ही देवताओं द्वारा राजाओं को दृष्टि, वाणी, बाहु, मन्त्रयुद्ध आदि करने के निर्देश देने की जानकारी होती है[१२२]। भरत चक्रवर्ती एंव महाबाहु बाहुबलि के बीच दृष्टियुद्ध, वाणीयुद्ध, बाहुयुद्ध, भुजदण्ड युद्ध एंव दण्डयुद्ध होने की जानकारी होती है[१२३]। शस्त्र युद्ध की अपेक्षा मन्त्रयुद्ध महत्वपूर्ण माना जाता था[१२४]।

दिग्विजय -

क्षत्रियों के लिए शस्त्र धारण करना उनका कर्तव्य था। चरितकाव्यों से चक्रवर्ती राजाओं द्वारा दिग्विजय करने की जानकारी होती है। प्रयाण करने से पूर्व मंगलस्नान किया करने एंव दिग्विजय अभियान में चक्ररत्न, दण्डरत्न, सेनापति, रत्न, अश्वरत्न, पुरोहितरत्न, गृहपतिरत्न, वर्द्धकिरत्न, चर्मरत्न छत्ररत्न ये सब साथ साथ चलते थे[१२५]। चक्ररत्न सबसे आगे चलता था, भरत चक्रवर्ती द्वारा चक्ररत्न के पीछे प्रतिदिन एक योजन प्रमाण चलने के उल्लेख मिलते हैं[१२६]। चरितकाव्यों से चक्रवर्ती का दिग्विजय कम पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा आदि कमों से होती थी[१२७]।

विजित राजा विविध प्रकार की भेंटे लेकर चक्रवर्ती के समीप उपस्थित होकर उनकी अधीनता स्वीकार करके प्रसन्न करते थे[१२८]।

सामाजिक

चरितकाव्यों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति ज्ञात होती है[१२९]। विभिन्न जातियों एंव वर्णो के प्राप्त उल्लेखों से समाज में चार्तु–वर्ण व्यवस्था होने की जानकारी होती है[१३०]। वर्णव्यवस्था जन्मजात न होकर कर्म पर आधारित थी[१३१]। चरित काव्यों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति चक्रवर्ती भरत द्वारा की गयी। ये स्वाध्याय में लीन रहकर अपूर्व ज्ञान धारण करने में तत्पर रहते थे[१३२]। भरत चक्रवर्ती द्वारा अर्हतों की स्तुति एंव श्रावकों की समाचारी से पवित्र चार वेदों की रचना ब्राह्मणों के स्वाध्याय के लिए करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणों का चिन्ह यज्ञोपवीतमान्य था जो तत्कालीन समाज में कांकिणीरत्न, स्वर्ण, चॉदी, रेशम के धागों से निर्मित होता था[१३३]। ये ब्राह्मण वर्ण कर्म पर आधारित था[१३४]। अपने गुण एंव कर्मो के कारण चाण्डाल के ब्राह्मण होने के उल्लेख मिलते हैं[१३५]। ब्राह्मण कुल को उच्च कुल माना जाता था[१३६]। ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता एंव शास्त्र पारंगत होते थे[१३७]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण स्वयं को एंव दूसरों को संसार से मुक्ति दिलाने के कारण साधु कहे जाते थे[१३८]। ब्राह्मण जाति एंव उसके द्वारा सम्पादित होने वाले यज्ञों के उल्लेखों से जातिगत पेशों की जानकारी होती है[१३९]।

क्षत्रिय वर्ण अन्य वणों का संरक्षक होता था शस्त्र धारण करना उनका

कर्तव्य था। क्षत्रिय वर्ण द्वारा शासन करने की जानकारी होती है[१४०]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण प्रजा चार भागों में विभक्त थी –

१ उग : राजा दण्ड देने के अधिकारी लोगों का,
२ भोग : राजा या राजा के मन्त्री का काम करने वालों का कुल भोगकुल एंव जो राजा के साथ रहते एंव मित्र थे वे,
३ राज कुल एंव शेष प्रजा
४ क्षत्रियकुल

की कहलायी[१४१]। क्षत्रिय भी अपने जीवन के अन्त में तप करते थे[१४२]।

वैश्य वर्ण का वर्णव्यवस्था में उच्च स्थान था वे व्यापार कुशल होते थे। प्रायः ये व्यापारी एक दल के रुप में रहते थे। श्रेष्ठी शब्द का प्रयोग व्यापारी एंव वैश्य वर्ण के लिए होता था[१४३]। कृषि वाणिज्य, पशुपालन इनकी जीविका के साधन थे[१४४]। वैश्य वर्ण के युद्ध से भयभीत होने के उल्लेख मिलते है[१४५]।

शूद्र वर्ण की स्थिति समाज के अपेक्षाकृत निम्न थी। ये जैन धर्म के सिद्धान्तों एंव उपदेश को ग्रहण कर सकते थे[१४६]। चारों वर्ण अपने उचित उद्योगों में संलग्न रहते थे[१४७]।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अतिरिक्त १८ श्रेणी एंव प्रश्रेणी की जानकारी होती है। नौ तरह के कारीगर एंव नौ हल्की जातियों के लोग अठारह श्रेणियों के अन्तर्गत सम्मिलित थे। हल्की जातियों को नवशायक कहते थे। ग्वाला, तेली, नाई, माली, जुलाहा, हलवाई, बढ़ई, कुम्हार, चिड़ीमार ये नवशायक थे[१४८]। भगवान ऋषभ ने कुम्हार, चित्रकार, जुलाहे, नाई, राज इन पॉच शिल्पकारों एंव प्रत्येक के १०–१० भेदों की उत्पत्ति अपनी प्रजा के समुचित पालन करने की दृष्टि से की[१४९]। भील जाति के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जो वनों में रहती थी इनका अपना एक राजा होता था ये युद्ध में कुशल होते थे[१५०]। व्यापार मार्ग में वैश्य एंव भीलों के बीच युद्ध होने की जानकारी होती है[१५१]।

संस्कार

चरितकाव्यों से भगवान ऋषभ के समय से ही संस्कारों के सम्पन्न करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। संस्कारों में नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन, पाणिग्रहण, दत्तकन्या से विवाह आदि संस्कार मुख्य थे[१५२]। दाह संस्कार करने की भी जानकारी होती है[१५३]। ये संस्कार अत्यन्त विधि–विधान के साथ सम्पन्न होते थे[१५४]। अग्नि को साक्षी करके विवाह संस्कार होता था[१५५]।

विवाह

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि विवाह संस्कार एक महत्वपूर्ण संस्कार था यह शुभ महुर्त्त में सम्पन्न किया जाता था[१५६]। समाज में ज्योतिषी वर्ग का महत्व था। विवाह संस्कार में सुगन्धित जल से परिपूर्ण स्वर्णघट से अभिषेक करने की परम्परा ज्ञात होती है।[१५७] कुलानुरूप जातीय विवाह होते थे[१५८]। लेकिन जाति के बाहर विवाह होने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं[१५९]। स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी जिसमें किसी कला विशेष में परीक्षा करने एंव स्वयंवरमण्डप की रचना होने की जानकारी होती है[१६०]। उसके साथ ही प्रेमविवाह एंव ब्राह्मविवाह के भी उल्लेख मिलते हैं[१६१]।

वैवाहिक सम्बन्धों में गोत्र विवाह अमान्य था[१६२]। सौन्दर्य सौभाग्य एंव पातिव्रत्य ये तीन गुण स्त्रियों के आवश्यक गुण समझे जाते थे[१६३]। चरितकाव्यों में प्राप्त अन्तःपुर के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि बहुविवाह प्रचलित थे[१६४]। रानियों के बीच परस्पर द्वेषयुक्त व्यवहार होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस व्यवहार में कुछ मन्त्री भी अपना सहयोग देते थे[१६५]। इन रानियों में एक पटरानी होती थी[१६६]।

शिक्षा

शिक्षा के लिए विद्यालय होते थे। गुरु शिष्य के सम्बन्ध शिष्टाचारयुक्त होते थे। गुरु शिष्य के हित को ध्यान में रखते हुए अपनी आज्ञाओं का पालन कराना ही गुरुदक्षिणा के रुप में मान्य करते थे। गुरु शिक्षा नीति मार्ग के उपदेशों युक्त होती थी[१६७]। भगवान ऋषभ ने भरत को ७२ प्रकार की कलाऐं एंव बाहुबलि को अश्व, गज, स्त्रियों और पुरुषों के अनेक भेदों वाले लक्षणों का ज्ञान दिया। ब्राह्मी को १८ लिपि एंव सुन्दरी को गणित विद्या माप, अवमान प्रतिमान एंव मणि आदि पिरोने की कला सिखाई[१६८]।

स्त्रियों की स्थिति

पुरुषों के समान ही स्त्रियों की उच्च्य स्थिति थी। स्त्रियों द्वारा धर्मोपदेश एंव दीक्षा ग्रहण करने की जानकारी होती है[१६९]। दीक्षा देने वाली स्त्रियों को आर्यिका कहा जाता था, जिसके पास दीक्षा ग्रहण कर स्त्रियॉ आजीवन ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करती थी[१७०]।

चरितकाव्यों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सेज सज्जा में पुष्प श्रृंगाार के प्रमुख साधन थे। पुष्पों के विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। चरितकाव्यों में स्त्री उपयोगी श्रृंगार प्रिय वस्तुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। स्त्रियॉ शीतकाल में केशर के लेप, गर्मी में गोमती नदी के रमणीय तटों के वृक्षों की छाया में एंव वर्षा में कुन्द के फूल खिलने के समय प्रकाशमान मणियों के साथ क्रीड़ाऐं

करती थी[१७१]।

समाज में पुत्र का स्थान महत्वपूर्ण था। पुत्र प्राप्ति के लिए व्रत एंव देवताओं की पूजा करती थी। पिता की आज्ञा मानना पुत्र का आवश्यक कर्तव्य था[१७२]। भोजन करने, जल पीने, स्नान ध्यान व्यायाम एंव स्वास्थ्य बनाये रखने सम्बन्धी नियमों की जानकारी होती है[१७३]। इसके साथ ही चरितकाव्यों से ग्रीष्म, वर्षा, शरद आदि ऋतुओं की जानकारी होती है। धर्मात्मा व्यक्ति राहगीरों की धूप, वर्षा से रक्षा करने के लिए वृक्षारोपण करते एंव प्याऊ लगवाते थे। ढाक, ताड़पत्र, हिंताल, एंव केले के पत्तों द्वारा पंखा बनाने एंव उनसे हवा करने की जानकारी होती है[१७४]। वर्षाकाल में पृथ्वी पर सर्वत्र पानी हो जाने के कारण यात्राओं के मार्ग दुर्गम हो जाते थे। व्यापारियों को व्यापार कार्य में अत्याधिक परेशानी होती थी। अतएव धर्म, देश एंव काल के अनुसार चरितकाव्यों में सुरक्षित स्थानों पर रुक जाने के निर्देशों की जानकारी होती है[१७५]। व्यापारियों द्वारा दक्षिण दिशा के द्वीपान्तरों में सामुद्रिक विजय यात्रा करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिससे तत्कालीन नाविकतन्त्र की कुशलता की जानकारी होती है[१७६]। जहाज द्वारा व्यापार करने एंव तूफान द्वारा वाधाऐं आने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१७७]। व्यापारियों के लिए सार्थिक एंव व्यापारी संघ के नेता के लिए सार्थपति शब्दों के उल्लेखों से तत्कालीन व्यापारिक स्थिति ज्ञात होती है[१७८]।

भोगोलिक

चरितकाव्यों में प्राप्त यात्राओं, दिग्विजय, नगरों आदि के वर्णन से तत्कालीन भोगोलिक स्थिति ज्ञात होती है जिसकी पुष्टि पौराणिक साहित्य से होती है। चरितकाव्यों में लोक की स्थिति कमर पर हाथ रख, पैरों को चौड़े कर खड़े हुए पुरुष की आकृति जैसी है। यह उत्पत्ति स्थिति एंव नाशमान पर्यायों वाले द्रव्यों से भरा हुआ है। इसकी आकृति नीचे वेत्रासन, मध्य में झालर और ऊपर से मृदंग के समान बतायी गयी है[१७९]।

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण लोक तीन जगत – अधोलोक, तिर्यगलोक एंव उर्ध्वलोक से धिरा है। अधोलोक में एक एक के नीचे अनुक्रम से सात भूतियों एंव उनमें नारकियों के भयंकर निवास स्थान होने की जानकारी होती है[१८०]।

नरकों के नाम	मोटाई	नरकावासा
रत्नप्रभा	एक लाख अस्सी हजार योजन	तीस लाख
शर्कराप्रभा	एक लाख बत्तीस हजार योजन	पच्चीस लाख
बालुकाप्रभा	एक लाख अट्ठाइस हजार योजन	पन्द्रह लाख
पंक प्रभा	एक लाख बीस हजार योजन	दस लाख

धूम प्रभा	एक लाख अट्ठारह हजार योजन	तीन लाख
तम प्रभा	एक लाख सोलह हजार योजन	पॉच कम एक लाख
महातम प्रभा	एक लाख आठ हजार योजन	पॉच लाख

तिर्यगलोक की स्थिति रुचकप्रदेशों के उमर एंव नीचे नौसौ, योजन तक बतलायी गयी है।

मध्य लोक

मध्यलोक में जम्बूद्वीप एंव लवण समुद्र के समान विस्तृत अनेक द्वीप और समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप को समुद्र घेरे हुए हैं इसी कारण प्रत्येक द्वीप गोलाकार आकृति वाला है[१८१]।

जम्बू द्वीप के मध्य मेरुपर्वत होने एंव जम्बू द्वीप के सात खंडों – १ भरत, २ हेमवंत, ३ हरिवर्ष, ४ महाविदेह, ५ रम्यक, ६ हैरण्यवृत्त, ७ ऐरावत में विभाजित होने के उल्लेख मिलते हैं। वर्षधर पर्वत – हिमपान, महाहिमवान, निषध, नीलवंत रुकमी एंव शिखरी इन भरतादि सात खंड़ों का उत्तर एंव दक्षिण दिशाओं में विभक्त करने वाले हैं। त्रिशषठिपुरुष चरित से इन पर्वतों एंव पर्वतों पर स्थित सरोवरों एंव सरोवरों पर निवास करने वाली देवियों की जानकारी होती है[१८२]।

जम्बू द्वीप के चारों और जम्बूद्वीप से तिगुने विस्तृत लवण समुद्र की स्थिति ज्ञात होती है। लवणसमुद्र के चारों और दुगने विस्तार वाला धातकी खंड है। इस धातकी खंड के चारों ओर आठ लाख योजन विस्तृत कालोदधि समुद्र हैं। धातकीखंड के चारों और पुष्करवर द्वीपार्ध है जो विस्तार में धातकीखंड के समान है। धातकीखंड एंव पुष्करवर द्वीप में स्थित पर्वतों एवं वनों की जानकारी होती है[१८३]। पुष्करवर द्वीप के चारों तरफ मानुषोत्तर पर्वत है मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर का भाग मनुष्य क्षेत्र कहा जाता है। इस पर्वत के बाहर जन्म मरण नहीं होता। इस तरह इस मनुष्य क्षेत्र में ढाई द्वीप, दो समुद्र पैत्तीस क्षेत्र, पॉच मेरु, तीस वर्धधर पर्वत, पॉच उत्तरकुरु एंव एक सौ साठ विजय होने की जानकारी होती है[१८४]। मानुषोत्तर पर्वत शहर के कोट की तरह गोलाकार है इसके अन्दर की और ५६ अन्तद्वीपों एंव ३५ क्षेत्र होने की जानकारी होती है। इन अन्तद्वीपों में अट्ठाइस अन्तद्वीप क्षुद्रहिमालय पर्वत के पूर्वी एंव पश्चिम दिशा के अन्त में ईसानकोण आदि चार विदिशाओं में लवण समुद्र से निकली हुयी डाढ़ों पर स्थित है ओर अठ्ठाइस अन्तर्द्वीप शिखरी पर्वत पर स्थित है[१८५]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि इन अन्तद्वीपों में भी मनुष्य रहते हैं युगलिए होने के कारण वे धर्म अधर्म को नहीं समझते[१८६]। इन मनुष्यों के दो भेद हैं – आर्य एंव म्लेच्छ। आर्य क्षेत्र जाति, कुल, कर्म, शिल्प एंव भाषा के भेद से छः तरह के हैं। भरतक्षेत्र के साढ़े पच्चीस क्षेत्रों में जन्में हुए मनुष्य क्षेत्र आर्य कहलाते हैं। इस तरह

चरितकाव्यों से आर्य देशों एंव उनकी नगरियों की जानकारी होती है[१८७]। तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों एंव बलभद्रों के जन्म इन्हीं आर्य देशों में होने के उल्लेख मिलते हैं[१८८]।

उर्ध्वलोक

उर्ध्वलोक को तिर्यगलोक पर स्थित एंव नौ सौ योजन कम सात रज्जु प्रमाण वाला बतलाया गया है। उर्ध्वलोक में बारह देवलोक, नौ ग्रैवैयक एंव पॉच अनुत्तर विमान एंव एक सिद्धशिला होने की जानकारी होती है। इन देवलोकों में राजलोक होने एंव देवलोकों की स्थिति विस्तार, एंव इनमें रहने वाले देवों की जानकारी होती है[१८६]।

ज्योर्तिलोक

चरितकाव्यों से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि से युक्त ज्योतिलोंक की जानकारी होती है। यह त्योतिर्लोक रत्नप्रभा के तल के ऊपर दस कम आठ सौ योजन दूरी पर स्थित हैं इसका विस्तार एक सौ दस योजन हैं। इसमें सबसे अग्र सीमा पर तारे स्थित है उनसे दस योजन ऊपर सूरज एंव सूरज से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा स्थित हैं[१६०]। मेरुपर्वत से ग्यारह सौ योजन दूर मेरुपर्वत को न छूता सभी दिशाओं में व्याप्त मंडलाकृति ज्योतिष चक्र फिरता रहता है। केवल एक ध्रुवतारा निश्चल रहता है। नक्षत्रों में सबसे नीचे भरणी नक्षत्र, सबसे ऊपर स्वाति नक्षत्र एंव दक्षिण में मूल नक्षत्र एंव उत्तर में अभिजित नक्षत्र की स्थिति ज्ञात होती है[१६१]।

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि इन चन्द्र एंव सूर्य की संख्या भिन्न भिन्न द्वीपों में भिन्न भिन्न होती है। प्रत्येक चन्द्रमा के साथ अट्ठासी ग्रह, अट्ठासी नक्षत्र एंव छयासठ हजार नौसौ पचहत्तर कौटा कोटि ताराओं के समूह होने एंव इनके विमानों के विस्तार की जानकारी होती है[१६२]। इनके विमानों के नीचे पूर्व की तरफ सिंह, दक्षिण की तरफ हाथी पश्चिम की तरफ बैल एंव उत्तर की तरफ घोड़े हैं ये चन्द्रादिक विमानों के वाहन है। त्रि०श०पु० चरित से ज्ञात होता है कि आभियोगिक देवता हाथी, सिंह आदि का रुप धारण करके वाहन रुप में रहते हैं। स्वभाव से ही गतिशील होने पर भी सूरज एंव चन्द्र के सोलह हजार, ग्रह के आठ हजार, तारे के दो हजार बाहनभूत आभियोगिक देव होने की जानकारी होती है[१६३]।

इस तरह यह आकृति वाला लोक न तो किसी के द्वारा बनाया गया है न धारण ही किया गया है यह स्वतंन्त्र रुप से आकाश में स्थित हैं[१६४]।

धार्मिक

जैनधर्म की निवृत्ति परक एंव आचारमूलक प्रवृत्तियों की जानकारी चरितकाव्यों से प्राप्त होती है। बरांगचरित एंव यशस्तिलक चम्पू सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जैनधर्म का विकास तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक कियाकाण्डों के परिणाम स्वरुप हुआ। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि तीर्थकर भिक्षु एंव धर्माचार्य भ्रमण करते हुए अपने उपदेशों से धर्म के आचार विचारों इत्यादि सिद्धान्तों से जनसामान्य को लाभान्वित करते थे[१६५]। ये धर्माचार्य उद्यान में रुकते थे[१६६] राजाओं द्वारा तत्कालोचित वेश में पुरजन परिजन अंगरक्षकों एंव अन्तःपुर के साथ धर्माचार्यों से मिलने एंव धर्मोपदेश सुनने जाने के उल्लेख मिलते हैं[१६७]। ये राजाओं को समयानुकूल उपदेश देते एंव पूर्वभवों एंव भविष्य से अवगत कराते थे[२०५]। धर्मोपदेश से प्रभावित होकर विरक्त भाव से परिभ्रमण करते हुए धर्मदेशना करके राजाओं द्वारा मोक्ष प्राप्त करने एंव अन्तःपुर की स्त्रियों द्वारा भी जिन दीक्षा ग्रहण कर कर्मबन्धन दूर करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१६८]। ये उपदेश इतने अधिक प्रभावित होते थे कि हिंसारत राजा भी अहिंसा की ओर प्रवृत्त हो जाते एंव जिन दीक्षा ग्रहण करते थे[१६६]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त था एंव राजाओं द्वारा जिनगृह एंव जिनप्रतिमा बनवाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२००]। मन्दिरों की सुरक्षा एंव व्यय राजकीय कोष से होता था। राजाओं द्वारा जिन प्रतिमाओं की पूजा करने एंव दर्शनार्थ जाने की जानकारी होती है[२०१]।

श्रावक एंव मुनिधर्म

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि जैनधर्म दो रुपों अनागार एंव सागार में विभाजित है[२०२]। सागार धर्म का सम्बन्ध श्रावक धर्म से एंव अनागार धर्म का सम्बन्ध मुनिधर्म से है। गृहस्थ धर्म के प्राणियों के लिए सम्यक् ज्ञान एंव सम्यक् दर्शन से युक्त पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एंव चार शिक्षा व्रतों का पालन करना आवश्यक था[२०३]। बंरागचरित से राजकुमार वंराग द्वारा भगवान नेमिनाथ के शिष्य वरदत्त मुनि से उपदेश ग्रहण कर अणुव्रतों का आचरण करने की जानकारी होती है[२०४]। पॉच अणुव्रतों के अन्तर्गत अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, एंव अपरिग्रह को सम्मिलित किया गया है[२०६]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि श्रावक अणुव्रतों के पालन से कल्याण को प्राप्त करते हैं[२०७]। चरितकाव्यों में इन अणुव्रतों के साथ मद, मास, मद्य एंव पाँच ठडम्बरफलों का त्याग आवश्यक बतलाया गया है[२०८]। इन अणुव्रतों का पालन मुनियों को अति कट्टरता से करना होता था इसी कारण इन्हें महाव्रत कहा गया है[२०९]। मुनि एंव श्रावक धर्म का मूल सम्यक् दर्शन ही है[२१०]।

अहिंसा

अहिंसा को जैनधर्म का प्राण माना गया है। किसी प्राणी को प्राणहीन करना द्रव्य हिंसा एंव मन में किसी जीव की हिंसा का विचार करना भाव हिंसा है[२११]। मुनियों को हिंसा पूर्णरुपेण त्याज्य करने एंव श्रावक को संकल्पी हिंसा पूर्णरुपेण त्याज्य करने एंव आरम्भी, उद्योगी, विकल्पी हिंसा को परिस्थिति के अनुसार त्याज्य करने का निर्देश दिया गया है[२१२]। तीर्थकंर नेमिनाथ द्वारा विवाहोत्सव में पशुवध रोकने के उल्लेख मिलते हैं[२१३]। यशस्तिलक चम्पू से प्राणीमात्र को अभय दान देने एंव उसके विशेष फल की जानकारी होती है[२१४]।

सत्य

सत्याणुव्रत आत्मपरिणामों की शुद्धि एंव स्व एवं परकीय पीड़ारुप हिंसा का निवारण ही है[२१५]।

अस्तेय

जैनधर्म में भिक्षु के लिए, आवश्यक, अधिकृत एंव वाधारहित वस्तु को ही लेने का निर्देश दिया गया है जिससे भिक्षुवर्ग में पूर्ण निस्पृहता बनी रहे[२१६]।

ब्रह्मचर्य

जैनधर्म के अन्तर्गत मोक्ष को सच्चा सुख माना गया है इसी कारण प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख होने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत पर अधिक बल दिया गया है[२१७]।

अपरिग्रह

अपरिग्रहाणुव्रत से तात्पर्य सांसारिक वस्तुओं से लिप्सा ममत्वभाव आदि को दूर करना है क्योंकि ये धार्मिक क्रियाकलापों में बाधक होते हैं। धर्माचार्यो द्वारा दिये गये उपदेशों से प्रभावित होकर राज्यभार छोड़कर जिन दीक्षा ग्रहण करना उनकी अपरिग्रहवृत्ति को स्पष्ट करता है[२१८]।

गुणव्रत

अणुव्रतों के साथ ही तृष्णा एंव संचयवृत्ति पर नियन्त्रण रखने, इन्द्रिय लिप्सा का दमन करने के लिए गुणव्रतों की जानकारी होती है[२१९]। "दिग्व्रत" – गमनागमन, आयात निर्यात की सीमा निश्चित करने को "दिग्व्रत" कहा गया है। इसी तरह आयात निर्यात की निश्चित सीमा के अन्तर्गत व्यापार कार्य करना

"देशव्रत" नामक गुणव्रत कहा गया है। अधार्मिक चिन्तन एंव उपदेश, दण्ड विष, मारना बन्धन आदि कुकृत्यों का त्याग, जिन्हें कि व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर नहीं करना चाहता, "अनर्थदण्ड" नामक गुणव्रत कहा गया है[२२०]। चरितकाव्यों से इन गुणव्रतों के लक्षण[२२१] एवं इनके पालन से होने वाले लाभों की जानकारी होती है[२२२]।

शिक्षाव्रत

चरितकाव्यों से गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत चार शिक्षाव्रतों का पालन आवश्यक होने की जानकारी होती है[२२३]।

सामायिक शिक्षाव्रत

प्राणीमात्र के प्रति समताभाव को उदय करना, हिंसा आर्त्त एंव रौद्र का त्याग करना चरितकाव्यों में सामायिक शिक्षाव्रत कहा गया है[२२४]। महावीर से पूर्व तीर्थकंरों द्वारा इस व्रत पर अधिक बल दिया गया। व्यवहार में जैन इसे सन्ध्या कहते हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

इसके अन्तर्गत गृह व्यपारादि को छोड़कर उपवास विधि से देवपूजन, जपशास्त्र, स्वाध्याय आदि धार्मिक कियाओं को करना आवश्यक बताया गया है[२२५]।

भोगोपभोग परिमाणव्रत

इसमें धार्मिक कियाओं का सम्पादन प्रत्येक पक्ष की कुछ विशेष तिथियों – अष्टमी, चतुर्दशी को करने एंव खाद्य पदार्थो एंव वस्त्राभूषण शयनासन में से किन्हीं विशेष प्रकार की वस्तुओं का परित्याग बताया गया है[२२६]।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत

इसमें मुनि, साधु एंव अन्य व्यक्तियों को सत्कारपूर्वक आहार, औषधि देना गृहस्थ के लिए अत्यावश्यक बताया गया है[२२७]।

गृहस्थ के कर्त्तव्य

गृहस्थाश्रमी को देश, द्रव्य, आगम एंव पात्र के अनुसार दान देने को निर्देशित किया गया है। चरितकाव्यों में दाता का स्वरुप एंव दान के भेदों के साथ[२२८] ही दान के फलों को स्पष्ट करते हुए अभयदान की श्रेष्ठता का उल्लेख किया गया है[२२९]। चारों वर्णो को आहारदान के योग्य बतलाया गया है क्योंकि सभी शरीर पालन

के लिए अनुमति प्राप्त है[२३०]।

जल स्नान करके, सर्वज्ञ वीतराग अर्हत पूजा, गुरु उपासना, आगम एंव शास्त्रों का अध्ययन, संयम, तप एंव ध्यान ये छः गृहस्थों के आवश्यक कर्त्तव्य बतलाये गये हैं[२३१]।

सल्लेखना

चरितकाव्यों में शान्तिपूर्वक धार्मिक रीति से प्राणत्याग करना श्रेष्ठ बतलाया गया है[२३२]। कनकध्वज राजा द्वारा सल्लेखना विधि से प्राण त्याग कर स्वर्ग प्राप्त करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२३३]। चरितकाव्यों से मरन्नासन अवस्था में पंचपरमेष्ठी मन्त्रोपदेश करने की जानकारी होती है[२३४]।

त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित से सल्लेखना दो तरह की बतलायी गयी है[२३५] – साधुओं का सब तरह के उन्मादों एंव महारोगों के कारणों का नाश करना, "द्रव्य सल्लेखना" एंव राग, द्वेष, मोह एंव सभी कषाय रुपी स्वाभाविक शत्रुओं का विच्छेद करना" भाव सल्लेखना है।

मुनि धर्म

भिक्षु परिग्रहवृत्ति का पूर्णरुपेण परित्यागकर नग्नवृत्ति धारण करके अहिंसादि पांच महाव्रतों एंव उनकी २५ भावनाओं का सावधानी से पालन करते हैं[२३६]। बंरागचरित से राजकुमार बंराग द्वारा जिन दीक्षा ग्रहण कर लेने पर पंच महाव्रतों को ग्रहण करने की जानकारी होती है[२३७]।

अहिंसा महाव्रत

अहिंसा महाव्रत के अन्दर मनसा, वाचा, कर्मणा, सूक्ष्म से सूक्ष्म एकन्द्रिय जीव से लेकर किसी भी जीव की हिंसा न करने की जानकारी होती है। अपने मन के विचारों, वचन प्रयोगों, गमनागमन, वस्तुओं को उठाने रखने एंव भोजनपान की क्रियाओं में जागरुक रहना अहिंसा व्रत की इन पांच भावनाओं की जानकारी बंरागचरित से होती है[२३८]।

सत्यमहाव्रत[२३९]

श्रावक धर्म के अन्तर्गत इस व्रत का सम्बन्ध जहॉ मूल भावना से सम्बन्धित है वहॉं मुनि धर्म के अन्तर्गत द्रव्य क्रिया एंव भाव क्रिया दोनों में ही सत्यव्रत का पालन आवश्यक है। क्रोध, लोभ, भय, हंसी, भाषण में औचित्य रखना ये सत्यमहाव्रत की पांच भावनाऐं हैं।

अस्तेय महाव्रत

भिक्षुओं के लिए तिलमात्र भी वस्तु बिना दिये लेने का निषेध है। साथ ही पर्वतों की गुफाओं, वृक्षकोटर एंव परित्यक्त धरों में, दूसरे को वाधा न पहुँचाना, सीमित अन्न ग्रहण करना वाद विवाद में न पड़ना, निस्पृहता इसकी पंच भावनाऐं है[२४०]।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

मुनि या भिक्षु के लिए सर्वथा कामभाव का त्याग आवश्यक बताया गया है। स्त्री पुरुष के मनोहर अंगों का निरीक्षण, श्रृंगारात्मक कथावार्ता सुनना, पूर्व की कामवासनाओं का स्मरण करना, कामोत्तेजक वस्तुओं का सेवन तथा शरीर श्रृंगार इन पॉचों प्रवृत्तियों का परित्याग करना इसकी पंच भावनाऐं हैं[२४१]।

अपरिग्रह महाव्रत

ममत्वभाव को आभ्यन्तर चेतना द्वारा नियन्त्रित करने के लिए सांसारिक वस्तुओं में तिलमात्र भी परिग्रह रखने का मुनियों के लिए निषेध किया गया है। अपरिग्रहवृत्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए पॉचों इन्द्रिय सम्बन्धी मनोज्ञा वस्तुओं के प्रति राग एंव अमनोज्ञ के प्रति द्वेष भाव का परित्याग इन पॉच भावनाओं का पालन आवश्यक बताया गया है[२४२]।

इन महाव्रतों का संयम एंव पूर्ण विरक्ति के साथ पालन न करने पर भिक्षु इस लोक एंव परलोक में दण्ड प्राप्त करते एंव संसारचक्र में पड़ते है[२४३]।

समिति

महाव्रतों के साथ ही पॉच समितियों एंव तीन गुप्तियों का पालन जैन भिक्षुओं के आवश्यक था[२४४]।

ईर्यासमिति

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। भिक्षुओं के लिए इससे पूर्णरुपेण बचने के लिए पृथ्वी पर चलने फिरने में चार पॉच हाथ आगे देखकर चलने एंव अन्धकार में आवागमन करना निषिद्ध है। यही ईर्या समिति है।

भाषा समिति

के अन्तर्गत निन्दा, हंसी, असत्य, कटु, अप्रिय वाणी का प्रयोग न करने की जानकारी होती है।

एषणा समिति

भिक्षा द्वारा शुद्ध निरामिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करने को निर्देशित किया गया है।

आदान निक्षेप समिति

ज्ञान एंव चारित्र की रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुऐं यथा – ज्ञानार्जन के लिए शास्त्र, हिंसा से रक्षा के लिए पिच्छिका, शौच निमित्त कमंडल, आदि रखने की अनुमति प्राप्त होने की जानकारी होती है।

प्रतिस्थापन समिति

सब प्राणियों के हित को ध्यान में रखते हुए जीवन जन्तु रहित एकान्त एंव सूखे स्थान पर मलमूत्रादि त्याग करना मुनि की प्रतिस्थापना समिति कहलाती है।

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि पंच समितियाँ कर्मास्त्रव को रोककर निवृत्ति की ओर ले जाती है[२४५]।

गुप्ति

मन वचन एंव काय की कियाऐं ही कर्मवन्ध को रोकती एंव बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करती है। जिससे धार्मिक क्रियाऐं सम्भव होने की जानकारी होती है[२४६]। त्रिगुप्ति आचरण युक्त मुनियों का जीवन सफल माना गया है[२४७]।

(मनो) – मनोगुप्ति

ध्यान को – मन को बुरे संकल्पों एंव विचारों में प्रवृत्त न होने देने को "मनोगुप्ति कहते हैं।

वचनगुप्ति

मौन रहने को, आवश्यकता होने पर बोलने, जिससे किसी दूसरे को दुःख न हो, "वचनगुप्ति" कहते हैं।

कायगुप्ति

शरीर को स्थिर रखना, आवश्यकता होने पर हिलने चलने की प्रवृत्ति करना जिससे किसी को कष्ट न हो इसी का नाम कायगुप्ति है।

अमितकीर्ति मुनि द्वारा त्रिपुष्ठ को सिंह भव में त्रिगुप्तियों का पालन करने के उपदेश देने की जानकारी होती है[२४८]।

बारह अनुप्रेक्षाऐ

चरितकाव्यों से मुनियों द्वारा सांसारिक सुखों में अनासक्त भाव लाने एंव प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख होने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं के पालन करने की जानकारी होती है[२४६]। संसार क्षणभंगुर है इसमें जो कुछ भी है वह अनित्य है अतएव आसक्ति करना निष्फल है इस प्रकार के चिन्तन को *अनित्य–भावना*[२५०] कहा गया है।

इस अनित्य संसार चक्र में जरा, जन्म, मृत्यु आदि विपत्तियों से जीव की कोई रक्षा नहीं कर सकता केवल आत्मा ही इसे बचा सकती है। इस प्रकार के भावों का उदय होना ही *अशरण भावना*[२५१] है।

मनुष्य को संसार में कर्मो के अनुसार र्तियंच, देव, मनुष्य एंव नरक गति प्राप्त होती है एंव कर्मो के भेद से ही मोहवश दुःख प्राप्त होता है यह चिन्तन *संसार भावना*[२५२] है।

जीव अकेले ही उत्पन्न होकर अपने कर्मो का फल अकेले ही भोगता है, अकेले ही मृत्यु को प्राप्त करता है इस तरह के विचार जब मुनि के हृदय में उत्पन्न होते हैं उसे *एकत्व भावना*[२५३] कहा गया है।

इन्द्रिय एंव इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ देहादि आत्मा से भिन्न है देह एंव आत्मा का स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यह *अन्यत्व भावना* है[२५४]।

यह शरीर रुधिर, मॉस, पिण्ड का बना है, अपवित्र है इससे अनुराग करना निष्फल है यह *अशुचित्व भावना* है[२५५]।

मन, वचन एंव काय की प्रवृत्तियों से किस प्रकार कर्मो का आस्त्रव होता है इसका चिन्तन ही "*आस्त्रव भावना* है[२५६]।

मुनियों के लिए महाव्रत, समिति, गुप्तियों, धर्म, परीषह एंव अनुप्रेक्षाओं का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है उनसे किस प्रकार कर्मास्त्रव को रोका जा सकता है ये चिन्तन ही *संवर भावना* है[२५७]।

व्रतों एंव बाह्य एंव आभ्यन्तर तप के द्वारा बंधे हुए कर्मो को किस प्रकार रोका जा सकता है मुनियों द्वारा इस प्रकार चिन्तन करना उनकी *निर्जरा भावना* है[२५८]।

इस अनन्त आकाश, उसके लोक एंव अलोक विभाग, उनकी उत्पत्ति स्थिति एंव प्रलय, अनादित्व, अकर्तृत्व, एंव लोक में विद्यमान सभी जीवादि द्रव्यों का चिन्तन *लोकभावना* है[२५९]।

जैन धर्म में मान्य त्रयरत्नों के पालन से ही बार बार संसारगमन के बाद प्राप्त मानव जन्म को सार्थक किया जा सकता है यह *बोधि–दुर्लभ* है[२६०]।

जन्म, जरा, मृत्यु एंव महाभयों की औषधि रुप जो दस प्रकार का धर्म जिनेन्द्र देव द्वारा कहा गया है वह "*धर्मभावना* है[२६१]।

दस – धर्म

चरितकाव्यों से रागद्वेष आदि दुर्भावनाओं से दूषित होने वाली मानसिक अवस्थाओं के उपशमन के लिए दस प्रकार के धर्मो – उत्तम, क्षमा मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य एंव ब्रह्मचर्य आदि की जानकारी होती है[२६२]। इन धर्मो के द्वारा मन के क्रोधादि कषायों को जीवन के लिए विरोधी गुणों को उत्पन्न किया जाता है। धर्म को स्वर्ग सुख, एंव इन्द्रिय सुख एंव समस्त सुखों का मूल[२६३] माना गया है।

परीषह

महाव्रतों, अनुप्रेक्षाओं, समिति, गुप्ति एंव धर्म आदि के नियमों के पालन से ज्ञात होता है कि जैन भिक्षुओं की मुख्य साधना समत्व को प्राप्त करने के लिए होती है। कर्मो के आस्त्रव को रोकने एंव मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्हें सभी प्रकार के परीषहों को सहन करना होता है[२६४]। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डॉस, मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्रीपरीषह, निद्रा, शैय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोगविजय, तृणस्पर्शविजय, मलपरीषह, सत्कारपुरस्कार विजय, अज्ञान, प्रज्ञाविजय, अदर्शन आदि २२ परीषहों एंव उन पर विजय प्राप्त करने के उल्लेख वर्धमानचरित्र में प्राप्त होते हैं[२६५]।

तप

कर्मो द्वारा उत्पन्न दोषों के विनाश के लिए तप को महत्वपूर्ण साधन माना गया है[२६६]। स्पर्श, रस, गन्ध, रुप एंव शब्द की संगति के त्याग एंव कायकलेश द्वारा शरीर क्षीण करने को तप कहा जाता है[२६७]। बाह्य एंव आभ्यन्तर दो प्रकार के तपों के उपदेश करने की जानकारी होती है[२६८]। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैय्यासन, एंव कायकलेश ये बाह्य तप है[२६९] एंव प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, एंव ध्यान ये छः आभ्यन्तर तप है[२७०]। राजाओं द्वारा जिनदीक्षा ग्रहण कर लेने पर बारह प्रकार के कठोर तप निर्विघ्न रुप में करने की जानकारी होती है[२७१]।

ध्यान

मन को ललाट के मध्य में सन्निहित करके, नेत्रों को नासाग्र करके, एकाग्र मन से चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है[२७२]। आर्त्त, रौद्र, धर्म एंव शुक्ल के भेद से ध्यान चार प्रकार कहा गया है[२७३]। आर्त्त एंव रौद्र ध्यान के स्वरुप, प्रकार के वर्णन के साथ इसे त्याज्य बतलाया गया है[२७४]। चरितकाव्यों में धर्म ध्यान पर बल एंव इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है[२७५]। शुक्ल ध्यान के चार प्रकारों –

पृथकत्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क अतीचार, सूक्ष्म किया प्रतिपाती, एंव व्युपरत–क्रिया–निवृत्ति का उल्लेख मिलता है[२७६]। यह ध्यान केवल ज्ञान के चरम अवस्था में होता है योगी कमशः आत्मा को कर्ममल से रहित बनाकर अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है[२७७]। इस तरह ध्यान द्वारा पापों के नष्ट होने, बुद्धि शुद्ध एंव चरित्र पालन स्थिर होने की जानकारी होती है[२७८]।

चरितकाव्यों से ध्यान के आसनों के स्वरुप की जानकारी होती है जिनमें पद्मासन, वीरासन एंव सुखासन प्रमुख हैं[२७९]।

मोक्ष

जैनधर्म के अन्तर्गत चिरस्थायी एंव अनन्तसुख मोक्ष की प्राप्ति कर्मो के क्षय हो जाने पर प्राप्त होती है[२८०]। इसी कारण भिक्षुओं को सांसारिक प्रवृत्ति से धर्मसाधनरुप विरक्ति की ओर जाने के उपदेश देने की जानकारी होती है[२]। मोक्ष को जैनदर्शन में सॉतवा तत्व माना है[२८२]। वैशेषिक आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणों के अभाव को एंव सांख्यवादी ज्ञानादि से रहित केवल चैतन्यस्वरुप की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं[२८३]। चरितकाव्यों में मोक्ष मार्गी को तत्वों का ज्ञाता एंव सम्यग् दृष्टि युक्त कहा गया है[२८४]।

त्रयरत्न

त्रयरत्नों को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है[२८५]। वर्धमान चरित में त्रयरत्नों के साथ तप को ही मोक्ष प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन माना गया है[२८६]। वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा, ज्ञान एंव कर्म को त्रयरत्न माना गया है[२८७]। रत्नत्रय को चार धातियों कर्मो का नाशक कहा गया है[२८८]।

शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरुप सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होने को सम्यक्दर्शन कहा गया है[२८९] चरितकाव्यों से सम्यकदर्शन के दस प्रकारों एंव उनसे जन्म जन्मान्तरों के पापों के नष्ट होने एंव मोक्ष प्राप्ति की जानकारी होती है[२९०]।

जीवादि सात तत्वों में जो श्रद्धा भाव उत्पन्न होते हैं उनकी पूर्ण जानकारी प्राप्त करना सम्यक् ज्ञान है[२९१]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि ज्ञानहीन क्रिया से कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है इसी कारण इसे मोक्ष प्राप्ति का द्वितीय सोपान माना गया है[२९२]। मति, श्रुति, अवधि, मनपर्ययः एंव केवल ज्ञान के भेद से सम्यक् ज्ञान के पॉच प्रकारों एंव ऋषभ द्वारा सम्यक्ज्ञान द्वारा मोक्ष मार्ग को जानने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२९३]।

कर्मो के संवर एंव निर्जरा के लिए सम्यक्ज्ञान एंव दर्शन के साथ ही सम्यक्चरित्र भी आवश्यक है। चरितकाव्यों से सम्यकत्व आदि के भेद से ५ भेदों[२९४] एंव सागार एंव अनागार की दृष्टि से दो भेदों की जानकारी होती है[२९५]। सम्यक्चारित्र

सदाचारी बनाने एंव मोक्ष प्राप्ति का महत्पपूर्ण साधन है[२९६]। इस तरह सम्यक्त्रय को विशेष महत्व दिया गया है[२९७]।

सम्यकत्व मिथ्यात्व

सम्यकत्व द्वारा मोक्ष प्राप्ति के साथ ही मिथ्यात्व द्वारा जीवों को कर्मवन्धनों में वद्ध कर लेने की जानकारी होती है[२९८]। चरितकाव्यों से मिथ्यात्व के विपरीत स्वभाव आदि पॉच लक्षणों एंव सम्यकत्व के चार लक्षणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२९९]। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर ही अष्टांग सम्यकत्व प्राप्ति सम्भव है जिससे संसार का उत्कर्ष होता है[३००]। औपशमिक, क्षायिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, एंव वेदक ये सम्यकत्व के पॉच भेद हैं[३०१]।

कर्म सिद्धान्त

चरितकाव्यों से मानव, तिर्यच, स्वर्ग, नरक आदि चतुर्गतियॉ एंव उनमें प्राप्त होने वाले सुख दुःख कर्मानुसार प्राप्त होने की जानकारी होती है। यही जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त है[३०२]। जैन धर्म एंव दर्शन के अन्तर्गत कर्म को एक वस्तुभूत पदार्थ माना गया है जो कि जीव की क्रिया से आसक्त होकर उसमें मिल जाता है इसी कारण जैन दर्शन कर्म एंव जीव का सम्बन्ध अनादि मानता है[३०३]। जीवों द्वारा सत्कर्मो को दुष्कर्मो से नष्ट करके दुःख प्राप्त करने एंव सत्कर्मो से दुष्कर्मो को नष्ट करके सुख प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं[३०४]। प्रायः रागी मनुष्य कर्मो से बंधता एंव वीतरागी उन्मुक्त होता है[३०५]।

कर्म के प्रकार

कर्म की आठ मूल प्रकृति होने के कारण कर्मो के आठ प्रकार एंव उनके उत्तरभेदों की जानकारी होती है[३०६]।

"दर्शनावरण कर्म" आत्मा के दर्शननामक चैतन्य गुण को आत्मसात करता है[३०७] इस कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख बंराग चरित में प्राप्त होता है[३०८]। "ज्ञानावरणी कर्म" आत्मा के ज्ञान गुण को आत्मसात कर लेता है जिससे संसारावस्था में ज्ञानगुण पूर्णरुपेण विकसित नहीं हो पाता है। इस कर्म की पॉच उत्तर प्रकृतियों की जानकारी होती है जिनकी प्राप्ति ज्ञानावरणीय कर्मों के समाप्त कर लेने पर ही सम्भव है[३०९]।

चतुर्गतियों में सुख दुःख की प्राप्ति कराने वाले कर्मो को "वेदनीय कर्म" कहा गया है। साता एंव असाता भेद से इस कर्म की दो मूल प्रकृति है[३१०]। "मोहनीय कर्म" अपरिग्रह वृत्ति में अविवेक आदि विरोधी गुणों को उत्पन्न करते हैं। चरित्र एंव

दर्शन मोहनीय की तीन उत्तर प्रकृतियों की जानकारी चरितकाव्यों से होती है। चारित्र मोहनीय की चार उत्तर प्रकृतियों क्रोध, मान, माया लोभ के चार चार प्रकारों की जानकारी चरितकाव्यों से होती है[३११]।

कर्मानुसार प्राप्त होने वाली देव, नरक, तिर्यच एंव मनुष्य गतियों में आयु का निर्धारण करने वाले कर्म "आयु कर्म" कहलाते हैं[३१२]। देवायु, नरकायु, मनुष्यायु एंव तिर्यंवायु ये चार आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियॉ है[३१३]।

मोहनीय कर्मो की भॉति ही "अन्तराय कर्म" बाह्य पदार्थ एंव भोगोपभोग की वस्तुओं के विकास में बाधाऐं उत्पन्न करते हैं। दान, भोग, लाभ, उपभोग, वीर्य ये पॉच उत्तर प्रकृतियॉ हैं[३१४]। अन्तराय कर्मो के नष्ट हो जाने पर ही इन की प्राप्ति होती है[३१५]।

चरितकाव्यों से "नाम कर्मो" से शारीरिक गुणों का विकास होने की जानकारी होती है। नामकर्म के ४२ भेद एंव उपभेदों की ६३ उत्तर प्रकृतियों की जानकारी होती है[३१६]।

"गोत्र कर्म" का सम्बन्ध लोक व्यवहार सम्बन्धी आचरण से सम्बन्धित है। लोकपूजित आचरण होने वाले कुल को उच्च गोत्र एंव लोकनिन्दित आचरण होने वाले कुल को नीच गोत्र कहा जाता है[३१७]।

चरितकाव्यों में प्राप्त आठ कर्मो में साता वेदनीय, नामकर्म की ४२ प्रकृति एंव उच्च गोत्र इन कर्म प्रकृतियों को पुण्य प्रकृति एंव शेष को पाप प्रकृति कहा गया है[३१८]। मोहनीय कर्म को सर्वाधिक शक्तिशाली बतलाया गया है क्योंकि जीवन की आदि क्रियाओं का स्त्रोत जीवन की मनोवृत्ति ही है।

चरितकाव्यों से कषायों के भेद एंव उनके स्वरुप की जानकारी होती है[३१९]।

जैन दर्शन

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक जीवात्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता को लिए मुक्त हो सकता है। मुक्त जीव अनन्त ज्ञान के अधिकारी होते हैं इसी कारण जैनधर्म में इनका ईश्वर रुप में उल्लेख है[३२०]। तीर्थकंर के जन्म से पूर्व जिनमाता को १६ स्वप्न दिखायी देने एंव सुरांगनाओं द्वारा सेवा करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[३२१]। चरितकाव्यों से तीर्थकंरों की उत्पत्ति, जन्माभिषेक, बालक्रीड़ा, विवाह, साम्राज्य प्राप्ति के साथ ही सांसारिक क्षणभंगुरता देखकर दीक्षा ग्रहण करने एंव निर्वाण प्राप्ति की जानकारी होती है[३२२]। इन अवसरों पर इन्द्रादिक देव सम्मिलित होते एंव पूजा करते थे[३२३]। पंचकल्याणरुप पूजा के कारण इन्हें "अर्हत्" एंव मुक्ति होने से पूर्व मुक्ति का मार्ग बताने के कारण "तीर्थकंर कहा गया हैं। ये समवसशरण सभा में धर्म के आचार विचारों एंव मोक्ष के मार्ग से प्राणीमात्र को उपदेश देते थे[३२४]। जो कर्मवन्धन

को नष्ट करने वाले एंव कल्याणकारी होते थ[३२५]। सिंह को उसके पूर्वभवों से अवगत कराकर जैनधर्म के सिद्धान्तों के उपदेश करने एंव पशुओं द्वारा मानव के प्रति किये गये उपकारों के वर्णन जैन धर्म की प्राणीमात्र के प्रति उदारवादी भावनाओं को व्यक्त करते हैं[३२६]।

पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र में अरिहन्त को प्रथम स्थान दिया गया है। इसे अनुपम सुख प्रदान करने वाला एंव संसार से पार करने वाला बतलाया गया है[३२७]। सांसारिक क्षणभंगुरता एंव काया कलेशों का उल्लेख करके स्वधर्म पालन करने के उपदेश दिये गये हैं[३२८]।

द्रव्य व्यवस्था

जैन दर्शन में द्रव्य व्यवस्था के द्वारा ही विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थो का निर्माण माना जाता है । मुख्यतः जीव एंव अजीव दो प्रकार के द्रव्य माने गये हैं[३२९]। बंराग चरित में द्रव्य के चार प्रकार माने गये हैं[३३०]। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि जैन दर्शन में जीव एक तत्व है जो छः प्रकार का है वह प्रति समय उत्पाद, व्यय एंव ध्रोव्य स्वरुप है अतएव जीव द्रव्यं दृष्टि से नित्य एंव पर्याय दृष्टि से अनित्य है। जीव के *मुख्य लक्षण उपयोग के दो भेद हैं – दर्शन* एंव ज्ञान। अपनी सत्ता को अनुभव करने की शक्ति का नाम दर्शन एंव बाह्य पदार्थो को जानने, समझने की शक्ति का नाम ज्ञान है[३३१]। व्यावहारिक दृष्टि से पंचैन्द्रियों, मन, वचन, काय रुप तीन बलों एंव श्वासोच्छवास आयु एंव चैतन्य इन दस प्राण रुप लक्षणों की सत्ता के द्वारा जीव की पहचान सम्भव है[३३२]।

जीव के भेद

मूलतः जीव का मौलिक स्वरुप एक समान होने पर भी कर्मो के अनुसार जीवों के दो भेद हैं[३३३] – संसारी एंव मुक्त। कर्मवन्धन से बद्ध, पुर्नजन्ममरण को प्राप्त करने वाले संसारी[३३४] एंव कर्मबन्धनों से मुक्त वीतरागी मुक्त जीव कहलाते हैं[३३५]। इन्द्रिय अपेक्षा से स्थावर एंव त्रस दो भेद हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहा गया है। पृथ्वी कायिक जलकायिक, तेजसकायिक, वायुकायिक एंव वनस्पतिकायिक भेद से यह पॉच प्रकार के हैं[३३६]। त्रस जीवों के चार प्रकार हैं – द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एंव पंचेन्द्रिय[३३७]। विकास दृष्टि से जीव के कमशः बहिरात्मा एंव अन्तरात्मा एंव परमात्मा तीन प्रकार हैं[३३८]।

चतुर्गति

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि गति की अपेक्षा जीव के चार भेद हैं[३३९] १ मनुष्य, २ देव, ३ तिर्यंच, ४ नरक। चरितकाव्यों में जीव को अनादि एंव कर्मो के अनुसार

गति प्राप्त करने वाला बतलाया गया है। मनुष्य एंव तिर्यंच गति को प्राप्त जीव अपने सत्कर्मो से देव गति एंव दुष्कर्मो से नरक गति को प्राप्त करता है[३४०]। मुनियों ने नरक की पॉच गति बतलायी है[३४१] जिन्हें जीव अपने कर्मो के भेद के अनुसार प्राप्त करता हे। नरक में प्राप्त दुःख एंव दण्ड विधान कर्मो के अनुरुप ही प्राप्त होते हैं[३४२]। देवगति में भी स्वामी के स्वामित्व में बंधे रहने एंव आपस में लड़ने से दुःख प्राप्त होने की जानकारी होती है[३४३]। कर्मो के अनुरुप मनुष्य एंव तिर्यंच जीव एकेन्द्रिय गति तक में जाते हैं[३४४]। इस तरह जैन दर्शन में मानव जाति से लेकर पेड़ पौधे पशु तक सूक्ष्म कायिक जीवों से लेकर स्थूलकायिक समस्त जीवों का वर्णन प्राप्त होता है।

अजीव द्रव्य

चैतन्य गुण से रहित जीवों को अजीव कहा जाता है। ये पॉच प्रकार के हैं[३४५]।

१ पुद्‌गल द्रव्य

अजीव द्रव्यों के अन्तर्गत मूर्तिमान पदार्थो को पुद्‌गल द्रव्य एंव अमूर्तिमान पदार्थो को अन्य अजीव द्रव्य। जैन शास्त्रों में पुद्‌गल का लक्षण रुप, रस, गन्ध एंव स्पर्श बतलाये गये हैं। इन चारों लक्षणों की कुछ न कुछ मात्रा में धारण करने के कारण स्थावर एंव त्रस जीव पुद्‌गल के ही रुप हैं[३४६]। चरितकाव्यों से पुदगल द्रव्य के छः प्रकारों की स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म की जानकारी होती है। स्थूलतम रुप पर्वतों एंव पृथ्वी के रुप में एंव सूक्ष्मतम रुप परमाणु में है। इन परमाणुओं के योग से ही पुद्‌गल के ये विभिन्नरुप बनते एंव गुण उत्पन्न होते हैं[३४७]। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चॉदनी एंव धूप को पुद्‌गल का पर्याय कहा गया है। क्योंकि ये सभी इन्द्रिय ग्राह्य है[३४८]। ज्ञानावरणादिक आठ कर्म, कौदारिक, वैक्रियक आदि पॉच प्रकार के शरीर, मन वचन प्रवृत्ति सभी सांसारिक जीव पुद्‌गल द्रव्य में व्याप्त हैं[३४९]।

२–३ धर्म एंव अधर्म द्रव्य

इन्हें स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है जो जीव एंव पुद्‌गल द्रव्यों को क्रमशः चलने एंव रोकने में सहायता देते हैं[३५०]। ये दोनों आकाश की तरह अमूर्तिक समस्त लोक व्यापी एंव असंख्यात प्रदेश युक्त एंव रुप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द आदि से रहित अखण्डित हैं[३५१]।

४ आकाश द्रव्य[३५२]

आकाश द्रव्य को अमूर्तिक एंव विश्वव्यापी बतलाया गया है जो अन्य सभी

द्रव्यों को स्थान देता है। आकाश द्रव्य के दो भेद हैं – लोकाकाश एंव अलोकाकाश। जिसके कारण धर्म एंव अधर्म द्रव्य हैं।

सर्वव्यापी आकाश के मध्य में "लोकाकाश" है। सीमित होते हुए सभी द्रव्यों की सत्ता अपने में समाहित किये हैं।

लोकाकाश के चारों ओर "अलोकाकाश" हैं। धर्म एंव अधर्म द्रव्यों के अभाव के कारण इसमें किसी भी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है।

५ कालद्रव्य[३५३]

वस्तुमात्र में परिवर्तन काल द्रव्य के द्वारा होता है ये निश्चय एंव व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है।

निश्चयकाल समस्त लोकाकाश में व्याप्त रहते हुए अपनी द्रव्यात्मक सत्ता को बनाये हैं। अन्य द्रव्यों की भांति बहुप्रदेशी नहीं है प्रत्येक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने अपने रुप में पृथक् हैं – जो पर्यायों द्वारा परिवर्तित होते रहते हैं।

पुद्गल व्यवहारकाल निश्चयकाल के विपरीत हैं। आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मन्दगति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए दूसरे प्रदेश में पहुँचता है वह व्यवहार काल का समय है। यह समय कालद्रव्य की पर्याय है। समयों के समूह को ही आवलि, उच्छवास, मुहुर्त्त, दिन–रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि कहा जाता है[३५४]। इस व्यवहार काल की जानकारी सौरमंडल की गति एंव घड़ी बगैरह के द्वारा होती है।

जैन दर्शन में मान्य इन षड्द्रव्यों में जीव द्रव्य ही चेतन है एंव अन्य सभी द्रव्य अचेतन हैं। इसी तरह पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्त है एंव अन्य द्रव्य अमूर्त्त हैं। सभी द्रव्यों के सामान्य लक्षणों की जानकारी चरितकाव्यों से होती है[३५५]।

बन्ध द्रव्य

कर्मो एंव उनकी उत्तर प्रकृतियों से कर्मबन्ध का कारण जीव का कषायात्मक मन, वचन, एंव काय की प्रवृत्तियाँ हैं। कर्म परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध हो जाने को कर्मवन्ध कहते हैं[३५६]। मिथ्यात्व परिणाम, अविरति, प्रमाद, कषाय एंव योग ही वन्ध के कारण है[३५७]। चरितकाव्यों से मिथ्यात्वपरिणाम के सात भेदों, अविरति के बारह भेदों, प्रमाद के आठ भेदों, कषाय के पच्चीस भेदों एंव योग के तीन भेदों एंव अनेक प्रभेदों की जानकारी होती है[३५८]।

कर्म सिद्धान्त में कर्मो के सत्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, सकमंण, उपशम, निधत्ति एंव निकाचना पर विचार करने की भी जानकारी होती है[३५९]। शुभ एंव अशुभ दोनों ही प्रवृत्तियाँ कर्मबन्ध का कारण है। इनके द्वारा जीव

एक गति से दूसरी गति एंव सुख–दुःख को प्राप्त करता है[३६०]। इन कर्मो से पृथक शुद्धावस्था ही मोक्ष गति को प्राप्त कराती है[३६१]। कर्मबन्ध के चार प्रकार – प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एंव प्रदेश हैं[३६२]।

वस्तु के स्वभाव को प्रकृति कहा जाता है। कर्म परमाणुओं में जिस प्रकार की परिणाम उत्पादक शक्तियाँ आती हैं उसी के अनुरुप कर्म प्रकृतियाँ निश्चित होती है। प्रकृति बन्ध से कषायात्मक प्रवृत्तियों एंव कर्म के आठ प्रकारों की जानकारी होती है[३६३]।

आत्मप्रदेशों के मध्य कर्मो में कषायों की तीव्रता एंव मन्दता के अनुसार निश्चित काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति होती है उसे स्थिति बन्ध कहते हैं। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि जीव के कर्मो के अनुसार यह स्थिति तीन प्रकार की होती है[३६४] – जधन्य, मध्यम एंव उत्कृष्ट। चरितकाव्यों से आठों कर्मो की जधन्य एंव उत्कृष्ट की जानकारी होती है[३६५]।

कर्म प्रकृतियों में स्थिति बन्ध के साथ–साथ जो तीव्र या मन्द सुख–दुःख प्रदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है उसको ही अनुभाग बन्ध कहा गया है। अनुभाग बन्ध जीवों के भावों के अनुसार उत्पन्न होता है[३६६]।

कषायात्मक प्रवृत्तियों द्वारा आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपरमाणुओं के सम्बन्ध होने को प्रदेश बन्ध कहा जाता है। इन कर्म परमाणुओं की संख्या अनन्त है जिनका विभाजन कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में होता है[३६७]।

४ आस्त्रव द्रव्य

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि मन, वचन एंव काय योग (क्रियाओं के संचालन) द्वारा आत्मा के प्रदेशों में एक परिस्पन्दन होता है जिससे आत्मा में ऐसी एक अवस्था उत्पन्न होती है कि आस पास स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परिमाणु आत्मा के समीप आ जाते हैं। आत्मा एंव पुद्गल परिमाणुओं का मिलन ही आस्त्रव है। आस्त्रव के शुभास्त्रव एंव अशुभास्त्रव दो भेद हैं[३६८]।

शुभास्त्रव क्रोध, लोभ, मान, माया आदि कषायों से रहित शुद्ध एंव पुण्यात्मक क्रियाओं युक्त होता है। इससे आत्मा एंव कर्मप्रदेशों का कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नहीं होता है। मन वचन एंव काय से प्रतिक्षण क्रिया होने के कारण यह समस्त सांसारिक एंव चेतन प्राणियों में पाया जाता है लेकिन आत्मा पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता।

अशुभास्त्रव कषायों से युक्त अशुद्ध एंव पापात्मक होता है। इनसे आत्मप्रदेशों में पर पदार्थ ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होने के कारण आत्मा को बिना प्रभावित किये पृथक् नहीं होता है। अशुभास्त्रव के चार कषाओं, पांचेन्द्रियों, अविरति एंव

पंचबीस क्रियाओं के अनुसार अनेक भेद हैं उनके तीव्र, मन्द, ज्ञात एंव अज्ञात परिणामों के आधार पर ही जीव सुख–दुःख प्राप्त करते हैं। जीव एंव अजीव दोनों ही द्रव्य आस्त्रव के आधीन हैं।

चरितकाव्यों से जीवद्रव्य के अधिकार से आस्त्रव तत्व के १०८ भेद एंव ४३२ उत्तरभेद एंव अजीवद्रव्य के अधिकार से ४ भेदों की जानकारी होती है। दर्शनावरणीय आदि आठ कर्मो के विभिन्न कर्मास्त्रवों एंव कर्मास्त्रवों के अनुसार चतुर्गति प्राप्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[३६९]।

५ संवर द्रव्य

नये कर्मो का जीव में न आना ही संवर है[३७०]। भाव एंव द्रव्य के भेद से संवर द्रव्य दो प्रकार का है[३७१]।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एंव योग से आत्मा को पूर्णरुपेण पृथक करने को भाव संवर कहते हैं। जैनधर्म एंव दर्शन में वर्णित समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जन्य, चारित्र आदि भाव संवर के प्रमुख साधन हैं।

जीव को पूर्व संचित कर्मो से पृथक होने के साथ ही नये कर्मो के बन्ध से दूर रहने के उपदेशों की जानकारी होती है। नवीन कर्मो से आत्मा को मुक्त करना ही द्रव्य संवर है।

६ निर्जरा द्रव्य

जिस तरह जीव में प्रत्येक समय नये कर्मो का आस्त्रव होता है उसी तरह प्रतिक्षण पहले बंधे हुये कर्मो की निर्जरा भी होती है क्योंकि जो कर्म अपना फल देते जाते हैं वे नष्ट होते जाते हैं। निर्जरा द्रव्य के दो प्रकार हैं[३७२] – संविपाक एंव अविपाक।

जब एक ओर नये कर्मो के आस्त्रव को रोक दिया जाता है एंव दूसरी और पहले बंधे हुए कर्मो [illegible] व से अलग कर दिया जाता है तब इसे संविपाक अथवा संवरपूर्वक निर्जरा [illegible] हैं।

जब एक ओर नये कर्मो के [illegible]व को रोक दिया जाता है एंव दूसरी और पहले बंधे हुए कर्मो को जीव से अलग कर दिया जाता है तब इसे संविपाक अथवा संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं।

जब केवल पूर्व बंधे हुए कर्मो से जीव को अलग कर दिया जाता है उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं लेकिन इस निर्जरा से कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि प्रत्येक समय नये कर्मो का आस्त्रव होता रहता है।

प्रमाण

मोक्षप्राप्ति के लिए जैनधर्म में ज्ञानोपासना को अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। पदार्थो के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है – प्रमाण एंव नय[३७३]। मति, श्रुति, अवधि, पर्याय एंव केवल ज्ञान की जानकारी प्रमाण द्वारा ही होती है। इन प्रमाणभूत ज्ञानों के द्वारा द्रव्यों का समग्ररुप में बोध होता है। चरितकाव्यों से प्रमाण के दो प्रकारों प्रत्यक्ष एंव परोक्ष की जानकारी होती है[३७४]। प्रत्यक्ष का तात्पर्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष से है। शब्द उपमान, एंव अनुमान को परोक्ष प्रमाण माना गया है क्योंकि इनसे परोक्ष पदार्थो की जानकारी होती है। इन्हें श्रुतज्ञान से सम्बन्धित माना गया है।

नय

पदार्थो के अनन्त गुण एंव पर्यायों में से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण धर्म के प्रतिपादन को नाम नय है। नयों द्वारा वस्तु के विविध गुणांशों का निरुपण भी सम्भव है। चरितकाव्यों से द्रव्यार्थिक एंव पर्यायार्थिक नयों की जानकारी होती है[३७५]।

द्रव्यार्थिक नय

वस्तु का वह धर्म जिससे वस्तु के विविध परिणामों के बीच एकता बनी रह सकती है उसकी संज्ञा द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह, एंव व्यवहार को द्रव्यार्थिक नय माना गया है क्योंकि इनमें प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता को ग्रहण कर विचार किया जाता है। इसकी पर्यायें गौण होती है[३७६]।

पर्यायार्थिक नय

देशकाल के अनुसार उत्पन्न होने वाले विशेष धर्मो के निरुपण को पर्यायार्थिक नय की संज्ञा दी गयी है। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ एंव एंवभूत नय पर्यायार्थिक नय कहे गये हैं क्योंकि इनमें पदार्थो की पर्याय विशेष का विचार किया जाता है[३७७]।

दोनों प्रकार के नयों का समायोजन करने पर नय के सात प्रकार किये गये हैं[३७८]। दार्शनिकों द्वारा तत्वों के स्वरुप विवेचनार्थ नय के दो अन्य भेद भी किये गये हैं[३७९] – १ निश्चय नय, २ व्यवहार नय। निश्चय नय द्वारा तत्वों के वास्तविक स्वरुप एंव इसमें निहित सभी गुणों का निर्धारण होता है। व्यावहारिक नय द्वारा तत्वों की सांसारिक उपादेयता पर विचार किया जाता है।

चार निक्षेप

चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि द्रव्य का स्वरुप विभिन्न प्रकार का होता

है इसका कारण इसका स्याद्वाद अथवा अनेकान्त प्रणाली है। इन विविध रुपों को समझने एंव समझाने की पद्धतियों को ही जैनदर्शन में निक्षेप कहा गया है। चरितकाव्यों में निक्षेप चार प्रकार के बतलाये गये हैं १ नाम निक्षेप, २ स्थापना निक्षेप, ३ भाव निक्षेप एंव ४ द्रव्य निक्षेप। इस तरह वस्तु विवेचन में द्रव्य, क्षेत्र, काल एंव भाव के सम्बन्ध में ध्यान रखने, वस्तु को उसकी सत्ता, संख्या, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एंव अल्प बहुत्व के अनुसार समझने एंव एकान्त दृष्टि से बचाने के लिए चार निक्षेपों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है[३८०]।

स्याद्वाद एंव अनेकान्त वाद

जैन दर्शन में द्रव्य को अनन्त गुणात्मक एंव अनन्त पर्यायात्मक बतलाया गया है। इन द्रव्य या वस्तुओं में अनेक गुण धर्मो की स्वीकृति अनेकान्त हैं एंव उसपका विवेचन स्याद्वाद पद्धति से किया जाता है। यह अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु के प्रति व्यक्ति का ज्ञानात्मक दृष्टिकोण है। चरितकाव्यों से ज्ञात होता है कि व्यक्ति अपनी अपनी दृष्टि से वस्तु के स्वरुप का प्रतिपादन करता है। प्रत्येक वस्तु का भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार करना, भावना बनाना, मतस्थिर करना ही अनेकान्त है। अनेकान्त वाद के अन्तर्गत जीव को सभी मतों के प्रति विधेयात्मक दृष्टिकोण एंव समन्वयभाव को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है[३८१]। जब यह अनेकान्त वाणी, भाषा एंव अभिव्यक्ति का रुप धारण करता है तब यही स्याद्वाद कहलाता है। सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार स्याद्वाद की सात प्रमाण भंगिमाँ मानी गयी हैं – स्याद्अस्ति, स्याद्नास्ति, स्याद्अस्ति नास्ति, स्याद्अवक्तव्यम्, स्याद्अस्तिअवकतव्यम्, स्याद्नास्तिअवकतव्यम् और स्याद्अस्तिनास्तिअवक्तव्यम्। इस तरह द्रव्य के अनेक गुणों एंव धर्मो की सत्ता को स्वीकार करना अनेकान्त एंव उसका प्रतिपादन स्याद्वाद है[३८२]।

संदर्भ ग्रन्थ

१. द्विषो जगद्विलयमयान्यपातयत न्यषेवत स्मरणपि सन्ततीच्छया।
गृहीतवान् करमपमित्ययाचितुं स्वजन्म यः समगभयत्परार्थताम्।।
द्वि०म० २/१०
२. त्रि०श०पु०च० पर्व १/३/८
३. य०च०, पू०ख० २/३० के बाद गद्य १ बं०चं० २१रु६
४. च०च०४/३६.४०
५. ध०श० १८/३०–३४

६. व०च० १/४३
७. च०च० १/३७–४६, व०च० २/६
८. च०च० १/४७
६. व०च० ७/५३
१०. च०च० सर्ग ७
११. व०च० १४/२४–३४
१२. व०च० ३/५८–६४, जी०च० १०/२६
१३. त्रि०श०पु०च० १/४/६५८–७०, २/४/३४६–७०
१४. त्रि०श०पु०च० १/५/४५६–७०, जी०च० १०/३६, ३७
१५. य०च०पृ०ख ३/६६
१६. च०च० ३/४, द्वि०म० २/११
१७. य०च०पू०ख २/३१
१८. जी०च० १/३३–३५, ३६
१६. य०च०पू०ख० २/३२, जी०च० ७/३०
२०. त्रि०श०पु०च०२/१/१७४–७६
२१. य०च०, उ०ख, ५/१२७
२२. जी०च० ११/२
२३. च०च० ४/४१
२४. छ०चू० १रु६, बं०चं० २१/१०–१६
२५. त्रि०श०पु०च० १/२/६२४–३३
२६. त्रि०श०पु०च० १/१/२६६–७३, १/३/८–१०
२७. प्र०च० ८/२०–२१, ध०श० १८ वॉ सर्ग
२८. त्रि०श०पु०च० १/१/१७८
२६. प्र०च० ४/६१
३०. ने०म० प्रथम सर्ग
३१. त्रि०श०पु०च० १/३/१७
३२. च०च० ४/१६–६६
३३. जी०च० १०/११–१३
३४. त्रि०श०पु०च० २/१/२१०–२६
३५. त्रि०श०पु०च० २/१/२०६
३६. बं०च० २०/६, अ०श० १८वॉ सर्ग, त्रि०श०पु०च० १/२/६०५–११
३७. त्रि०श०पु०च० १/३/११–१६, २/१/१६६–६७। २/३/६४–६६
३८. बं०चं० ११/५३–६२

३६. जी०च० १०/१२६
४०. जी०च० १०/१३२
४१. जी०च० ११/४०, त्रि०श०पु०च०२/१/१६८–२०६, २/३/१६३–१७७
४२. पा०च०२/५५–५७, व०च०७/१, त्रि०श०पु०च० १/५/२५३–६१, य०च० पू०ख ३/११६, २/४४
४३. द्वि०म०२/१२, २२ एंव इस पर कविदेवरभट्ट द्वारा की गयी वृत्ति
४४. च०च० ४/४७
४५. य०च०पू०ख ३/७२
४६. त्रि०श०पु०च० २/१/१६३–७०, च०च० १२/५७, बं०चं० २/८, १३, १४, ३३,
४७. त्रि०श०पु०च० २/१/१७४–७६
४८. त्रि०श०पु०च० १/१/२६०–६३, जी०च० ७/३६, य०च०उ०ख०४/२०८, जी०च० १/३०–३२, १०/३०
४६. जी०च० १/६६–७३
५०. जी०च० १/६५–७६
५१. य०च०पू०ख ३/१२३–२७१
५२. हम्मीरकाव्य २/२२
५३. त्रिश०पु० च० १/४/२४८–६६
५४. बं०चं० ११/५३–६५
५५. चं०च० १२/५८–७६
५६. जी०च० ११/२
५७. द्वि०म० २/१३
५८. प०का० २/२५७–६०
५६. जी०च० १०/१३२
६०. प०का० १०/१०३, द्वि०म० १/३१–३४
६१. द्वि०म० २/२३
६२. च०च० १६/५
६३. च०च० १५/१३७
६४. द्वि०म० ७/५०–५१
६५. बं०च० २१/५५–५७
६६. प०का० ६/१६
६७. य०च०पू०ख ३/१६
६८. द्विम०२/१४, च०च० ५/२३, य०च०प०ख०३/२६०

६९. य०च०पू०ख०३/२६०, ३/७४
७०. य०च०पू०ख ३/६१
७१. व०च० ७/३०, ३१
७२. य०च०पू०ख० ३/६३–६५
७३. बं०च० १८/१, व०चं० ७/३, २५
७४. च०च० १२/७८–८१, व०च० ७/३, २५
७५. च०च० १२/८५
७६. व०च० ३/६२, च०च० १२/८६–६६
७७. व०च० ६/५३–७०, ७/१३–४६
७८. व०च० ८/१, य०च०पू०ख ३/४०३–२५, त्रि०श०पु०च० १/५/८०–८५
७९. जी०च० १०/२५
८०. य०च०पू०ख ३/४३८–४२
८१. बं०चं० २/३४–५०
८२. य०च०पू०ख ३/१११, २५१
८३. य०च०पू०ख ३/११५
८४. द्वि०म० २/१६
८५. य०च०पू०ख ३/११९
८६. कौ०अ०पृ० ३५, ४३
८७. य०च०पू०ख ३/११८
८८. त्रि०श०पु०च० १/२/८९३–९८
८९. प०का० ७/१९९–२३८
९०. पा०च०२/५५–६०
९१. त्रि०श०पु०च० १/२/९७७–८४
९२. य०च०उ०ख ६/१९८
९३. त्रि०श०पु०च० १/२/१६१–६४
९४. त्रि०श०पु०च० १/२/१७६–७९
९५. वही १/२/१९१–९४
९६. अ०च०९/६६०–६८
९७. त्रि०श०पु०च० १/२/९६५–६९
९८. अ०च० ४/२५८
९९. बं०च०२१/५५–५७
१००. प्र०च०८/१७०, जी०च० १०/११–१४, ४/४, २/२३
१०१. द्वि०म० २/११ की देवरभट्ट द्वारा संस्कृत वृत्ति में की गयी व्याख्या

१०२. ध०श० १६ वाँ सर्ग
१०३. बं०च० १७/१३–१८
१०४. बं०च० २०/१६–२७
१०५. व०च० ७/५६, ८/८६
१०६. य०च०पू०ख०३/४३७, गद्यात्मक भाग पृ० ३८६
१०७. बं०च० १७/३६–४४, प्र०चं० ८/१८१
१०८. त्रि०श०पु०च० १/५/३५२–६३
१०९. व०च० ७/६६
११०. त्रि०श०पु०च० १/५/४०६–१३
१११. व०च०७/६१, ८/६१
११२. व०च०६/५, प्र०च०८/१८२
११३. जी०च० १०/३८
११४. जी०च० १०/१०३, बं०च० १७/६
११५. च०च० १०वाँ सर्ग
११६. जी०च० १०/३६, व०च० ६/११
११७. जी०च० १०/६८, त्रि०श०पु०च० १/५/४१३–३४
११८. त्रि०श०पु०च० १/५/४२
११९. व०च० ६/२७
१२०. बं०च० १७/३६–८६
१२१. व०च०७/६४
१२२. त्रि०श०पु०च० १/५/४७१–७४, ५१०–१७
१२३. वही १/५/५०८–७२४
१२४. य०च०पू०ख ३/७२
१२५. त्रि०श०पु०चु० १/४/१४–४७
१२६. वही १/४/६६–८०
१२७. वही २/४/७६–१२६
१२८. त्रि०श०पु०च० १/४/१४६–५५, २/४/१०१–१०४
१२९. ध०श०म० २/१५, १६, ४/२८
१३०. जी०च० १/६२, व०च० १४/३
१३१. बं०चं० प्रस्तावना पृ० ३२–३४, ६८–७०, बं०चं० २५/२–४
१३२. त्रि०श०पु०च०१/६/२२७–२६
१३३. वही १/६/२२६–५०
१३४. आ०पु० ३८/४३, क०को०प्र०पृ० १२२

१३५. प०पु० ११/२०३
१३६. व०च०३/७२–७६
१३७. प्र०च० ५/७१
१३८. वही ५/८१
१३९. जी०च०४/१२, प्र०च० ५/११२
१४०. नी०वा०७/८
१४१. त्रि०श०पु०च० १/२/६७४–७६
१४२. ने०च०श्लोक १३
१४३. प्र०च०६/१८, जी०च० १०/३४
१४४. व०च०३/५४–५५
१४५. त्रि०श०पु०च०१/५/५२८
१४६. जी०च० ७/८
१४७. व०चं० १३/७
१४८. त्रि०श०पु०च० १/४/६५६–६८
१४९. वही १/२/६४७–५९
१५०. बं०च० १४/८
१५१. बं०च० १४/८–१५
१५२. त्रि०श०पु०च० १/२/६५४–५९, १/२/६७०–७३, य०च०पु०ख–२/पृ० १२३
१५३. वही १/६/५६२–६५, १/१/४१८
१५४. य०च०उ०ख० ८/२०–२२
१५५. जी०च० २/३५
१५६. बं०च० २/८६
१५७. वही २/७१
१५८. प्र०च० ६/२३
१५९. जी०च०३/३६
१६०. वही ३/२७–२८, ध०म० १७ वॉ सर्ग
१६१. ने०म० ११वॉ सर्ग
१६२. बं०च० १/५९
१६३. व०च० १३/४
१६४. बं०च० २/५९–७०, त्रि०श०पु०च० २/३/७२–७७
१६५. वही १/५५–६२, १२/४–६, ११–२३
१६६. वही १/६३–६७

१६७. जी०च० २/१, १८–२०
१६८. त्रि०श०पु०च० १/२/६६०–६४
१६६. य०च०उ०ख० ६/पृ ३३०, ने०चं० १२४ पृ० ५८
१७०. जी०च० ११/४, १०
१७१. ने०च०श्लोक ७१, ७८
१७२. व०च०२/२५
१७३. य०च०पू०ख २/३२२–७५
१७४. त्रि०श०पु०च० १/१/८०–८६
१७५. वही १/१/१००–१०१
१७६. ज०उ०प्र०हि०सो०भा०२, अंक १–२
१७७. जी०च० ३/५
१७८. बं०च० १३/६६–७०
१७६. त्रि०श०पु० च० २/३/४७७–८०
१८०. वही २/३/४८१–८५
१८१. त्रि०श०पु०च० २/३/५५२–५३
१८२. वही २/३/५६६–६१०
१८३. वही २/३/६१६–६५२
१८४ त्रि०श०पु०च० २/३/६५३–५४
१८५. वही २/३/६८६–७००
१८६. वही २रु३/८४–८५
१८७. वही २/३/६६४–७०
१८८. वही २/३/६७१–७२
१८६. त्रि०श०पु०च० २/३/७५०–७७२[१/२]
१६०. वही पृ० २/३/५२६
१६१. वही २/३/५३०–३१
१६२. वही २/३/५३२–३४
१६३. त्रि०श०पु०च०२/३/५४०–४६
१६४. वही २/३/७६७–८००
१६५. बं०च० ३/८, त्रि०श०पु०च० १/१/१४०–१४५
१६६. व०च०२/६५, प्र०च०६/२५
१६७. व०च०२/७०, बं०च०३/१३–३२, प०च०६/३१
१६८. ने०म० १५/८७
१६६. त्रि०श०पु०च० १/१/१८८, १/३/६५१–५३, प्र०च०६/५४

२००. बं०चं० २२/५५–७६
२०१. बं०च० २३/१–४७, ६३
२०२. बं०च० २२/२७–५४, प्र०चं०६/६७, व०चं० १२/४८
२०३. य०च०उ०ख० ७/४६, त्रि०श०पु०च० १/३/६२८, बं०चं० १५/१११
२०४. बं०चं० ११/४१–५१, प्र०चं० ६/६७, वं०च० ११/४४
२०५. प्र०च० ६/७२–७७, व०च०३/१२, ध०म० तृतीय सर्ग
२०६. व०चं० १२/५०, त्रि०श०पु०च० १/१/१८६, १/३/६२०–२७
२०७. त्रि०श०पु०च० १/३/६२०
२०८. जी०च०७/१४–१६ । य०च०उ०ख ७/२–२७
२०९. व०चं० १५/५२
२१०. वही १२/४९
२११. बं०व०२२/२९, यं०च०उ०ख ७/५३–९४, बं०च १५/११२
२१२. जी०चं० ६/१२
२१३. य०च०उ०ख०४/पृ० ५५
२१४. वही ४/५७
२१५. बं०च० २२/२९, य०च०७/१०७–३५ । ४/५६
२१६. य०च०उ०ख ७/९५–१०६
२१७. य०च०उ०ख ७/१३६–६२
२१८. य०च०उ०ख ७/१६३–७९/ जी०च० १/३६
२१९. जी०च०७/१९, त्रि०श०पु०च०१/१/१९०, य०च०पू०ख २/१७९
२२०. बं०च० १५/११७–१२०
२२१. य०च०उ०ख ७/१८१–८९
२२२. त्रि०श०पु०च १/३/६२८–३५
२२३. य०च०उ०ख०८/१, जी०च०७/१८, बं०चं० २२/३०, त्रि०श०पु०च० १/१/२९१ १/३/६३५–४३
२२४. बं०चं० १५/१२२, व०चं० १२/६२
२२५. बं०च०१५/१२३, य०च०८/२९३–३०१
२२६. वही १५/१२४, य०च० ८/३०२–७
२२७. बं०च० १५/१२४
२२८. य०च० उ०ख० ८/३०८–३१४
२२९. य०च०उ०ख० ८/३१५–३१८
२३०. वही ८/३३४
२३१. य०च०पू०ख ४/९४, ८/४५४

२३२. बंचं० १५/१२५, प्र०चं० ६/६०, य०च०८/४३४–४८, व०चं० ११/४७
२३३. व०च० १२/७०, १३/८३
२३४. जी०च० ४/११, य०च०८/१५०–५४
२३५. त्रि०श०पु०च० १/६/४३२–३३
२३६. य०च०पू०ख ४/११०, व०च० १५/५३
२३७. बं०च० ३१/१७
२३८. बं०च० १५/११२, ३१/७६, वं०च० १५/५४
२३९. वही १५/११३, ३१/७७, व०च० १५/५५
२४०. बं०च० ३१/७८, १५/११४, व०व० १५/५६–५७
२४१. वही १५/११५, ३१/७९, व०च० १५/५८
२४२. वही १५/११६, ३१/८०, वही १५/५९
२४३. व०च० १५/६०
२४४. बं०च० ३१/८१–८३, त्रि०श०पु०च० १/१/१७७
२४५. बं०च०३१/१०६, व०व० १५/८४
२४६. बं०च० ३१/८४, त्रि०श०पु०च० १/१/१७८–८२, पा०टि०४। भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० २७०–७१
२४७. व०च० १५/८४। १६/४
२४८. व०च० ११/२५
२४९. बं०च०२८/३१, व०च०१५/८९
२५०. बं०च० ३१/८६ व०च० १५/९०
२५१. बं०च० ३१/८७ व०च० १५/९१
२५२. बं०च० ३१/८८ व०च० १५/९२
२५३. बं०च० ३१/८९ व०च० १५/९३
२५४. वही ३१/९० वही १५/९४
२५५. वही ३१/९१, वही १५/९४
२५६. वही ३१/९२, वही १५/९६
२५७. वही ३१/९३, वही १५/९७
२५८. वही ३१/९४, वही १५/९८
२५९. बं०च०३१/९५, व०च०१५/९९
२६०. बं०च०३१/९६, व०च०१५/१००
२६१. बं०च०३१/९७, व०च० १५/१०१–१०२
२६२. व०च०१५/८६–८९, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० २६८
२६३. प्र०च० ६/६२–६५, त्रि०श०पु०च० १/१/१४६–५१

२६४. व०च० १५/१०३
२६५. वही १५/०१४–१२५
२६६. बं०च० ३१/७१, व०च०११/४५, १४/१२, य०च० ४/५०
२६७. य०च०४पृ५८, ८/४६५–६६, ने०च०श्लोक १३
२६८. बं०च०३१/७२, व०च०१५/१३२
२६९. व०च०१५/१३२–३७, त्रि०श०पु०च० १/१/१९८
२७०. व०च०१५/१३८–४१, त्रि०श०कु०च० १/१/१९९
२७१. व०च०१२/६३–६६
२७२. बं०च० ३१/९९, य०च०८/१६०–८९
२७३. व०च०१५/१४३–५३
२७४. य०च०८/१८३–९३
२७५. य०च०८/१९४–२०१
२७६. व०च०१५/१५३–६२, य०च० ८/२०२–३, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० २७३
२७७. बं०च० ३१/१००–८, व०च० १५/११५
२७८. ने०च०श्लोक २
२७९. ब०च० ८/२७५
२८०. बं०च०१०/२–६, ५६, व०च०१५/१८६, य०च० ८/२०४
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० २४०
२८१. बं०च० १०/११–२८
२८२. व०च० १५/१६८–८६, प्र०सं०गाथा २८–२९
२८३. य०च०६/११७
२८४. वही ६/२४६
२८५. बं०च०२६/९२, त्रि०श०पु०च० १/३/२४३, य०च०६/११७, व०च० २/१६, १५/३, प्र०च० ६/४४
२८६. व०च०११/४५, १२/५३
२८७. म०स्मृति २/१
२८८. व०च०१०/९०
२८९. य०च०४/७५, प्र०च० ६/४५–४६, त्रि०श०पु०च १/३/५८५
२९०. वही ६/२३७, व०च० १०/४५, १६/३
२९१. प्र०च०६/४५, ४७, त्रि०श०पु०च १/३/५७८–८४
२९२. बं०च०२६/१००
२९३. प्र०च०६/४७, व०च०३/५४, त्रि०श०पु०च० १/१/५२६–२७

२९४. वही ६/४८
२९५. य०च०६/२६५–६७
२९६. त्रि०श०पु०च० १/३/२६०, बं०च०२६/१०१
२९७. य०च०६/२६८–७०, बं०च० ११/१९
२९८. बं०च०११/२, प्र०च० ६/३५–४०
२९९. वही ११/४, ११/३४
३००. बं०च०२६/९५, ६८, ११/१३–१६
३०१. त्रि०श०पु०च० १/३/५९९–६०७
३०२. बं०च०४/१, ५३, ३/४३–४४, व०च० ३/३०, य०च० ४/४७, ने०च०श्लोक ११७
३०३. पंचास्तिकाय श्लोक १२८–३०
३०४. बं०च०३/४६, २/७९–८५, व०च०४/१०९, त्रि०श०वु०च० १/१/५५७–५८
३०५. व०च० ३/३१, १२/५२
३०६. व०च०३/३१, १५/७२–७३, त्रि०श०पु०च० १/३/५८६
३०७. वही १५/७३
३०८. बं०च० ४/२४
३०९. व०च०१५/७३, बं०च० ४/१०–२३
३१०. बं०च०४/२५–२६, व०च० १५/२७–७३, ८०
३११. बं०च०४/२७–३२, व०च० १५/६६, ७३
३१२. बं०च०४/३३–३४, त्रि०श०पु०च० १/१/५१५, ५३८
३१३. व०च० १५/७३
३१४. बं०च०४/३७, व०च०१५/७३
३१५. व०च०१५/११
३१६. बं०च०४/३५, व०च०१५/७३, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० २३०
३१७. बं०च०४/३६, व०च० १५/७३
३१७. व०च० १५/८०
३१०. य०च०८/४६८–६९
३२०. बं०च० २५/७६–८५ प्रस्तावना ३२–३४, य०च० ४: पृ० ५७
३२१. व०च० १७/३१–३५, १६/३८, ध०श०म० पंचम सर्ग
३२२. च०च० सर्ग १७
३२३. व०च० ३/५३
३२४. व०च० १५/२

३२५. व०च०११/३६–४०, १६/१२, १८ प्र०चं० ६/२७–२६. त्रि०श०पु०च० १/३/६५१–५३
३२६. व०च०११/२४–५०, १६/१३, बं०च०१२/५८–७०, च०च०सर्ग
३२७. व०च०११/४३
३२८. प्र०च०६/५१, व०च०१०/४६, बं०च० ३/४४
३२६. बं०च० २६/२
३३०. वही २६/३, जै०ध०पृ० ८१
३३१. वही २६/५–६
३३२. य०च०४/५८, गो० जी० १२६
३३३. तीर्थङ्कर महावीर एंव उनकी आचार्य परम्परा पृ० ३६४
३३४. वही पृ० ३४५, पु०सं० गाथा १०६
३३५. जै०ध०पृ० २२६, बं०च० २६/६–१३
३३६. त्रि०श०पु०च० १/१!१५८–६०
३३७. बं०च०६/३–७, त्रि०श०पु०च १/१/१६०–६१
३३८. अर्हत प्रवचन पृ १३–१५
३३६. बं०च०७/५६–६६, ६/७३–७८, ६/५४–५६, ५/४३–५४
३४०. त्रि०श०पु०च १/१/५७०–७८
३४१. बं०च० ५/६
३४२. वही ५/१०–१६, ३३–१०१, २६–२७, व०च० ११/७–२२, त्रि०श०पु०च० १/१/४२४, ५६१–६६
३४३. त्रि०श०पु०च० १/१/५८३
३४४. वही १/१/५७०–८२
३४५. व०च० १५/१५
३४६. जै०ध०पृ० ६५
३४७. वं०च०२६/१५–२२, व०च० १५/१८–१६, पंचास्तिकाय ७७, ८१
३४८. जै०ध० पृ० ६८ द्रव्य संग्रह – १७
३४६. व०च० १५/२०
३५०. व०च० १५/१७, बं०च २६/२३–२४
३५१. जै०ध०पृ० १०१, पंचास्तिकाय ८३, ८५, व०च० १५/८६
३५२. बं०च०२६/३१–३२, व०च० १५/१६–१७, पंचास्तिकाय ६१
३५३. व०च० १५/१७
३५४. बं०च० २६/३०
३५५. वही २६/३३–४४

३५६. वं०च० ४/४२–१०४, व०च० ३/३३, य०च०६/११४
३५७. व०च० १५/६३, प्र०च०५/३१, ६/३३, य०च० ६/११७
३५८. व०च० १५/६३–६७, प्र०च०६/३३–४३, य०चं० ६/११८–१६
३५६. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० २२५
३६०. व०च० ११/२७, बं०च०४/१०६–११३
३६१. बं०च० ४/८४–८५
३६२. व०च०१५/७०–७१, य०च० ६/११५
३६३. बं०च०४/४२–१०४, व०च०१५/७२
३६४. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० २३५
३६५. व०च०१५/७४–७५, बं०च० ४/३६–४१
३६६. व०च० १५/७२
३६७. वही १५/७२
३६८. वही १५/२१–२४
३६६. व०च० १५/२५–३४, ४१–४४
३७०. वही १५/८१
३७१. वही १५/८२, ८३
३७२. व०च० १५/१६६
३७३. त०सु० १,६
३७४. बं०च० २६/४५–४७
३७५. बं०च० २६/४८, स्था०सू० ७, भ०सं०जै०यौ० पृ० २४६
३७६. बं०च० २६/५०
३७७. बं०च० २६/५१
३७८. लघीस्त्रय ३:६, ७०–७१ नयकर्णिका त०रा०वा०१/३३–३५
३७६. भ०सू० १८, ३६, समयसार – गाथा २७, २८
३८०. बं०च०२६/५२, भा०सं० जै०यौ० पृ० २५३
३८१. स्वयम्भूस्त्रोत श्लोक ६८ तत्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० १३७, जैनन्याय ३२२
३६८२. बं०च० २६/७६–६०, प्र०चं० ५/२८

अध्याय – ७

अभिलेख

साहित्यिक साक्ष्यों की भांति ही अभिलेखीय साक्ष्य भी जैन इतिहास निर्माण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। ये अभिलेख पाषाण एंव धातु निर्मित विभिन्न उपादानों – गुफाओं, चट्टानों, दीवारों, स्तम्भों, स्तूपों, शिलापट्टों आयाग–पट्टों एंव मूर्तियों, ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इसके साथ ही कतिपय जैन अभिलेख काष्ठपट्टिकाओं पर काली स्याही से लिखे मिले हैं जिनकी प्राचीनता लगभग ५५० वर्ष ई०पू० मानी गयी है। ये लेख पत्थर पर ज्यों के त्यों है जिससे प्राचीन स्याही के स्थायित्व की जानकारी होती है। इसी तरह पुस्तक के परिवेष्टन पर सुई से कढ़ा हुआ जैन लेख भी (बीकानेर से) प्राप्त है। व्यूलर को सिल्क पर स्याही से छपा ग्रन्थ एंव पिटर्सन को कपड़े पर स्याही से छपा ग्रन्थ मिला है। सुई से अंकित लेख जैन कलाकारों की अपनी देन है[1]।

साहित्यिक साक्ष्यों की अपेक्षाकृत पुरातात्विक (अभिलेखीय) साक्ष्य वास्तविकता के अधिक निकट हैं क्योंकि ये अभिलेख घटना के समय पर (लेख में वर्णित घटनाओं के घटित) महत्वपूर्ण घटनाओं एंव क्रियाकलापों को स्थायी रुप देने के लिए ही उत्कीर्ण कराये गये थे।

मुख्यतः जैन अभिलेख दो रुपों – राजाओं द्वारा शासनपत्रों के रुप में एवं जनवर्ग से सम्बन्धित सांस्कृतिक, सामाजिक आदि विशेषताओं से युक्त व्यक्तिगत रुप में। राजवर्ग एंव अधिकारी वर्ग से सम्बन्धित लेख प्रायः प्रशस्तियों के रुप में लिखे जाते थे। इनमें राजाओं द्वारा उपलब्ध की गयी उपाधियों, विजयों, साम्राज्य विस्तार, एंव वंशावली, के साथ ही राजा एंव राजनैतिक संस्थाओं द्वारा किये गये धार्मिक कार्यो, का वर्णन प्राप्त होता है। जिससे तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति की जानकारी होती है।

जनवर्ग से सम्बन्धित लेखों का मूल प्रयोजन धार्मिक है। ये लेख जैन धर्मानुयायी पुरुषों, एंव स्त्रियों द्वारा लिखाये जाते थे। इनसे सामाजिक, सांस्कृतिक एंव जैनाचार्यो के संध, गण, गच्छ, आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन अभिलेखों में प्रायः एक निश्चित शैली का अनुसरण किया गया है प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है जिसमें कि "सर्वज्ञायः नमः" "ऊँनमः सिद्धेभ्यः" आदि के बाद प्रशस्ति प्रारम्भ होती है। जिसमें कि राजा का नाम, युद्ध में विजय, साम्राज्य, सीमा, दान, मन्दिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यो एंव वंश परम्परा का वर्णन प्राप्त होता है। लेख में राजा अथवा

किसी अन्य दाता द्वारा दिये गये दान के वर्णन में देय पात्र एंव दान में दी गयी वस्तु, समय आदि का उल्लेख मिलता है इसके साथ ही यदि मुनि या आचार्य आदि है तो उसके संघ, गण, गच्छ, आचार्य परम्परा आदि की जानकारी होती है।

लेख में लेखक एंव उत्कीर्ण कराने वाले शासक एंव स्त्री–पुरुषों का उल्लेख होता है। जैन लेखों में प्रायः कालनिर्देश पाया जाता है यह कालनिर्देश शासन करने वाले राजा का अथवा तत्कालीन समय में प्रचलित सम्वत् में होता है। कभी कभी तो शासक का शासन वर्ष, महीना, दिन, तिथि, ऋतु आदि के वर्णन प्राप्त होते हैं जो कमवद्ध, राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मूर्तियों, धर्म स्थानों, मन्दिरों के निर्माण का काल अंकित रहता है जिससे कला एवं धर्म के विकास कम की जानकारी होती है।

जैन अभिलेखों का मूल प्रयोजन धार्मिक था। जैन इतिहासकार साहित्य, कला के माध्यम से अपने धर्म को प्रचारित एंव स्थायी रुप देना चाहते थे अतएव वे समय एंव परिस्थिति के अनुकूल ही भाषा को अपना माध्यम बनाते थे। इसी कारण जैन अभिलेख प्राचीन से अर्वाचीन तक प्राकृत, संस्कृत, तेलगू, तमिल कन्नड़ आदि सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। जैन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक जैन अभिलेख द्वितीय शताब्दी तक प्राकृत में ही लिखे गये। प्राकृत भाषा का सबसे प्राचीन अभिलेख अजमेर से ३२ मील दूर बारली नामक ग्राम से एक पाषाण स्तम्भ पर प्राप्त हुआ है जिसमें स्व० गौरीशंकर ओझा ने वीर निर्वाण सं० ८४ लिखा बताया है। इस लेख की लिपि भी अशोक के लेखों से पूर्व की मानी गयी है।

अभिलेखों में वर्णित समाज

साहित्यिक साक्ष्यों की भांति अभिलेखीय साक्ष्यों का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का वर्णन करना नहीं था केवल शासन एंव दान के प्रसंग में दानग्राही एंव दान देने वाली जातियों के उल्लेखों से वर्ण व्यवस्था की जानकारी होती है। अभिलेखों में राजाओं को वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक कहा गया है[२]। लेखों से व्यवसाय, धर्म, गोत्र एंव विवाह आदि के आधार पर उपजातियों एंव व्यावसायिक जातियों की जानकारी होती है जो मन्दिर निर्माण, गॉव एंव भूमिदान आदि की प्रबन्धक होती थी[३]। जैन धर्म के अन्तर्गत मुनि एंव श्रावक के अन्तर्गत स्त्री पुरुषों के संघों को जाति शब्द से वर्णित किया गया है[४]। चारों वर्णो एंव व्यावसायिक जातियों को संघों में प्रवेश करने एंव ध ार्मिक कृत्यों में समान अधिकार प्राप्त थे[५]।

ब्राह्मण

विद्वता, आचरण एंव व्यवहार कुशलता के लिए ब्राह्मण चारों वर्णो में श्रेष्ठ

माने जाते थे। पूर्व मध्यकाल की प्रशस्तियों में उनके कुल के साथ ब्राह्मण विद्या की भी चर्चा की गयी है[६]। तीनों वर्ण एंव उपजातियॉ इनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलती थी[७]। राज्य दरबार में ब्राह्मणों को सम्मान एंव विश्वास प्राप्त था[८]। लेखों से राज्य की और से ब्राह्मणों को भूमि, ग्राम मन्दिर देने एंव उनकी आजीविका हेतु सत्र खोलने की जानकारी होती है[९]। होस्यसल वंशीय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को तालाव देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१०]।

लेखों से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल में ब्राह्मणों में गोत्र, शाखा, प्रवर एंव स्थानीय आधारों को लेकर उपजातियॉ बनने लगी। इसी कारण दानग्राही ब्राह्मणों के साथ उनके विशेष गोत्र एंव शाखा का उल्लेख किया गया है[११]।

स्मृतियों की भॉति ही पूर्वकालीन जैन अभिलेखों में उनके षट्कर्मों (यजन्–याजन्, अध्ययन, अध्यापन, दान एंव प्रतिग्रह) आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। दान लेना ब्राह्मण के आवश्यक कर्त्तव्यों में से था[१२]। ब्राह्मणों द्वारा अन्य कर्मो को भी अपनाया गया । भक्ति के प्रचार से पूर्व मध्ययुग में मन्दिरों का निर्माण अधिक होने से ब्राह्मणों द्वारा मूर्तिपूजा को भी अपनाया गया[१३]। जैन अभिलेखों में इन्हें पुरोहित नाम से सूचित किया गया है। गंगवंशीय अभिलेखों से पुरोहित वर्ग एंव उसे दान देने की जानकारी होती है[१४]। ये मन्दिर की देख रेख करते थे । इसके साथ ही ब्राह्मणों द्वारा शासन में मंत्री एंव सेनापति के कार्य करने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। सेना में मृत्यु हो जाने पर राज्य की ओर से ब्राह्मण के परिवार को "मृत्युक वृत्ति" दी जाती थी[१५]। लेखों में प्राप्त ब्राह्मण को भूमि एंव ग्राम दान के उल्लेखों से कृषिकर्म करने की जानकारी होती है जिसकी उपज से प्राप्त आय मन्दिर प्रबन्धा के काम आती होगी[१६]।

चोल लेखों में ब्राह्मणों को निश्चित समय तक भूमिकर अदेय होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं लेकिन उसके पश्चात् भूमिकर न देने पर भूमि जब्त कर लेने की जानकारी होती है[१७]। ब्राह्मण जैन एंव शैव दोनों ही धर्मों के अनुकूल जीवनयापन करते थे सम्भवतः वे उदारवादी हृदय के रहे होगें[१८]।

क्षत्रिय

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय को स्थान दिया गया है। सॉतवी शताब्दी से शासन सम्बन्धी लेखों में "क्षत्रिय" का नाम प्राप्त होता है जो राज्य कार्य करने के कारण समाज में अग्रणी माने गये हैं[१९]। पूर्वमध्ययुग में क्षत्रियों के लिए "राजपूत" शब्द का भी प्रयोग मिलता है[२०]। प्रशस्तियों में वर्णित पदाधिकारियों मे युवराज को राजपुत्र कहा गया है जो क्षत्रिय जाति का वंशज होने को स्पष्ट करता है। राजपूत नरेशों के अभिलेख भी उन्हें क्षत्रियवंशी बतलाते हैं[२१]। शासन कार्य के अतिरिक्त ये सैनिक कार्य भी करते थे। चन्देल शासन द्वारा युद्ध में मारे जाने पर

क्षत्रिय सैनिक के परिवार को वृत्ति देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२२]। क्षत्रियों को शासक एंव समाज का रक्षक माना गया है।

वैश्य

लेखों में "प्राप्त वणिक" शब्द को प्रयोग वैश्य वर्ग के लिए किया गया है। इसके साथ ही "सेठ्टि, धनिक, नगराधिपति शब्द भी प्राप्त होते हैं जो वैश्य वर्ग के समाज का सर्वाधिक धनाढय वर्ग होने एंव उनके कर्मो का उल्लेख करते हैं[२३]। दान देना, एंव कृषि, पशुपालन, व्यापार करना आदि इस वर्ण के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। वैश्य वर्ण द्वारा मन्दिर निर्माण, प्रतिमास्थापना, एंव भूमि, ग्राम, उपज आदि दान देने की जानकारी होती हैं[२४]। व्यापार भेद के अनुसार वणिक श्रेणियों में विभाजित थे[२५]।

शुद्र

चातुर्वर्ण व्यवस्था में शूद्रों को अन्तिम एंव निम्न स्थान दिया गया है। शूद्र का धर्म द्विजातिमात्र की सेवा करना था। लेखों में शूद्र वर्ण का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ अन्य उपजातियों का वर्णन प्राप्त होता है। पूर्वमध्यकाल में "चाण्डाल" शब्द का प्रयोग अधिक प्राप्त होता है। उसकी स्थिति निम्न होते हुए भी जैनधर्म द्वारा उसे समान अधिकार दिये गये थे वे अपने कर्मो से ब्राह्मण भी हो सकते थे[२६]।

लेखों में शबर, किरात, पुलिन्द आदि जंगली जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है[२७]। पहाड़पुर से प्राप्त मिट्टी की चौकारे वस्तुयें प्राप्त है उनमें शारीरिक बनावट एंव वेशभूषा जंगली जातियों के समान है[२८]।

पंचम वर्ण के अन्तर्गत डोम, चमार, नट आदि का उल्लेख प्राप्त होता है जो अपने व्यवसायों के अनुसार अनेक नामों में जानी जाती रही इन्हें शूद्रों की उपजातियाँ माना गया है। भाट शासकों की काव्यमय प्रशंसा करने, एंव नट व नर्त्तकियाँ धार्मिक उत्सवों पर राज्य दरबार में नृत्य करने के उपलक्ष्य में राज्य द्वारा दान प्राप्त करते थे[२९]।

लेखों से ज्ञात होता है कि सॉतवी शताब्दी ई०वी० से भारतीय लेखों में म्लेच्छ एंव हम्मीर शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। दसवी, बारहवी शताब्दी ई०वी० के लेख हिन्दू नरेशों के साथ उनके युद्ध का उल्लेख करते हैं[३०]। लेखों में तुरुष्क शब्द का प्रयोग भी मुसलमानों के लिए किया गया है[३१]। लेखों में प्राप्त वर्णनों से चातुर्वर्ण एंव उपजातियों की स्थिति साम्य होने एंव उनके बीच विभाजन कर्मो के अनुसार होना स्पष्ट होता है। धार्मिक क्षेत्र मे सभी को समान अधिकार थे[३२]।

आश्रम व्यवस्था

जैन अभिलेखों में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता लेकिन प्राप्त वर्णनों से ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एंव सन्यासाश्रम के स्वरुप की जानकारी होती है। लेखों में मन्दिरों में पट्टशाला निर्माण कराने, अध्ययन कार्य होने एंव विद्यार्थियों पर होने वाले व्यय के प्रबन्ध हेतू भूमिदान के उल्लेख ब्रह्मचर्याश्रम के समान स्वरुप की और संकेत करते हैं[३३]। जैनधर्म श्रावक एंव मुनि इन दो धर्मों में विभक्त है जिसमें रहकर जैनधर्म के आचारों–विचारों एंव सिद्धान्तों का पालन किया जाता था[३४]। गृहस्थ भी जैनाचार्यो के शिष्य होते थे[३५]। दानादि कार्य गृहस्थों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे जो गृहस्थाश्रम की महत्ता पर प्रकाश डालते है।

लेखों से ज्ञात होता है कि परिपक्व अवस्था आने पर राजा राज्य छोड़कर जंगल में चले जाते एंव गृहस्थ भी संसार को नाशवान् जानकर मुनिधर्म को ग्रहण कर लेते थे[३६]। इस अवस्था में धर्म के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करता हुआ त्रयरत्नों की प्राप्ति के प्रयत्न करता था। लेखों से इन भिक्षुओं को आहार दान देने एंव भिक्षुओं द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तों के उपदेश करने की जानकारी होती है[३७]। मुनि आचार व्रत का धारण करना वानप्रस्थ अवस्था के स्वरुप को स्पष्ट करता है।

जैन मुनियों एंव राजाओं द्वारा सन्यासव्रत करने के उल्लेख स्पष्टतः सन्यासाश्रम को इंगित करते हैं। सन्यासव्रत को ग्रहण कर लेन पर द्वादश प्रकार का कठोर तप, समिति गुप्ति व्रत का पालन करना आवश्यक था। इसी अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त कर समाधि–मरण करने की जानकारी होती है जिससे मोक्ष प्राप्त होता था[३८]।

संस्कार

जैन समाज में संस्कारों का रुप अत्यन्त विस्तृत पाया जाता है। जैन अभिलेखों में संस्कारों के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त नहीं होते किन्तु दानादि के प्रकरण में कुछ संस्कारों के नाम प्राप्त होते हैं। सांतवी शताब्दी के पश्चात् के लेखों में जातकर्म, नामकर्म,उपनयन, विवाह एंव श्राद्ध संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है। पुत्र जन्म पर जातकर्म एंव नामकरण संस्कार के अवसर पर राजाओं द्वारा दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[३९]। वैवाहिक सम्बन्धों[४०] एंव समाधिमरण द्वारा प्राणत्याग करने पर उनकी निषद्या बनाये जाने से विवाह एंव श्राद्ध संस्कार की जानकारी होती है[४१]। उपनयन संस्कार का विशेष महत्व था[४२]।

विवाह

लेखों में प्राप्त उल्लेखों से विवाह के स्वरुपों की जानकारी होती है। विभिन्न राजवंशों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध होते थे[४३] जिनका उद्देश्य आपस में मैत्री

सम्बन्धों को बनाये रखना था। समाज में अनुलोम एंव अन्तरर्जातीय विवाह प्रचलित थे[४४]। लेखों में प्राप्त पट्टराज्ञी, पट्टमहिषी, ज्येष्ठपत्नी आदि शब्द बहुपत्नी विवाह की ओर संकेत करते हैं[४५]। राजघरानों की तरह साधारण जनता में भी बहुपत्नी विवाह प्रचलित थे[४६]।

सती प्रथा

लेखों में प्राप्त उल्लेखों से सती प्रथा प्रचलित होने की जानकारी होती है। कल्चुरि नरेश गांगेयदेव की सौ स्त्रियों द्वारा आग में जलकर मरने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[४७]। जोधपुर के एक लेख से राजपूत रानी के सती होने की जानकारी होती है[४८]। होय्यसल राजवंश में अपने स्वामी की मृत्यु पर खेद प्रकट करने के लिए देहत्याग करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[४९]।

शिक्षा

लेखों में प्राप्त पट्टशाला निर्माण कराने[५०], ऋषिवर्ग के आहार[५१], विद्यार्थियों के व्यय प्रबन्ध[५२] एंव शास्त्रों के लिखे जाने हेतु दान देने के साथ शास्त्र लिखने वालों को राजकीय सम्मान देने[५३] एंव गुरु शिष्य परम्परा के उल्लेखों से समाज में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान होने की जानकारी होती है। स्त्री एंव पुरुष दोनों ही शिक्षा ग्रहण करते थे। शिक्षा ग्रहण के पश्चात् गुरु–दक्षिणा देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शिक्षा के लिए वाचनालय खोलने की भी परम्परा रही। आचार्यो के समस्त शास्त्रों में निपुण होने के उल्लेखों से शिक्षा की उच्च स्थिति ज्ञात होती है।

स्त्रियों की स्थिति

जैन अभिलेखों से समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सभी अधिकार प्राप्त थे। लेखों में प्राप्त "अर्द्धांगिनी" शब्द स्त्रियों की उच्च स्थिति की ओर संकेत करता है[५४]। शील, दया, पतिव्रता, स्त्री के महत्वपूर्ण गुण माने जाते[५५]। स्त्रियों द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के साथ ही राज्यकार्य करने एंव उपाधि धारण करने की जानकारी होती है[५६]। स्त्रियॉ युद्ध क्षेत्र में जाती एंव वीरगति को प्राप्त करती थीं[५७]। धार्मिक जगत में भी स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान ही थी स्त्रियों द्वारा शिष्यत्व ग्रहण करने एंव संघों में रहने की जानकारी होती है जो श्राविका कहलाती है[५८]। स्त्रियॉ धर्म परायण होती। धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होकर जिन मन्दिर, मूर्ति, निषधा निर्माण एंव मन्दिर जीर्णोद्वार के साथ पूजा, प्रबन्ध, ऋषि एंव विद्यार्थियों के आहार एंव शीत से रक्षा करने हेतू भूमिदान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[५९]। स्त्रियों द्वारा पुराणादि शास्त्र सर्जन कराये जाने की भी जानकारी होती है[६०]।

लेखों से जैनधर्म के अन्तर्गत स्त्रियों द्वारा कठोर व्रतों का पालन करते हुए तप एंव केशलुंचन[६१] करने एंव समाधिमरण करने की जानकारी होती है[६२]। अभिलेखों से प्राप्त साक्ष्य स्त्रियों की उच्च स्थिति के द्योतक माने जा सकते हैं।

आर्थिक

जैन अभिलेखों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक था लेकिन धार्मिक क्रियाओं एंव दानादि के प्रसंगों से तत्कालीन सुदृढ़ आर्थिक स्थिति की जानकारी होती है। लेखों से ज्ञात होता है कि कृषि जीविका का मुख्य साधन थी। जनता अधिकतर गॉवों में रहती। राज्य को कृषि से काफी आय होती थी क्योंकि राजा कृषकों से उपज का छठा भाग कर रुप में लेता था। कृषि योग्य भूमि को पहले जोता जाता था। अभिलेखों से श्रेष्ठियों द्वारा भूमि जोतने के प्रबन्ध करने की जानकारी होती है[६३]। भूमि की सिंचाई की ओर राजा का भी ध्यान रहता था लेखों में सिचाई के निमित्त झील नहर कुए एंव तालाब आदि के निर्माण कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। खारखेल के हाथी गुँफा अभिलेख से राजधानी तक नहर तैयार कराने की जानकारी होती है। होय्यसल राजा विनयादित्य द्वारा सिंचाई के लिए नहर बनवाने[६४] एंव चालुक्य राजा मारसिंह द्वारा उत्तरी सिंचाई की रक्षा करने के उल्लेख लेखों में प्राप्त होते हैं[६५]। केवल प्रशस्ति से नदी से राजधानी तक राजा द्वारा नहर तैयार कराने की जानकारी होती है ताकि बाग बगीचे की सिंचाई सरल हो जाय[६६] सिंचाई के लिए कूप निर्माण के भी उल्लेख मिलते हैं[६७]। लेखों में प्राप्त तालाबों के नाम एंव तालाव निर्माण कराने के उल्लेखों से सिंचाई का साधन होने की जानकारी होती है। गंगपेम्माडिदेव द्वारा मन्दिर को दान में प्राप्त भूमि की सिंचाई के लिए तालाब खुदवाने की जानकारी होती है[६८]। होय्यसल वंशी राजाओं द्वारा भी कूप एंव तालाब निर्माण कराने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[६९]। लेखों से ज्ञात होता है कि तालाव से जो फायदा उठाते थे, वे उत्पन्न फसल का, १०वॉ भाग निर्माण कराने वाले को देते थे[७०]।

जैन अभिलेखों से तत्कालीन खेतों के माप का वर्णन स्थान–स्थान पर मिलता है। जिससे पूर्वमध्यकाल में भूमि नापने की प्रथा की जानकारी होती हैं भूमि को दान देते समय दानकर्ता के लिए क्षेत्र की सीमा तथा उसके माप का स्पष्ट उल्लेख करना नितान्त आवश्यक था जिस भूभाग को दानग्राही ग्रहण करता उसी क्षेत्रफल से "कर" ग्रहण करता था तथा आवश्यकता पड़ने पर बंधक भी रखता। छठी शताब्दी से बारॅहवी शताब्दी तक के दानपत्रों में माप के दो रुपों का वर्णन प्राप्त होता है। एक रुप में खेतों (भूमि) की लम्बाई, चौड़ाई नापने के साधन का नाम, उल्लिखित है जो लेखों में विभिन्न नाम से उत्कीर्ण है जैसे – निवर्त्तन, मत्तर, कम्म, गज, हाथ, कुण्डी, पुट्टि, एंव खडडुग आदि। दूसरे रुप में माप भूमि की उपज से

सम्बन्धित था। जैसे – होन, कलस आदि। इन मापों का उपयोग करके भूमि दान में दी जाती थी।

लेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में १० वीं, १२वी शताब्दी में निवर्त्तन भूमि का प्रमुख माप थी। शीलहार वंश[७१], रट्टवंश[७२] एंव गंगवंश[७३] के राजाओं द्वारा मन्दिर निर्माण हेतु निवर्त्तन माप से भूमिदान के उल्लेख प्राप्त होते है। चालुक्य राजा पेम्माडिदेव द्वारा १२ निवर्त्तन भूमि दान देने की जानकारी होती है[७४]। शिलाहार वंश के लेख से ज्ञात होता है कि यह भूमि कुण्डि के नाप से नाप में चौथाई निवर्त्तन थी[७५]। प्रतिहार एंव राष्ट्रकूट प्रशस्तियों में भी निवर्त्तन शब्द क्षेत्र माप के लिए प्रयुक्त है[७६]। परन्तु निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता कि इससे किस क्षेत्र फल का परिज्ञान होता है।

दूसरे माप को मत्तर कहते थे। रट्टवंशीय शान्तिवर्मा द्वारा १५० मत्तर भूमि एंव चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय द्वारा खेतों की काफी संख्या में मत्तर भूमि पार्श्वजिनेश्वर की पूजा, शास्त्र लिखने वालों के आहार के लिए दान देने की जानकारी होती है[७७]। सम्भवतः ये निवर्त्तन से छोटा भाग रहा होगा। कम्म भी भूमि की माप थी जो आहारदान, बसदि निर्माण, एंव उद्यान हेतु दान में देने की जानकारी होती है[७८]। ११वीं शताब्दी में यह माप अधिक प्रचलित था।

लेखों से ज्ञात होता है कि दान में दिये जाने वाले भवन प्रायः गज से नापे जाते थे। शिलाहार वंशीय महामंडलेश्वर बल्लालदेव एंद गण्डरादित्य द्वारा ३ गज का एक भवन तपस्वियों के आहारदान हेतू दान में देने की जानकारी होती है। इसी लेख से पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति का नाप २ फुट ३ इंच होने की जानकारी होती है[७९]। यह भूमि माप कम ज़गह के मापने के काम आता होगा।

लेखों में हस्त (हाथ) का नाम क्षेत्र माप के लिए प्रयुक्त किया गया है। संभवतः किसी व्यक्ति विशेष के हाथ की लम्बाई प्रामाणिक समझी गयी होगी जिसके कारण इसे भूमि माप का एक साधन मान लिया गया। शिलाहार वंशीय राजा विजयादित्य द्वारा १२ हाथ का एक मकान दान देने की जानकारी होती है[८०]। प्रतिहार लेख में भी हस्त माप का उल्लेख है[८१]। लेखों से ज्ञात होता है कि १८ इंच से कम का हाथ नहीं हो सकता[८२]। एक लेख में छः हाथ भूमि ३ गज भूमि के माप की बतलायी गयी है जो उपर्युक्त बात की पुष्टि करती है[८३]। यह साधारण जनता के माप का साधन था। साधारण जनता विलस्त से भी डंडा नापकर भूमिदान करती थी। ये विलस्त नाप के डंडे से नहर इत्यादि नापने की जानकारी होती है[८४]। होय्यसल वंश के एक लेख से ३३ विलस्त के डंडे से नापकर भूमि दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[८५]।

लेखों से कुण्डी नामक देशीमाप की जानकारी होती है जो भूमि मापने के

काम में आती थी[८६]। यह भूमि नाप में अपेक्षाकृत बड़ा नाप होगा। क्योंकि निवर्त्तन को इसका चौथाई भाग माना गया है।

पल्लवादित्य वादिराजजुल कुल नामक शासक द्वारा ग्राममुख्य को ३ "पुट्टि" जमीन दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं यह भी एक भूमि माप था जो दान देने के समय काम में आता था[८७]।

"खड्डुग" भूमि माप का कोई पैमाना था जो दान में नापकर देने के काम आता था। सेठों द्वारा बसदि निर्माण हेतु पॉच खडडुग भूमिदान में देने की जानकारी होती है[८८]।

लेखों से ज्ञात होता है कि होन एंव कलम् भूमि से उत्पन्न उपज का कुछ भाग रहा होगा। कुलोतुंग चोलदेव द्वारा चन्द्रप्रभ की पूजा के लिए ४२० कलम् चावल अर्पण किये जाने एंव होय्यसल वंशीय देवराज होय्यसल द्वारा १० होन भूमिदान की जानकारी होती है[८९]। नापकर दान में दी गयी भूमि दान कर्ता द्वारा कर आदि मुक्त करके दी जाती थी।

व्यापार

लेखों में व्यापारिक केन्द्रो एंव व्यापारियों के नाम प्राप्त होते हैं जिन्हें विक्रमसिंह राजा द्वारा "श्रेष्ठी" की पदवी दी गयी[९०]। "सेठ्ठी" एंव महाजन शब्द का प्रयोग भी व्यापारियों के लिए किया गया है[९१]। व्यापारी प्रायः धनिक होते थे। उनके द्वारा दुकान, भवन भूमि आदि मन्दिरों को दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[९२]। व्यापारियों द्वारा मन्दिर निर्माण कराने एंव रक्षा करने की जानकारी होती है[९३]।

लेखों में प्राप्त विभिन्न धातुओं – सोना, चॉदी, रत्न, माणिक्य, मूँगा एंव पंचधातु आदि के उल्लेख तत्कालीन सुदृढ आर्थिक व्यवस्था की ओर संकेत करते है[९४]। सोने के आभूषण बनाये जाते थे[९५]। होय्यसल राजवंश के एक लेख से कालीमिर्च, अख़रोट, चावल, सुपारी के वृक्ष तथा पान के गट्ठों पर आये धन को दान देने से इनकी उपज एंव व्यापार होने की जानकारी होती है[९६]।

राष्ट्रकूट लेखों में व्यापारियो से प्राप्त करों के उल्लेखों से आयात निर्यात की गयी वस्तुओं पर कर लगाये जाने की जानकारी होती[९७] है। गॉव के घाट से प्राप्त आमदनी से जलमार्ग द्वारा व्यापार होने[९८] एंव प्रत्येक कोल्हू पर एक करधटिका तेल कर रुप में देने एंव तेल की चक्कियों के उल्लेखों से तेल के व्यवसाय की जानकारी होती है[९९]। इस तरह जैन अभिलेख गौण रुप में तत्कालीन आर्थिक स्थिति को वर्णित करते हैं।

राजनीतिक

गुप्तोत्तर युग में विकेन्द्रीकरण की नीति के बलवती होने के कारण

छोटे–छोटे राज्यों का अभ्युदय हुआ। लेखों से उत्तर भारत में चन्देल,कल्चुरी, परमार, चालुक्य, चाहमान एंव दक्षिण भारत में गंग, राष्ट्रकूट होय्यसल, कदम्ब, पांडय, पल्लव एंव चोल राजाओं द्वारा अपने अपने राज्य स्थापित करने की जानकारी होती है। कोई भी राजवंश सर्वाधिक शक्तिशाली न था फिर भी प्रायः सभी राजाओं द्वारा परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियों को धारण किया गया[१००]। प्रायः सभी लेखों में "सामन्त" शब्द आता है जिससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक शासक के अपने सामन्त होते थे जो राज के अधीनस्थ होते थे[१०१]। सामन्तों को महासामन्त भी कहा गया है राजाओं के समान सामन्त भी अधीश्वर आदि उपाधियों को धारण करते थे[१०२]। लेखों में प्राप्त सामन्तों की वंशावली सामन्त पद के वंशानुगत होने को स्पष्ट करती है[१०३]। राजा को दानादि करते समय सामन्तों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था[१०४]। सामन्तों द्वारा राज्य की भूमि एंव ग्राम दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१०५]। लेखों में नोलम्ब[१०६], सिन्दिकुल[१०७], रट्टकुल[१०८], शिलाहार[१०९], काकतीय[११०], सान्तर[१११] एंव कौंगात्व[११२] आदि सामन्त राजवंशों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्होंने राष्ट्रकूट, गंग, चालुक्य एंव होय्यसल राज्यों में सामन्तों के रुप में शासन कार्य किया। चालुक्य लेखों से सामन्त राजाओं द्वारा विजित राजा को विविध प्रकार की भेंट देने की जानकारी होती है। आवश्यकता पड़ने पर ये राजा को सैनिक सहायता करने के साथ ही युद्ध भी करते थे[११३]।

अभिलेखों से राज्यों के बीच संघर्ष होने की जानकारी होती है – जिसमें एक राजा दूसरे राजा की सहायता भी करते थे[११४]। राष्ट्रकूट एंव चोल राजा के बीच हुए संघर्ष में गंगबुतुग द्वारा सहायता करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[११५]। सार्वभौमिक राज्य स्थापित करने के लिए राजाओं द्वारा दिग्विजय करने की जानकारी होती है[११६]। युद्ध अभियानकम में स्थान स्थान पर विजय स्कन्धावार बनाने की जानकारी होती है[११७]। राजाओं द्वारा की गयी विजयों के उल्लेखों से तत्कालीन राज्यों की स्थिति एंव विभिन्न राजवंशों की समकालीनता ज्ञात होती है[११८]।

साम्राज्य विभाजन

प्रशासनिक दृष्टि से राज्य अनेक भुक्तियों (प्रान्तों) में विभाजित था। लेखों में मण्डल शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है। प्रत्येक मंडल में अनेक बड़े–बड़े विषय (जिले) होते थे। विषय अनेक पुरों (नगरों) में तथा पुर अनेक ग्रामों में विभाजित थे। लेखों से देश का ग्राम नगर, खेड, कर्व्वण, मडम्ब, द्रोणमुख, पुर, पट्टन, राजधानी इन नौ विभागों में विभाजित होने की जानकारी होती है[११९]।

प्रान्तीय शासन प्रबन्ध के लिए प्रान्तपति राजा की ओर से नियुक्त किया जाता था यह प्रायः राजकुमार, राजवंशीय अथवा कोई बड़ा सामन्त होता था।

शिलाहार वंश के महामण्डलेश्वर एंव सामन्त होने की जानकारी होती है[120]। चालुक्य राजा सोमेश्वर एंव होय्यसल राजवंश के लेखों से महामण्डलेश्वरों की उपाधियों के उल्लेख प्राप्त होते है[121]। प्रायः सभी राजाओं के मांडलिक राजा होते थे[122]। चालुक्य लेखों में मंडलेश्वर को प्रान्तीय शासक कहा गया है[123]। प्रान्तीय शासक के लिए राजस्थानीय कुमारामात्य, उपरिक, भोगपति, भोगिक आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वमध्यकाल में होता रहा है। भूमि कर, तथा अन्य कर राजधानी में वसूल करने के बाद शासन व्यय काटकर केन्द्रीय शासक को भेज दिया जाता था। यह मण्डल प्रशासक केन्द्रीय सरकार की सहायता से अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों को नियुक्त करता था।

पूर्वमध्यकालीन लेखों में विषयपति का नाम मिलता है – जो जिलाधीश के अनुरुप होता था। विषयपति के पास न्याय का अधिकार न था यह जिले में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखता था यह मालगुजारी आदि करों की वसूली करता था[124]।

लेखों से "पुर" (नगर) सम्बन्धी शासन की जानकारी होती है। पर मार राजा भोज के ग्वालियर लेख से नगर के लिए पुर, स्थान तथा बोर्ड शब्दों के प्रयोग होने की जानकारी होती है[125]।

यादव वंश के लेख में नगर के प्रमुख अधिकारी को "महामत्तम" कहा गया है[126]। लेखों में नगर के राजा को पुरावधीश्वर कहे जाने एंव महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने के उल्लेख प्राप्त होते है[127]। पुर का कार्य सुचारु रुप से चलाने के लिए कार्यकारिणी समिति का गठन किया जाता था जिसके सदस्यों की कार्य अवधि एक वर्ष होती थी[128]।

शासन के सुप्रबन्ध के लिए इसे भी अनेक उपविभागों में बांटा गया था जो ग्राम के नाम से प्रसिद्ध थे। राजतन्त्र के अन्तर्गत प्रजातन्त्रीय पद्धति पर शासन करने वाली यह संस्था थी। ग्रामीण शासन में ग्राम व्यवस्था क्षेत्रीय स्तर पर होने के कारण ग्राम सभा का विशेष स्थान था[129]। ग्राम में एक ग्राम प्रमुख होता था। पल्लव लेखों में इसे ग्रामप्रमुख, चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा द्वितीय के लेख में इसे "ग्रामाधिकारी, कल्चुरी लेख में "ग्राम महत्तराधिकारान्" एंव चन्देल राजा परमर्दि के "सेमरा ताम्रपत्र" में ग्रामप्रमुख को महत्तर कहा गया है[130]। ग्राम प्रमुख प्रजातन्त्र प्रणाली पर ग्राम सभा संगठित करता ओर कई उपसमितियों द्वारा सारा प्रबन्ध करता था। पूर्व मध्यकालीन लेखों में इसे "पंचकुली" कहा गया है[131]। ग्राम प्रमुख द्वारा वसूल किया हुआ कर राजकोष में वृद्धि करता था उसका कुछ अंश ग्राम के व्यय के लिए रखा जाता था। लेखों से ग्रामप्रमुख द्वारा जिनालय बनवाने एंव प्रबन्ध हेतु दान देने की जानकारी होती है[132]। ग्राम सभा ग्राम की भूमि को कर मुक्त करके बेच सकती थी[133]। लेखों में प्राप्त स्थानीय अधिकारी का उल्लेख स्थानीय प्रशासन की और संकेत करता है[134]।

राजा

लेखो से ज्ञात होता है कि साम्राज्य के विभिन्न भागों में विभाजित होने एंव सामन्त राज्य स्थापित होने पर भी साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्त्रोत राजा होता था उसका पद वंशपरम्परागत होता था। प्रायः ये क्षत्रिय वंश के होते थे[१३५]। राजाओं की अपनी अपनी राजधानी होती थी[१३६]। प्रजा की आन्तरिक अशान्ति एंव बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। लेखों में राजा को दुष्टनिग्रह एंव शिष्टप्रतिपालक कहा गया है[१३७]। धर्म पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण जैन लेखों में पंच अणुव्रतों का पालन, मधु, मॉस, मद्य का त्याग धार्मिक वृत्ति को अपनाना, याचकों को पर्याप्त दान देना, दुष्टों से दूर रहना, युद्ध भूमि से न भागना आदि राजा के आवश्यक कर्त्तव्य बतलाये गये हैं[१३८]। राजा महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक, आदि बड़ी–बड़ी उपाधियों को धारण करते थे एंव राजकीय पदाधिकारियों से घिरे रहते थे।

उत्तराधिकार एंव युवराज

लेखों में राजकीय पदाधिकारियों में युवराज का नाम प्राप्त होता है। अपने पिता के शासन कार्य में योग देते हुए राजकीय विषयों, शस्त्र एंव शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। राजा द्वारा अपने पुत्रों को प्रायः प्रान्तीय शासक नियुक्त किया जाता था[१३९]। युवराज अनेक उपाधियों को धारण करते थे। महासामन्त युवराज के अधीनस्थ होकर प्रदेशों पर शासन करते[१४०]। राजा द्वारा दिये गये दानों पर युवराज पुनः सम्मति देते थे[१४१]।

लेखों में वृद्धावस्था आने पर राजाओं द्वारा पुत्र को राज्यभार दे देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा युवराज निश्चित करता था[१४२]। परन्तु कभी कभी योग्यता के आधार पर छोटे पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता था। लेखों में कभी कभी पट्टराज्ञी के भाई द्वारा भी राज्याधिकार प्राप्त करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो उस पट्टराज्ञी की महत्वपूर्ण स्थिति पर प्रकाश डालते हैं[१४३]। पुत्र के अभाव में पौत्र एंव तत्पश्चात् राजा द्वारा राज्यप्राप्ति के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१४४]। चालुक्य लेख से राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्यप्राप्ति के लिए परस्पर युद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं[१४५]। राष्ट्रकूट लेख से उत्तराधिकार के समय एवं राजाओं के राज्यकाल में सामन्तों द्वारा विद्रोह करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१४६]।

राज्य प्राप्त करने से पूर्व युवराज का राज्याभिषेक एंव राजतिलक करना आवश्यक था[१४७]। इस अवसर पर राजा द्वारा पर्याप्त दान दिया जाता था[१४८]।

लेखों में प्राप्त पट्टराज्ञी, पट्टमहिषी शब्द मुख्य रानी की और संकेत करते हैं। स्त्रियों द्वारा भी राज्यकार्य करने की जानकारी होती है[१४९]।

मंत्रिमंडल

मंत्रिमंडल राजा को न्याय एंव शासन संचालन में सहायता देता था[१५०]। लेखों में मंत्रियों के लिए सचिव एंव महाप्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है[१५१]। होय्यसल राजवंश के लेखों में मंत्री के लिए महामंत्री महासचिव एंव सचिवाधीश शब्द प्रयुक्त हुए हैं[१५२]। प्रान्तीय शासक भी अपना मंत्रिमंडल रखते थे। लेखों से मत्रियों की संख्या एंव उनके अधीनस्थ विभागीय कार्यो की जानकारी नहीं होती है। राजनैतिक एंव सांस्कृतिक कार्यो का चिन्तन एंव रक्षण उनका परमधर्म था राजा मंत्रियों से राजकीय कार्यो में सलाह मन्त्रणा करते थे[१५३]।

परराष्ट्र विभाग

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राजा दूसरे राजा से राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रखता था। परराष्ट्रनीति का संचालन कार्य भी मन्त्रियों द्वारा किया जाता था। परराष्ट्रनीति विभाग के मंत्री के लिए "महासान्धिविग्रहिक" शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है[१५४]। चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम के लेख से प्रादेशिक शासन में भी संधिविग्रहिक मंत्री नियुक्त किये जाने की जानकारी होती है[१५५]। यह संधि एंव युद्ध का निर्णय करता था जिसमें साम, दाम, दण्ड, भेद इन चतुर्नीतियों का प्रयोग करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। विदेशियों की नीति एंव गतिविधि पर नियन्त्रण रखना इसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता था[१५६]।

सेनाविभाग

मंत्रिमंडल में महामंत्री के पश्चात् युद्ध मंत्री का स्थान था जिसे कि लेखों में सेनापति कहा गया है[१५७]। होय्यसल लेखों में सेनापति के स्थान पर "महाप्रधान"[१५८] एंव अन्य लेखों में महादण्डनायक, दण्डाधिनाथ एंव दण्डाधिपति शब्द प्रयुक्त किये गये हैं[१५९]। साम्राज्य की रक्षा के लिए राज्य में एक विशाल सेना होती थी जिसका संचालन कार्य सेनापति करता था। लेखों से चतुरंगिणी सेना[१६०] – अश्व, रथी, हस्ति एंव पैदल होने की जानकारी होती है। जिसमें अश्व एंव हस्ति सेना का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है[१६१]। अश्व सेना के विशेष उल्लेखों से ज्ञात होता है कि राजाओं को स्थल भूमि पर युद्ध करने होते थे इसी कारण शत्रु के विरोध में अश्वों की अधिक आवश्यकता रहती थी। पाल लेखों में नौ सेना का उल्लेख मिलता है जो समुद्र के समीप रहते थे[१६२]। कदम्ब कुल राजा वप्प के अट्ठारह अक्षौहिणी सेना होने की जानकारी होती है[१६३]। प्रत्येक सेना प्रमुख सेनाध्यक्ष एंव महाप्रधान सेनापति नाम से अभिहित किये जाते थे[१६४]।

लेखों में प्राप्त सेनापतियों की वंशावली से यह पद वंश परम्परागत ज्ञात होता है[१६५]। सेनापति अपने पराक्रम एंव शक्ति से अनेक उपाधियों को धारण करते

थे, लेखो में प्राप्त विभिन्न नाम इसके सूचक हैं[१६६]। दण्डाधिनाथ राज्य विस्तार में सर्वाधिक सहयोगी होते थे लेखों से चालुक्य राजा विज्जल के दण्डाधिनाथ द्वारा राज्यलक्ष्मी वृद्धि करने की जानकारी होती है[१६७]। राजाओं द्वारा इन्हें प्रान्तीय शासक बनाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१६८]। युद्ध में सेनापतियों की मृत्यु हो जाने पर परिवार के लोगों को राज्य द्वारा मासिक धन देने की जानकारी होती है[१६९]। सेनापतियों द्वारा दान देने एंव सन्यास धारण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१७०]। राजा सेनापति की प्रशंसा में लेख भी लिखवाते थे[१७१]।

राष्ट्रीय रक्षा में दुर्ग का बहुत बड़ा स्थान था, लेखों से राजाओं द्वारा दुर्ग निर्माण कराने एंव उसकी देखरेख के लिए कोट्टपाल नामक अधिकारी की नियुक्ति कराने की जानकारी होती है। दुर्ग प्रायः सीमा के पास बनाये जाते थे[१७२]।

अर्थ विभाग

लेखों में प्राप्त "कोषाध्यक्ष" शब्द से ज्ञात होता है कि राज्य में एक अर्थविभाग होता था जिसकी आय व्यय का लेखा कोषाध्यक्ष के पास रहता था[१७३]। होय्यसल लेख में खंज्जाची शब्द प्राप्त होता है[१७४]।

लेखों से ज्ञात होता है कि राज्य की आय के अनेक साधन थे जिनमें प्रमुख साधन भूमिकर था[१७५]। यह सम्भवतः उपज १/४ या १/६ भाग होता था जो धन तथा अन्न दोनों रुपों में लिया जाता था। भूमि कर निश्चित करने के लिए राजाओं द्वारा भूमि की नाप आदि करायी गयी। अनाज एंव अन्य उपज पर लगाये गये कर को "विशोषक" कर कहा गया है[१७६]। भूमि एंव ग्राम दान के लेख जिनमें दानग्राही को कर मुक्त करने का वर्णन है, भूमि कर होने का स्पष्टीकरण करते हैं[१७७]। चोल लेखों से ज्ञात होता है कि यदि किसी कारण भूमि की फसल नष्ट हो जाती तो राज्य भूमिकर माफ या कम कर देता था। समय समय पर भूमि का वर्गीकरण होने एंव तदनुसार नवीन कर निर्धारण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं ये भूमिकर ग्राम सभाओं द्वारा एकत्रित किया जाता था, कर न देने वालों की भूमि जब्त कर ली जाती थी[१७८]।

भूमिकर के अतिरिक्त राज्य व्यवसायियों एंव शिल्पियों से भी कर लेता था। स्थल मार्गो एंव जलमार्गो पर चुंगी वसूल की जाती थी[१७९]। खेतों, वनो, बागों, खानों से भी राज्य को अत्यधिक आय होती थी[१८०]। लेखों में प्राप्त उल्लेखों से आयात एंव निर्यात की गयी वस्तुओं पर कर व्यवस्था की जानकारी होती है ये कर व्यापारियों से लिये जाते थे[१८१]।

ब्राह्मणों एंव मन्दिरों से लिये जाने वाले कर अत्यधिक हल्के होते थे। सामन्तों से प्राप्त कर एंव उपहारों से भी राज्य की काफी आय होती थी[१८२]। लेखों में गद्याण, पण एंव काशु सिक्कों का उल्लेख प्राप्त होता है जो भेंट एंव कर रुप

में दिये जाते थे[१८३]। व्यापारियों द्वारा होन्नु नामक सिक्के कर रुप में देने की जानकारी होती है[१८४]। राजाओं द्वारा, पौण[१८५], सुवर्ण–तुलाका[१८६] एंव द्रम्भ[१८७] नामक सिक्के मन्दिरों को दान में प्राप्त होते थे।

लेखों से विवाह एंव मृत्यु पर भी राज्य की आय होने की जानकारी होती है। निसन्तान एंव सम्बन्धीविहीन व्यक्तियों के मर जाने पर उनकी सम्पत्ति राज्य की समझी जाती। बहुधा अभियुक्तों से प्राप्त अर्थदण्ड भी राज्य की आय थी। समय समय पर पराजित देशों से भी प्रभूत धन प्राप्त होता था[१८८]। ग्रामों से राज्य को विशेष आय होती थी[१८९]।

लेखों से ज्ञात होता है कि करों को ग्रहण करने वाला एक अधिकारी होता था जिसे चुंगी अध्यक्ष कहा गया है[१९०]। जल मार्ग से कर ग्रहण करने वाले को धाट अधिकारी कहा गया है[१९१]। इस तरह लेखों में प्राप्त करों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में कर व्यवस्था सुव्यवस्थित रही होगी एंव कर से राज्य को विशेष आमदनी होती रही होगी[१९२]।

राजा द्वारा भूमि, ग्राम, आयात निर्यात एंव स्थानीय विकी पर प्राप्त करों को मन्दिर के निर्माण, प्रबन्ध हेतू, ऋषियों के आहार एंव दीप प्रज्वलित करने के लिए दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१९३]।

धार्मिक सिद्धान्त

जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी से ही महावीर ने जैनमत का प्रचार किया था। अशोक के लेखों में "निगंठ" (निर्ग्रन्थ) शब्द का प्रयोग जैनों के लिए किया गया है[१९४]। जिससे ज्ञात होता है कि जैन भिक्षु ग्रन्थि रहित अर्थात् सांसारिक भोग, उपभोग से परे एंव पुनर्जन्म से मुक्त होते थे। जैन अभिलेखों से इस मुक्तावस्था को प्राप्त करने के लिए साधन रुप अनेक सिद्धान्तों की जानकारी होती है। जैन अभिलेखों में जैन धर्म को दो भागों – श्रावक एंव मुनिधर्म में विभाजित किया गया है जिनमें मुनियों को जैन सिद्धान्तों का पालन अति कठोरता से करना होता था।

मुनिव्रत

लेखों से मुनियों द्वारा पाप, अज्ञान एंव मिथ्यात्व से दूर रहने एंव इन्द्रियों का दमन करने की जानकारी होती है। वे इसके लिए वे पंच महाव्रतों – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एंव अपरिग्रह का पालन करते थे[१९५]। मुनि आचार के अन्तर्गत त्रयरत्न, बारह भावनाओं द्वारा चारों कषायों को नष्ट करने के लिए निर्देशित किया गया है[१९६]। मुनियों द्वारा बारह प्रकार के कठोर तप द्वारा कर्मो का नाश करने की

करने जानकारी होती है[१९७]। सम्यक् ज्ञान दर्शन एंव चारित्र इन त्रयरत्नों का मोक्ष प्राप्ति हेतु पालन अत्यावश्यक था[१९८]। मुनियों द्वारा द्वादशागों का अध्ययन करने एंव अपने उपदेशों से मनुष्यों को धार्मिक कृत्यों के करने के लिए प्रोत्साहित[१९९] करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। धर्म को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। मुनि धर्म फल के कारण ही निर्वाण प्राप्त करते थे इसके लिए मुनि समितिगुप्ति व्रत के पालन के साथ ही सन्यास व्रत को धारण करते थे[२००]।

ये मुनि यति भी होते थे, ये तार्किक एंव शास्त्रों के ज्ञाता होते थे। ये इतने अधिक शक्तिशाली होते कि प्रसन्न होने पर सम्पूर्ण राज्य भी दे देते थे[२०१]। स्त्री समुदाय से मातृवत् व्यवहार करने की जानकारी होती हैं[२०२]।

मुनियों की तरह श्रावक भी जैन धर्म के सिद्धान्तों का पालन करते थे। वे संध में रहते एंव मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार, दानादि धार्मिक कृत्यों को करते थे[२०३]। जैन लेखों में राजाओं को भी पंचअणुव्रतों, महाव्रतों का पालन करने एंव माँस, मद्य, मधु का त्याग करना आवश्यक बतलाया गया है। लेखों में झूठ बोलना, युद्ध में भय, परदारारत, शरणार्थियों को शरण न देना, अधीनस्थों को अपरितृप्त रखना, सभी से द्रोह, योग्य को छोड़ देना, ये सात नरक के द्वार बताये गये हैं। अतएव राजाओं को इनसे बचने का निर्देश दिया गया है[२०४]। लेखों से मृत्यु के समय पंच परमेष्ठी को पंचनमस्कार मंत्र पूर्वक स्मरण के उल्लेख मिलते हैं[२०५]।

मन्दिर निर्माण

लेखों से राजवंशों के साथ ही साथ जनसाधारण के जैनधर्म से प्रभावित होने की जानकारी होती हैं। पूर्वमध्ययुग मन्दिर निर्माण का प्रमुख काल था, स्थान–स्थान पर मन्दिरों का निर्माण होने लगा[२०६]। जनसाधारण[२०७] एंव विभिन्न राजवंशों – गंग[२०८], चालुक्य[२०९], रट्ट[२१०], होय्यसल[२११], कदम्ब[२१२] राजवंश द्वारा जिन मन्दिर निर्माण कराने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। मन्दिर निर्माण हेतु करों से मुक्त करके भूमि एंव ग्रामदान किये जाते थे[२१३]। लेखों से मन्दिर वास्तुकला की जानकारी नहीं होती किन्तु कुछ मन्दिरों की चोटी रत्नों से जड़ित होने एंव गोपुर होने की जानकारी होती है[२१४]। मन्दिरों में द्वार, स्तम्भ, शाला एंव मण्डप बनाये जाते थे। जैनमन्दिरों के समक्ष मानस्तम्भ या पूजार्थ स्तंभ स्थापित किये जाते थे जिन पर तीर्थकंरों की एंव अन्य देवताओं की लघु आकृतियॉ उत्कीर्ण की जाती थी[२१५]। ये मन्दिर प्रायः पाषाणया ईंट के बनते थे पर कुछ लेखों में लकड़ी के मन्दिर बनने की जानकारी होती हैं[२१६]।

मूर्ति निर्माण

मूर्ति लेखों एंव मूर्ति निर्माण के हेतु दान देने के उल्लेखों से मन्दिरों में

मूर्ति स्थापना करने के उल्लेख मिलते हैं[२१७]। विशेषकर ये मूर्तियॉ आसनस्थ बनायीं गयीं हैं[२१८]। मूर्तियों में विशेषकर शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, ऋषभ, महावीर एंव चन्द्रप्रभ की मूर्तियॉ मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जातीं थी[२१९]। पार्श्वनाथ की मूर्ति खड्गासनस्थ होने एंव सर्प के सप्त फणधारी छत्र होने की जानकारी मिलती है[२२०]। लेखों से चौबीस तीर्थकंरों की मूर्ति की प्रतिष्ठा एक ही मन्दिर में होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२२१]। ये मूर्तियॉ पीतल द्वारा निर्मित होती हैं[२२२]। लेखों में इन मूर्तियों की स्थापना का समय भी प्राप्त होता हैं[२२३]। लेखों से तीर्थकंर की मूर्ति के समान ही बाहुबलि एंव गोम्मटदेव पद्मावती देवी की प्रतिमाओं की पूजा हेतु दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२२४]। सोने चॉदी, मूंगा, रत्नों एंव पंचधातु की प्रतिमाऐं होने की जानकारी होती हैं ये मूर्तियॉ नामोल्लेख से युक्त होती है[२२५]।

जैन शास्त्रों में प्रत्येक तीर्थकंर के यक्ष एंव यक्षी होने का उल्लेख मिलता है। देवगढ़ के मुख्य मन्दिर की भित्तियों पर जो तीर्थकंर की जैनमूर्तियॉ उत्कीर्ण हैं उनके साथ उनकी यक्षियों की मूर्तियॉ एंव शीर्षक भी प्राप्त होते हैं। इनमें समयोल्लेख भी किया गया है[२२६]। यक्षिणियों के उत्कीर्ण नाम ये हैं – भगवती सरस्वती–अभिनन्दन, सुलोचना–पद्मप्रभ, मयूरवाहिनी–सुपार्श्व, सुमालिनी–चन्द्रप्रभ, बहुरुपी–पुष्पदन्त, श्रीयादेवी–शीतलनाथ, बडी–श्रेयांस, सिद्धदू–मुनिसुब्रत अभंगरतिन–वासुपूज्य, सुलक्षणा–विमलनाथ, अनन्तवीर्या, – अनन्तनाथ, सुरक्षित–धर्मनाथ, श्रीयादेवी–शांतिनाथ, अर्दिकरव्वि–कुन्थुनाथ, तारादेवी, – अरनाथ, हिमावती–मल्लिनाथ, हयवई–नमिनाथ एंव अपराजिता–वर्धमान।

जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अधिकांशतः जैन मूर्तियों की पंहचान उन पर उत्कीर्ण लांच्छनों एंव परिचायक चिन्हों से होती है। यथा – शान्तिनाथ की हिरन से, मल्लनाथ की कलश से, सम्भवनाथ की अश्व से, पद्मप्रभ की कमल से एंव आदिनाथ की वृषभ से। अभिलेखों में इन तीर्थकरों के मन्दिरों के लिए – चैत्य, बसति, हर्म्य, मन्दिर, वैश्य, विहार, भुवन, प्रसाद, एंव स्थान शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेखों से जिन मन्दिर के दोनों ओर लोकपालों की मूर्तियॉ बनाने की जानकारी होती है[२२७]।

लेखों से तीर्थकंरों की मूर्तियों के अभिषेक, पूजा एंव कल्याणोत्सव सम्पन्न किये जाने की जानकारी होती है[२२८]।

दान : (दातव्य वस्तुऐं)

जैन अभिलेखीय साहित्य से ज्ञात होता है कि दान धर्म का एक आवश्यक अंग था। मन्दिर निर्माण प्रकिया में वृद्धि होने से भूमि एंव ग्राम दान विशेषतः दिये जाते थे। लेखों से मन्दिरों के जीर्णोद्धार, निर्माण, प्रबन्ध, दैनिक प्रतिमा पूजा,

अभिषेक, ऋषि वर्ग के आहार, तपस्वियों की सेवा, दिव्य व्रतियों, शास्त्र लिखने वालों, विद्यार्थियों एंव वाचनालय निर्माण हेतु विभिन्न राजवंशों द्वारा ग्राम एंव भूमि दान दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भूमि एंव ग्राम कर मुक्त करके दान में दिये जाते थे[२२९]। भूमि एंव ग्राम दान के अतिरिक्त खेत, बगीचा, दुकान, वृक्ष, तालाब, नदी, कुआ, मकान आदि स्थायी वस्तुऐं भी दान में दी जाती थी[२३०]। इसके साथ ही प्रतिमा पूजा, पुष्पों एंव दीपक जलाने हेतु तेल की चक्की, तेल, चावल के क्षेत्र, अनाज का हिस्सा, शहरों की चुंगी, गॉव के घाट की आमदनी एंव अन्यान्य स्थानीय कर, कालीमिर्च, अखरोट, पान आदि विक्री की आय, कोल्हू, खाद के गड्डे, घी, मुफ्त श्रम, भेरी शंख, चामर, नगाड़े, सुवर्ण एंव सुवर्ण के बने आभूषण, गाय, बकरी, घोड़े एंव दास दासी राजकीय एंव सामान्य व्यक्तियों द्वारा दान में दिये जाते थे[२३१]।

लेखों में समाज के धनिक वर्ग द्वारा वार्षिक चन्दा देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२३२] लेखों से दान देते समय साक्षियों के उपस्थित रहने की जानकारी होती है[२३३]। धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के परिणाम स्वरुप धार्मिक किया कलापों में समग्र रुप से आचार विषयक सिद्धान्तों को कियान्वित किया जा रहा है या नहीं हेतु राजा द्वारा राजपडितों की नियुक्ति की जाती थी[२३४]। भूमिदान प्रकरणों में युवराज से लेकर ग्राम प्रमुख तक के समस्त शासन अधिकारियों से दान प्राप्त करने वाले व्यक्ति की अधिकार रक्षा का अनुरोध किया गया है।

दान के अवसर

अभिलेखीय साहित्य में प्राप्त माह, पक्ष, तिथि, वार संकान्ति आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दान देने की प्रक्रिया में उचित एंव शुभ समय का विचार आवश्यक था। विशेष दिनों, एंव नक्षत्रों में दान देने, मन्दिर निर्माण एंव जीर्णोद्धार आदि कराने का विशेष माहात्म्य होता था[२३५]। सूर्य एंव चन्द्रग्रहण अथवा किसी मुख्य पर्व के अवसर पर दान देने एंव मन्दिर निर्माण कराने का विधान था[२३६]। ग्रहण के अतिरिक्त एकादशी, अक्षयतृतीया, संकान्ति, अधिक मास, उत्तरायण, पूर्णिमा आदि दान के शुभ अवसर माने जाते थे[२३७]। पुत्र जन्माभिषेक, राज्याभिषेक एंव विजय के अवसरों पर राजाओं द्वारा दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२३८]। तीर्थयात्रा के समय ब्राह्मणों को दान देने एंव उनकी आजीविका के लिए सत्र खोलने की जानकारी होती है[२३९]।

दान की पद्धति

दान के अवसर पर दान देने वाला व्यक्ति उपवास रखकर, जिन की पूजा करके संकल्प करता था। संकल्प में दानग्राही के गोत्र के साथ नाम का उच्चारण

किया जाता था। उस समय पुरोहित स्वस्तिवाचन करता था। दान में दी गयी वस्तु से दानकर्ता एंव उसके परिवार का किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। दान में दी गयी वस्तु से होने वाली आय पर अधिकार राजा का न होकर दानग्राही का होता। दानकर्ता शासक राजकर्मचारियों एंव साक्षियों के सम्मुख घोषणा करता कि ये भूभाग अथवा वस्तु अमुक गोत्र के व्यक्ति (आचार्य) अमुक आचार्य के शिष्य, ब्राह्मण या धार्मिक संस्था को दे दिया गया है। दानग्राही को सब प्रकार के कर वसूल करने का अधिकार दिया जाता है। इसके साथ ही राजा द्वारा अपने उत्तराधिकारियों के लिए इस बात के उल्लेख करने कि दान दिये गये भूभाग को वापस लेने अथवा दान में बाधा पहुँचाने पर वह नरकगामी होगाा एंव इस नियम का पालन करने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी, के उल्लेख प्रायः सभी दान पत्रों में प्राप्त होते हैं। ये श्लोक स्मृति ग्रन्थों से लिये गये हैं[२४०]।

समाधिमरण

मुनियों, आर्यिकाओं, श्रावक एंव श्राविकाओं एंव राजकीय परिवार के व्यक्तियों द्वारा समाधिमरण द्वारा प्राणत्याग करने की जानकारी होती है। समाधिमरण के उपलक्ष्य में स्मारक निर्माण किये जाते[२४१]। समाधिमरण से सम्बन्धित लेखों में प्राप्त तिथियों से ज्ञात होता है कि सॉतवी, आठवी, शताब्दी में सल्लेखना का प्रचार परवर्ती शताब्दियों की अपेक्षाकृत अधिक था। लेखों में इसे सल्लेखना, समाधि, सन्यास, व्रत उपवास, तप अनशन द्वारा मरण, एंव स्वर्णारोहण कहा गया है[२४२]। कभी कभी तो सल्लेखना (मरण) की सूचना केवल मुनियों एंव श्रावकों की निषद्याओं (स्मारकों) से पता चलता है[२४३]। लेखों से उन तिथियों, वारों, एंव पक्षों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिस दिन सल्लेखना विधि से प्राणत्याग करना शुभ माना जाता था। आचार्यो द्वारा सल्लेखना विधि से प्राणत्याग करने के उल्लेख आचार्यो की प्रशस्तियों में प्राप्त होते हैं[२४४]।

धार्मिक सहिष्णुता

अभिलेखीय साहित्य से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकालीन शासक धर्म सहिष्णु थे। छठी शताब्दी ई०वी० से पूर्व से ही जैनधर्म के साथ अन्य धर्मो के प्रचलित होने एंव राजाओं द्वारा राज्याश्रय प्रदान करने की जानकारी होती हैं। जैनाचार्यो एंव अन्य धर्मवेत्ताओं द्वारा परिस्थितियों के अनुसार अपने अपने धर्म की रक्षा के लिए समाज में अन्य धर्मो से सम्बन्धित प्रचलित सिद्धान्तों को अपनाया गया। चालुक्य वंशीय लेख से शैव, बौद्ध एंव ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित सभी देवताओं के मन्दिर होने की जानकारी होती है[२४५]। जैन अभिलेख प्रायः जिनका मंगलाचरण "ऊँ नमो

सर्वज्ञाय, ऊँ नमो वीतरागाय आदि से होता है, किन्ही किन्हीं लेखों में मंगलाचरण हिन्दू देवताओं के नामों द्वारा प्राप्त होता है[२४६]। लेखों से वैष्णव धर्म की अपेक्षा जैनधर्म शैवधर्म के अधिक निकट लक्षित होता है। तन्त्रालोक में शैवधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में अर्हत् (जैन) की गणना की गयी है[२४७]। पूर्वमध्ययुगीन राजवंशों द्वारा जैन एंव शैवधर्म को राज्याश्रय देना इस कथन की पुष्टि करता है। होय्यसल वंशी जैन राजा विष्णुवर्द्धन द्वारा शिव मन्दिर बनवाने की जानकारी होती है[२४८]। चालुक्यराजा कुमारपाल एंव सोमेश्वर द्वारा शिवमन्दिर के लिए गॉव दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२४९]। जैन लेखों में जैन मंगलाचरण के पश्चात् शिव के अनेक नामों से उनकी स्तुति एंव आदिशक्ति पार्वती के साथ पूजा करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२५०]। कदम्बवंशीय राजा ब्राह्मण धर्मानुयायी होते हुए भी जैन धर्मानुयायियों को भूमिदान देते थे[२५१]। राष्ट्रकूट वंशी अमोधवर्ष प्रमुख रुप से जैनमताबलम्बी था, अभिलेखों से उसके महाकाली के उपासक होने की जानकारी होती है[२५२]। इसी प्रकार ब्राहमणों द्वारा जैनों के एंव जैनों द्वारा शैवों के मन्दिर निर्माण कराने एंव दानादि देने की जानकारी होती है[२५३]। लेखों से ग्यारहवीं बारहवी शताब्दी में जैनधर्म एंव शैवधर्म के बीच विवाद होने एंव शैवधर्म के विजयी होने के उल्लेख मिलते हैं[२५४]। जैन लेखों में शिवमन्दिरों एंव शिव की पूजा का माहात्म्य वर्णन किया गया है[२५५]।

लेखों से जैनधर्मानुयायियों द्वारा अन्य पौराणिक देवी देवताओं की पूजा करने, दान देने के साथ ही समन्वयवादी रुप को भी अपनाया गया। जयसिंह के बेलूर शिलालेख से ज्ञात होता है कि अक्खादेवी ने जैन, बौद्ध, एंव अनन्तविधि तथा शास्त्रों के अनुसार क्रियाऐं की[२५६]। कतिपय लेखों में जिन, विष्णु एंव शम्भु को एक रुप में नमस्कार किया गया है[२५७]। पूर्वमध्यकाल में जैनाचार्यो ने जिन, बुद्ध, विष्णु एंव शिव को एक ही तत्व के रुप में माना गया है। इसी कारण विष्णु एंव शिव के सहस्त्रनामों में से कतिपय नाम जिन के लिए प्रयुक्त किये गये हैं[२५८]। जैनाचार्य हिन्दुओं के अवतार वाद से प्रभावित होकर ऋषभ के दस भवों पूर्वजन्मों की कल्पना करते हुए पाये जाते हैं[२५९]। जैनविद्या की देवियों में सरस्वती से सहायता प्राप्त करने की जानकारी होती है[२६०]। गणेश की अट्ठारह भुजावाली एक मूर्ति मिली है जिसे जैनधर्मानुयायी पूजते रहे। चाहमान लेख से राजा अल्हणदेव द्वारा सूर्य की पूजा करने एंव दान देने की जानकारी होती है[२६१]। चोल राजा वीर चोल द्वारा तिरुप्पान्मलैक देवता के लिए गॉव की आमदनी दान में देने की जानकारी होती है[२६२]। गंगवंशीय राजाओं द्वारा पद्मावती नामक देवी के मन्दिर को चिरकाल तक के लिए पण नामक सिक्के दान देने एंव प्रसन्न होकर देवी द्वारा राज्य एंव तलवार के साथ वर देने की जानकारी लेखों से होती है[२६३]। ज्वालिनी देवी एंव कलिदेव की उपासना होने एंव उनके मन्दिर हेतु दान देने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं[२६४]।

राज्य की ओर से अन्य देवी देवताओं के मन्दिर निर्माण के उल्लेख मिलते हैं सम्भवतः ये देवी देवता अलग-अलग गॉवों से सम्बन्धित रहे होंगे[२६५]। लेखों से तत्कालीन समाज में तन्त्र मन्त्रों का व्यापक प्रसार होने एंव मंत्रों द्वारा देवी को प्रसन्न करने की जानकारी मिलती है[२६६]। तीर्थकरों की मूर्तियों के पास उनकी अधिष्ठात्री देवी की मूर्तियों को स्थापित किया जाता था[२६७]। अभिलेखीय साहित्य से तीर्थकरों के केवल ज्ञान उत्पन्न होने एंव निर्वाण प्राप्ति के समय इन्द्र द्वारा पूजा करने एंव राजा द्वारा दर्शन पूजा आदि करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२६८]।

जैन समाज में यक्षयक्षिणियों की पूजा प्रथा विहित रही। ये मूर्तियॉ तीर्थकरों के पार्श्वभाग में स्थापित की जाती थी[२६९]। कुलोतुंगचोलदेव द्वारा यक्षी एंव त्रिछत्राधिपतिदेव की तॉबे की मूर्ति बनवाने, मन्दिर जीर्णोद्वार कराने एवं उसमें कोल्हु, चावल के क्षेत्र एंव दुकान दान में देने के वर्णन प्राप्त होते हैं[२७०]। जैन जगत में पूज्य यक्षयक्षिणियों की मूर्तियों का उल्लेख अभिलेखों में सामान्यतया पाया जाता है[२७१]।

लेखों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यो ने विभिन्न धार्मिक तत्वों में समन्वय स्थापित किया। अपने धर्म की रक्षा एंव व्यापक रुप प्रदान करने हेतु अन्य धर्मो के तत्वों को आत्मसात किया। उनका मूल उद्देश्य पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक अंगों एंव पूर्वो में आकलित जैन संस्कृति को विस्तृत एंव व्यापक रुप प्रदान करना था।

जैनसंघ एंव आचार्यो की वंशावली

जैन श्रमण भगवान महावीर से लेकर उनके गण एंव गणधरों की परम्परा का स्मरण करते हुए कालान्तर के गुरु शिष्य परम्परा के द्वारा अपने विद्यावंश की पूरी वंशावलि रखना चाहते थे। उनके धर्मशासक आचार्यो की गुरु शिष्य परम्परा राजवंशीय परम्परा की भॉति ही चलती थी[२७२]। इसी कारण जैन परम्परा में जैन संघ की स्थापना हुयी। कल्पसूत्र में जैन संघ के संगठन की मूल रेखा ज्ञात होती है जैन संघ भिक्षुओं का वर्ग था जो अपने से छोटे भिक्षुओं को धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन कराते थे। अभिलेखों से जैन संघ में चार अधिकारियों – अन्तेवासिन्, गणिन्, वाचक एंव श्रद्धाकर के होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

अभिलेखों में "वाचक" शब्द ई०पू० से ही प्राप्त होता है। ७वीं शताब्दी के लेखों में आचार्य, उपाध्याय, सूरि, गनिन, एंव भट्टारक शब्दों को पाते हैं। इनका स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण था। १०वीं १२वीं शताब्दी के दिगम्बर लेखों में संघ के विशिष्ट अधिकारी को महामंडलाचार्य कहा गया है। ये शक्ति एंव अधिकार में श्रेष्ठ होते थे कभी कभी ये केवल आचार्य कहे जाते थे जो शिक्षा एंव दीक्षा देते थे।

साधारण साधुओं को अन्तेवासि, अन्तेवासिन् शिष्य, शिष्याणी, समन एंव

समनश्राविका कहा जाता था। गनिन् शब्द सुशिक्षित शिष्य के लिए कहा गया है जो इनके सम्मान का सूचक था[२७३]।

धीरे–धीरे इन संघों का प्रान्तीय संगठन होने लगा ये संघ गण नाम से प्रसिद्ध थे, गणों में कई कुल होते थे इन कुलों की कई शाखायें होती थीं। इसके अतिरिक्त ये धार्मिक संघ सम्भागों में विभाजित थे।

भगवान महावीर के पश्चात् जैन संघ में सम्प्रदाय भेद होता है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद के अर्द्धऐतिहासिक उपाख्यान हरिभद्र एंव शान्तिसूरि की टीकाओं में मिलते हैं।

जैन संघों के कार्यो का केन्द्र जब मथुरा से गुजरात एंव राजपूताना की ओर बढ़ता है तब असंख्य गच्छों का उदय होता है। इनमें बहुत से क्षेत्रीय रुप में उत्पन्न हुए। गच्छों का विकास शिष्यों एंव प्रशिष्यों के रुप में भी हुआ, इसी कारण मध्यकाल में दक्षिण भारत में कुछ नये संघों और उनकी नई शाखाओं – गण, गच्छ, अन्वय एंव बलियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अभिलेखीय साहित्य से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में सर्वप्रथम भद्रवाहु द्वितीय आये थे और जैनधर्म का प्रारम्भ इनके द्वारा ही हुआ[२७४]।

शिलालेखों से चौथी पांचवी शताब्दी में दक्षिण भारत में जैनसंघ के विशाल दो सम्प्रदाय–श्वेतपट महाश्रमण संघ एंव निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के होने की जानकारी होती है[२७५]। निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ की स्थापना भद्रवाहु द्वितीय द्वारा किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२७६]। निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग महावीर एंव उनके अनुयायी सम्प्रदाय मात्र के लिए किया जाता था। इस सम्प्रदाय के आचार्यो के नाम पर भूमि, ग्राम आदि दान में दिये जाते थे[२७७]। इसके पश्चात् कालीन शिलालेखों में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है और इसके स्थान पर ५वीं शताब्दी ई० में मूल संघ का उल्लेख प्राप्त होता है[२७८]। सम्भवतः दक्षिण भारत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय को दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न स्पष्ट करने के लिए मूल संघ का प्रयोग किया जाने लगा[२७९]।

मूल संघ

मूल संघ का सर्वप्रथम उल्लेख चौथी पांचवी शताब्दी में प्राप्त होता है[२८०]। शिला लेखों से मूल संघ के अन्तर्गत गण गच्छ एंव अन्वय, बलि की जानकारी सांतवी शताब्दी (६८७ ई०) के लेखों से होती है[२८१]। लेखों से मूलसंघ के देवगण, सेनगण, देशियगण, सूरस्थगण, कानूरगण एंव बलात्कार गण की जानकारी होती हैं। इन गणों का नामकरण : सम्भवतः आचार्यो के नामान्तर शब्दो अथवा प्रान्त स्थान के नामों के आधार पर किया गया है।

११वीं शताब्दी के आचार्य इन्द्रनन्दि के (श्रुतावतार) एंव लेखों से शक सं० १३२० में मूल संघ में विवाद उत्पन्न होने एंव इसके साथ ही अर्हद्बलि आचार्य द्वारा सेन, नन्दि, सिंह, देव नाम से चार भागों में विभाजित करने की जानकारी होती है[२८२]। कुछ लेखों में अंकलक देव के पश्चात् संघ के विभाजित होने के उल्लेख प्राप्त होते है[२८३]। इन गणों में आचार व्यवहार की दृष्टि से पारस्परिक भेद नहीं थे[२८४]। कुन्द–कुन्द को मूलसंधग्रणी माना गया है[२८५]।

१ देवगण

मूल संघ के अन्य गुणों में देवगण प्राचीन है। लेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख पश्चिमी चालुक्य राजवंश के ७वीं शताब्दी ई० वी० के अभिलेखों में प्राप्त होता है। जिसमें देवगण के आचार्य उदयदेव, रामदेव, जयदेव, विजयदेव को ग्राम दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[२८६]। इसके पश्चात् गंगराजा मारसिंह देव द्वारा एक देव एंव जयदेव आचार्य को दान देने की जानकारी होती है[२८७]। देवगण का अन्तिम उल्लेख ११वीं शताब्दी के एक लेख जिसमें देवगण के अंक देव महीदेव के गृहस्थ शिष्य द्वारा जिनालय निर्माण करने का वर्णन है, में प्राप्त होता है[२८८]। इन लेखों से ज्ञात होता है कि इस गण का नाम आचार्यो के नामान्त पर रखा गया प्रतीत होता है।

२ सेनगण

लेखों में इस गण का प्राचीनतम उल्लेख सन् ८२१ के लेख में प्राप्त होता है। जिसमें गुजरात के राष्ट्रकूट शासक कर्कराज द्वारा सेनसंघ के मल्लवादि के शिष्य सुमतिपूज्यपाद के शिष्य अपराजित गुरु को हिरण्ययोगा नामक खेत दान देने का उल्लेख है। इस लेख में सेनसंघ को "चतुष्टय मूल संघ का उदयान्वय सेनसंघ" कहा है[२८९]। १० वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के एक लेख में सेनगण को सेनान्वय कहा गया है एंव कनकसेन मुनि को एक खेत दान देने का उल्लेख है। इस लेख से कनक सेन की गुरु परम्परा ज्ञात होती है[२९०]। उपर्युक्त दो लेखों से सेनगण के आचार्यो की वंशावली ज्ञात होती है।

जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सेनगण के तीन उपभेद थे। १ पोगरि या होगरि गच्छ, २ पुस्तक गच्छ, ३ चंद्रक वाट अन्वय।

पोगारिया होगरि गच्छ

लेखों में इसे "मूलसंघ–सेनान्वय का पोगरियगण" कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि यह सेनगण का उपभेद था। इसके आचायों को दान देने की

जानकारी होती है[२६१]। एक लेख में इसे होगरि गच्छ भी कहा गया है[२६२]। लेखों में प्राप्त आचार्यो के नाम से इसे गच्छ की आचार्य परम्परा नहीं दी जा सकती है।

चन्द्रक वाट अन्वय

लेखों से इस अन्वय के आचार्य नयसेन को सिन्दकुल के सरदार कंच रस द्वारा एंव नयसेन कै शिष्य नरेन्द्रसेन द्वितीय को द्रोण नामक अधिकारी द्वारा दान दिये जाने की जानकारी होती है। इन लेखों से इस अन्वय की गुरु शिष्य परम्परा ज्ञात होती है।

सेनगण के तीसरे भेद पुस्तक गच्छ का उल्लेख १४ वीं शताब्दी के लेखों में हुआ है। इसी तरह सेनगण का उल्लेख अन्यलेखों में प्राप्त है जो १२ वीं शताब्दी के बाद के हैं।

देशीगण और कौण्ड कुन्दान्वय

लेखों में देशिय, देशिक, देसिय, देसिग एंव महादेशिगण नाम प्राप्त होता है कि देशिय शब्द देश शब्द से निकला है। "देश" यह एक विशेष प्रान्त रहा होगा। इस देश नामक प्रान्त में रहने वाले साधु समुदाय को देसिय कहा गया होगा जो क्षेत्रीय आधार पर एक प्रमुखगण के रुप में परिणित हो गया[२६३]।

अ–पुस्तकगवछ या कौण्डकुन्दान्वय

राष्ट्रकूट राजाअमोधवर्ष के ८६० ई० के लेख से इस देशियगण के कोण्डकुन्दान्वय के आदि आचार्य देवेन्द्र मुनि ज्ञात होते हैं[२६४] जिनका नामोल्लेख अन्य लेखों में भी प्राप्त होता है। इन लेखों से इस गण की आचार्य परम्परा ज्ञात होती हैं[२६५]। लेखों से ज्ञात होता है कि इस गण के आचार्यो के नाम के साथ भट्टार पद जुड़ा है। ये इन आचायों की उपाधि है[२६६]। लेखों से ज्ञात होता है कि यह कौण्डकुन्दान्वय पुस्तक गच्छ का विशेषण है क्योंकि लेखों में कौण्ड कुन्दान्वय से पूर्व पुस्तकगच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्वप्रथम मूलसंघ कौण्डकुन्दान्वय का उल्लेख १०४४ ई०में प्राप्त होता है[२६७]।

लेखों में कौन्डकुन्दान्वय को एक गण भी कहा गया है एंव इस अन्वय के आचार्य मौनि सिद्धान्तदेव भटार[२६८] एंव अन्य तीन आचार्यो – तोरणाचार्य, पुष्पनन्दि एंव प्रभचन्द्र नाम दिये गये हैं[२६९]।

पुस्तक गच्छ – पनसोगे बलि

लेखों से पुस्तक गच्छ के दूसरे उपभेद पनसोगे (हनसोगे) बलि ज्ञात होता है। यह कर्नाटक प्रान्त का एक स्थान था जो देशीगण का केन्द्र था। बाद में क्षेत्रीय

आधार पर इसका उदय हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख १०वीं शताब्दी के लेखों में प्राप्त होता है। जिससे इस गण के मन्दिर होने एवं चंगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त होने की जानकारी होती है।[३००] लेखों सं पनसोगे बलि की आचार्य परम्परा भी ज्ञात होती है।[३०१] इस बलि के आचार्यों द्वारा समाधिमरण करने[३०२] एवं मूर्ति स्थापित करने की ज़ानकारी होती है।[३०३]

पुस्तकगच्छ – इंगुलेश्वर बलि

लेखों से पुस्तक गच्छ के दूसरे उपभेद हंगुलेश्वर बलि की जानकारी होती है[३०४]। इस बलि के आचार्य प्रायः कोल्हापुर के आस–पास रहते थे[३०५]। लेखों से गुरु शिष्य परम्पंरा कमानुसार प्राप्त नहीं होती।

आर्यसंघगृहकुल

राजा उद्योतकेशरी के खण्डगिरि से प्राप्त १० वीं शताब्दी के लेख से देशीयगण के इस आर्यसंघग्रहकुल के आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र की जानकारी होती है[३०६]।

इ चन्द्रकराचार्याम्नाय

कल्चुरि राजा गयावर्ण के सामन्त राष्ट्रकूट गोल्हण देव के १२ वीं शताब्दी के एक लेख से इस अपम्नाय के आचार्य सुभद्र द्वारा मन्दिर की प्रतिष्ठा होने की जानकारी होती है[३०७]।

ई मैणदान्वय

देशीगण के इस उपभेद की जानकारी १३ वीं शताब्दी के लेख से होती है[३०८]।

लेखों से ज्ञात होता है कि मूलसंघ के देंशीगण का उल्लेख प्रायः मूलसंघ देशीगण के नाम से हआ है[३०९]। कुछ लेखों में देशीगण का उल्लेख बिना किसी अन्वय, आदि के उल्लेख के हुआ है[३१०]।

४ सूरस्थगण

लेखों से ज्ञात होता है कि मूल संघ का एक गण सूरस्थगण नाम से प्रसिद्ध था। लेखों में इसका सूरस्त, सुराष्ट्र एंव सूरस्थ नाम से उल्लेख है[३११]। सूरस्थगण प्रारम्भ में मूल संघ के सेनगण से सम्बन्धित था[३१२]। सूरस्थ गण का सर्वप्रथम उल्लेख गंगराजा मारसिंह के सन् ६६२ के ताम्रपत्र में प्राप्त होता है। इसमें प्रभाचन्द्र कल्नेलदेव–रविचन्द्र–एलाचार्य इस आचार्य परम्परा का वर्णन है[३१३]।

लेखों से इस गण के दो उपभेदों – कौरुर गच्छ एंव चित्रकूटान्वय की जानकारी होती है।

कौरुर गच्छ

चालुक्य सम्राट – आहवमल्ल के सामन्त वाजिकुल के नागदेव के सन् १००७ के लेख से इसकी पत्नी द्वारा सूरसीगण – कौरुरगच्छ के अर्हणन्दि पण्डित को दान देने से होती है[३१४]।

चित्रकूटान्वय

लेखों से इस अन्वय के श्री नन्दिपंडित की आचार्य परम्परा ज्ञात होती है[३१५]। श्री नन्दि एंव गुरुवन्धु भास्करनन्दि के समाधिमरण के स्मारक रुप में लेख लिखाने की जानकारी होती है[३१६]। चालुक्य राजा जगदेकमल्ल के सन् ११४८ के एक लेख से चित्रकूटान्वय की एक अन्य आचार्य परम्परा की जानकारी होती है जिनको जिनालय के लिए भूमिदान की गयी थी[३१७]।

५ काणुरगण

काणुर किसी स्थान विशेष को सूचित करता हे सम्भवतः क्षेत्रीय आधार पर इस गण का विकास हुआ हो। गंगवंश के राजा रक्कसगंग तथा नन्नियगंग के १० वीं शताब्दी के एक लेख से काणूरगण के चन्द्रसिद्धान्त देव को ग्राम की कुछ भूमि दान देने के साथ ही काणूरगण की आचार्य परम्परा विस्तृत रुप से प्राप्त होती है[३१८]। लेखों से इस गण के तीन गच्छों की जानकारी होती है।

तिन्त्रिणी गच्छ

होय्यसल राजा विष्णुवर्धन के महाप्रधानदण्डनायक द्वारा इस गच्छ के मेघचन्द्रदेव को भूमिदान की जानकारी होती है[३१९]। इस गच्छ का उल्लेख मैसूर से प्राप्त पार्श्वनाथ मूर्ति के पीठ के लेख पर भी प्राप्त होता है[३२०]। लेखों से तिन्त्रिणीक गच्छ की आचार्य परम्परा ज्ञात होती है[३२१]। तिन्त्रिणीय गच्छ के मुनिचन्द्र एंव उनके शिष्य कल्याणी के चालुक्यों के अधीन सामन्तों के गुरु थे, वे यन्त्र तन्त्र मंत्र में अति प्रवीण थे, ये मण्डलाचार्य कहलाते थे तथा इस पद पर ४० वर्ष तक रहे[३२२]। इसके साथ ही बन्दणिकापुर के अधिपति होने की जानकारी प्राप्त होती है[३२३]।

मेषपाषाण गच्छ

गंगवंशीय राजाओं के लेखों से इस गच्छ के आचार्य को भूमिदान देने[३२४]

एंव आचार्यो की वंशावली ज्ञात होती है[३२५]। होय्यसल वंश के प्रधानमन्त्री द्वारा इस गच्छ के आचार्यो को भूमिदान करने की जानकारी होती है[३२६]। लेखों से इस काणूरगण मेषपाषाणगच्छ के एक आचार्य सिंहनन्दी द्वारा गंग राजवंश की नीव रखने की जानकारी होती है[३२७]। गंग नरेश इस गच्छ के आचार्यो के भक्त थे और उन्हें दानादि से सम्मानित करते थे। लेखों से कदम्ववंश द्वारा इस गच्छ के आचार्यो को भूमिदान की जानकारी होती है[३२८]।

पुस्तकगच्छ

पार्श्वनाथ बसदि के पाषाण से सन् ११५० के लेख से काणूरगण के पुस्तकगच्छ की जानकारी होती है[३२९]।

बलात्कारगण

लेखों में इस गण का उल्लेख सर्वप्रथम गंगपेमार्डि के १०७१ ई० के लेख में प्राप्त होता है जिससे इस गण के गुणकीर्ति को ग्रामदान देने एंव इसके आचार्यो की गुरु शिष्य परम्परा की जानकारी होती है[३३०]।

यापनीय संघ

लेखों से ज्ञात होता है कि कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट एंव रट्टवंश के राजाओं को यापनीय संघ एंव इसके साधुओं को भूमिदानादि दिये गये। कदम्ब वंश के लेखों से इस वंश द्वारा यापनीय संघ को चैत्यालय की मरम्मत, पूजा आदि के लिए भूमिदान देने की जानकारी होती है[३३१]। गंगवंशीय राजा अविनीत द्वारा यापनीय संघ द्वारा अनुष्ठित जिन मन्दिर के लिए भूमि देने के उल्लेख प्राप्त हैं लेख में यावनिक शब्द प्राप्त होता है[३३२]। यापनीय संघ के आचार्यो द्वारा समाधिमरण करने एंव स्मारक बनवाने की जानकारी होती है[३३३]। लेखों से यापनीय संघ के गणों एंव गच्छों की जानकारी होती है।

नन्दिगण

नन्दिगण इस सम्प्रदाय का प्रमुख है। लेख से ज्ञात होता है कि इस गच्छ के आचार्यो का नाम विशेषतः नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त होता था[३३४]। नन्दि संघ कई गणों में विभक्त था – कनकोपलसम्भूत वृक्षमूल गण[३३५], श्रीमूलमूलगण[३३६], तथा पुन्नागवृक्षमूल गण प्रमुख थे। लेखों से इनकी आचार्य परम्पराएें ज्ञात होती हैं। इस यापनीय संघ के नन्दिगण को मूलसंघ द्वारा अपनाया गया। लेखों में मूलसंघ के देशीय गण को

इसका प्रभेद माना गया है। श्रवणवेल्गोला से प्राप्त कई लेखों में मूलसंघ नन्दीगण पुस्तकगच्छ की आचार्य परम्परा दी गयी है जो यापनीय संघ के नन्दिगण के आचार्यो से मिलती हुयी है[३३७]।

पुन्नागवृक्षमूलगण

पुन्नागवृक्षमूल गण के आचार्यो को दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[३३८]। शिलाहार वंश के सन् ११६५ के एक लेख से इस गण की गुरु परम्परा ज्ञात होती है[३३९]।

कुमुदिगण

नंवी शताब्दी के एक लेख से इस गण के महावीर गुरु के शिष्य अमरमुदल गुरु द्वारा देशवल्लभ जिनालय निर्माण कराने की जानकारी होती है। लेखों से इसके कुछ आचार्यो का भी वर्णन प्राप्त होता है[३४०]।

कण्डूरगण

लेखों से यापनीय संघ के इस कण्डूर गण की गुरु शिष्य परम्परा एंव उन्हें दान देने की जानकारी होती है[३४१]। चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ के लेख में यापनीय संघ को सुधर्म गणधर की परम्परा से सम्बन्धित बतलाते हुए कण्डूरगण के कुछ आचार्यो का वर्णन किया गया है लेकिन उनमें परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है[३४२]।

कारेयगण

रट्ट वंशीय नरेशों के लेखों से ज्ञात होता है कि प्रथम नरेश पृथ्वी राम के गुरु कारेयगण के गुणकीर्ति के शिष्य इन्द्रकीर्ति थे[३४३]। लेखों से गुणकीर्ति से लेकर देवकीर्ति तक इस गण की आचार्य परम्परा ज्ञात होती है[३४४]। रट्टवंशीय राजाओं द्वारा इस गण के आचार्यो को दान दिये गये[३४५]। ये गण यापनीय संघ से ही उद्भूत था[३४६]।

लेखों से स्पष्ट होता है कि यापनीय संघ चौथी शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक सुसंगठित रुप में था। इस संघ के पुन्नागवृक्षमूलगण, बलहारिगण, और कण्डूरगण मूलसंघ में शामिल कर लिये गये। नन्दिसंघ पहले द्रविण संघ एंव पीछे मूलसंघ में मिल गया।

यापनीय संघ दक्षिण भारत के श्वेताम्बर एंव दिगम्वर सम्प्रदाय के आचारों विचारों का मिश्रित रुप था। इस संघ के आचार्य दिगम्बरों के समान नग्न रहते, मोरपिच्छी रखते एंव पाणितलभोजी थे। इसके साथ ही ये मूर्तिपूजक थे और इनमें

श्रद्धा रखने वालों को ये धर्मोपदेश से लाभान्वित करते। दूसरी और ये श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, कैवलीकवलाहार और सग्रन्थावस्था भी मानते थे। सम्भवतः ये संघ श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के बीच की कड़ी थे[३४७]।

३ द्राविड़ संघ

इस संघ के प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है कि कौगाडल्व वंश, शान्तरवंश एंव होय्यसल राजवंशो द्वारा इस संघ को संरक्षण प्राप्त था। होय्यसल वंश के प्राप्त एक लेख में इस संघ को द्रविलसंघ कोण्डकुन्दान्वय कहा गया है[३४८] एंव कुछ अन्य लेखों में इसका द्रविड़गण के रुप में नन्दिसंघ इरुगंड्लान्वय या अरुगंड्लान्वय के साथ उल्लेख किया गया है[३४९]। इन लेखों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में इस द्रविड़ संघ ने अपना आधार मूल संघ या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा बाद में यापनीय संघ के नन्दिसंघ से अपना सम्बन्ध बढ़ाया और उसमें अन्तर्हित हो गया और उसके बाद यह अपने प्रभाव से पृथक् संघ के रुप में आ गया। लेखों से ज्ञात होता है कि इस संघ के साधु बसदि या जैन मन्दिरों में रहते थे। गुणसेन पंडित की गृहस्थ शिष्या द्वारा अपने गुरु की प्रतिमा बनवाने की जानकारी होती है[३५०]। होय्यसल वंश के लेखों से द्राविड़ संघ इरुगंलान्वय के गौतम से लेकर आचार्यो की परम्परा ज्ञात होती है[३५१]। इस संघ के आचार्यो द्वारा समाधिमरण करने की जानकारी होती है[३५२]। होय्यसल राजा नरसिंह द्वारा इस संघ के आदिनाथ एंव पार्श्वनाथ बसदि के लिए दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[३५३]। इस संघ के लेखों से ज्ञात होता है कि इस संघ के आचार्यो ने पद्मावती देवी की पूजा एंव प्रतिष्ठा के प्रसार में महत्वपूर्ण कार्य किये। शांतर एंव होय्यसल वंश के आदि राजाओं द्वारा पद्मावती देवी के प्रभाव से राज्य सत्ता पाने की ज़ानकारी होती है[३५४]। लेखों में इस संघ को द्रमिड, द्रविड़, द्रविण, द्रविड, द्राविड, दविल, दरविल नाम से उल्लिखित किया गया है। लेखों में प्राप्त समयोल्लेख से ज्ञात होता है कि इस संघ के सभी लेख १० वीं शताब्दी के या बाद के हैं।

४ माथुरसंघ

जैन लेखों से माथुर संघ में छत्रसेन नाम के आचार्य की जानकारी होती है जो धर्मोपदेश से श्रोताओं को लाभान्वित करते थे[३५५]। इस अन्वय के महामुनि गुणभद्र द्वारा लेख लिखने की जानकारी होती है जिससे साभर के चौहान राजाओं की वंशावली चाहमान से सोमेश्वर तक ज्ञात होती है[३५६]।

लेखों से ज्ञात होता है कि माथुरसंघ नाम स्थान के आधार पर पड़ा है। मथुरा प्राचीन काल से जैनधर्म का प्रमुख स्थान रहा है मथुरा नगर या प्रान्त का जो

मुनिसंघ है वह माथुर संघ है[३५७]। लेखों से ज्ञात होता है कि माथुर संघ बाद में काष्ठा संघ का एक गच्छ बन गया। इसी कारण काष्ठासंघ माथुरान्वय नाम से इसका उल्लेख पाते हैं[३५८]।

लाटवागट गण

कच्छपघात वंश के लेखों से लाटवागट गण के आचार्यो के नाम गुरु शिष्य परम्परा रुप में ज्ञात होते हैं। इस गण के विजयकीर्ति द्वारा ही यह लेख लिखा गया[३५९]। एक लेख में इस गण के महाचार्य देवसेन की पादुकाओं की स्थापना का उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि ये अपने गण के उन्नत आचार्य थे। यह लेख देवसेन की स्मृति को बनाये रखने के लिए लिखा गया। इसके साथ ही इस लेख में "काष्ठासंघ लाट बागट" ऐसा उल्लेख मिलता है । अतएंव लाट वागठ गण काष्ठासंघ की एक शाखा थी[३६०]। प्रद्मुम्न चरित काव्य के रचयिता आचार्य महासेन भी इसी शाखा के थे जो परमार राजा मुंज के समय वि०स० १०५० के लगभग हुए[३६१]।

५ गौड़संघ

इस संघ का उल्लेख केवल चालुक्य राजा वद्देग के १० वीं शताब्दी के लेख में प्राप्त होता है जिसमें इस संघ के आचार्य सोमदेवसूरि के लिए जिनालय बनवाने का वर्णन है[३६२]। सोमदेवसूरि के यशस्तिलक चम्पू एंव नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

जम्बूखण्डगण

सेन्द्रक वंश के अधिराज इन्द्रणन्द द्वारा इस गण के आचार्य आर्यनन्दि को अर्हत्प्रतिमापूजन एंव तपस्वियों की सेवा के लिए कुछ भूमि.दान देने की जानकारी होती है[३६३]।

सिंहवूरगण

राष्ट्रकूट राजा अमोधवर्ष के समय के एक लेख से इस गण के आचार्य नागनन्दि आचार्य को कुछ दान देने की जानकारी होती है[३६४]।

६ नबिलूर, नमिलूर व मयूर संघ

लेखों में नविलूर संघ का उल्लेख प्राप्त होता है[३६५]। कहीं कहीं पर इस संघ को नमिलूर संघ[३६६] एंव मयूर संघ[३६७] कहा गया है। यह संघ वलि व शाखा के समान स्थान विशेष क नाम से अभिहित है।

७ कोलित्तूर संघ

लेखों में कोलित्तूर संघ के एक आचार्य के समाधिमरण का उल्लेख है[३६८]। सम्भवतः से संघ देशीय गण की स्थानीय शाखायें ज्ञात होती हैं।

लेखों से प्राप्त विभिन्न संघों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रायः प्रत्येक संघ गण गच्छ, अन्वय आदि में विकसित होता है जिनमें अलग अलग गुरु शिष्य परम्पराऐं प्राप्त होती हैं इन गण, कुल, शाखा, सम्भागों का वर्णन ई०पू० से ही प्राप्त होता है। ये कल्पसूत्र में भी पाये जाते हैं। गणों का नाम उनके संस्थापक के नाम पर रखे गये बहुत से कुल, अन्वय, शाखाओं का नामकरण व्यक्तिगत एंव क्षेत्रीय आधारों पर हुआ। गच्छों का विकास शिष्य एंव प्रशिष्यों की परम्परा पर अधिक विकसित हुए। लेखों में सबसे अधिक वर्णन मूलसंघ से सम्बन्धित गणों एंव गच्छों का पाया जाता है।

संघों के आचार्यो के वर्णनों से स्पष्ट है कि इनमें व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्ट भेद नहीं था। सभी आचार्यमुनि जिनालय, मठ आदि बनवाते एंव विभिन्न राजवंशों एंव धार्मिक व्यक्तियों द्वारा खेत, घर, बगीचे, ग्राम एंव भूमि दान में दी जाती थी। प्रत्येक संघ अपने यंत्र–मंत्र एंव ज्योतिष आदि का आश्रय लेकर अपने प्रभाव को बढ़ाते थे।

संदर्भ ग्रन्थ

१. जै०सा०बृ० ई० भाग ६ पृ० ४६६
२. ए०इ० ४ पृ० २१०, २७ पृ० ६४
३. जै०शि०सं० भा० ३ ले०नं० ४३८
४. वही ले०नं० ३८६
५. वही भाग ४ ले०न० १०६, १०७, २६५
६. वही भाग २ ले०न० २०६
७. व०ध०सम० १/१२/४१
८. जै०शि०सं०, भाग २ ले०नं० २७७
६. वही ले०न० २२१, २२८ भाग०४ ले०नं० ८६
१०. वही भाग ३ ले०न० ३३३, ३७६
११. वही भाग ४ ले०न० ११६, भाग ३ ले०न० ३०५, ए०इ०२४ पृ २०२
१२. जै०शि०सं० भा० २ ले०न० १६८
१३. वही भाग ३ ले०नं० ३२०
१४. वही भा०२ ले०न० १४६, २०६

१५. ए०इ०१पृ० २२२, भा० १५ पृ० २०५, भा० ४ पृ० १५८, भा० २, पृ० १६०, भा० १६ पृ २७२
१६. जै०शि०सं०, भग ४ ले०नं० १५४
१७. वही ले०न० ११६
१८. वही भ०३ ले० न० ४३५, भ० ४ ले०न० १३०
१६. जै०शि०सं० भा० १ ले०न० १०६, भा०२, ले०न० २४६, ३०५, भा०३ ले०न० ३२०
२०. ए०इ० १४ पृ० १५६, इ०ए०भा०१५, पृ० ३०८
२१. प्रा०भा०अ०अ०पृ० ८०
२२. ए०इ० १६ पृ० २७५
२३. जै०शि०सं०भा०२, ले०न० १३७, २६७, भा०३, ले०न० ३०५, भा०४ ले०न० २७१
२४. जै०शि०सं० भा०३, ले०नं० ३१६, भा०२ ले०न० २१२
२५. ए०इ० १ पृ० १७५, भा० १६ पृ० ५७, भा० १८ पृ० ६७
२६. प०पु० ११/२०३, २०५
२७. जै०शि०सं०भा०१, ले०नं०३८ए, इ०भा०१ पृ० १३४
२८. पू०म०का०भा० पृ० १३४
२६. जै०शि०सं०भा०२ ले०नं० २५३
३०. ए०इ०भा० १८, पृ १०७, इ०ए० १८ पृ० १६, ए०इ०, भा०११०, इ०ए०४१ पृ १६
३१. ए०इ०६ पृ ३२६, इ०हि०कवा०२३ पृ ४'६, ए०इ०८ पृ २६५, भा० १३ पृ० २१७
३२. जै०शि०सं०भा०३ ले०न० ३३४
३३. वही ले०न० ३५६, भा०४, ले०नं० १६६
३४. वही भा०१ ले०न० ३२, भा० २ ले० नं० १६७
३५. वही भा० १ ले०नं० २२, ४४, भा० २ ले०न० २४८, २५०, भा०३ ले०न० ३१६
३६. जै०शि०सं० भा०४, ले०न० ८१, ए०इ० १८ पृ० ६६
३७. वही भा०२ ले०न० २०६, २१०, भा०४ ले०नं० १६६, भा०३ ले०नं० ४०१
३८. वही भाग १ ले०नं० ८,१३,१४,३८, भा०२ ले०नं० १४०, १७८, ३००, भाग०३ ले०न०४६१, ३५६, भा०४ ले०न० ७६, १४३, १४४, २७५, २७६
३६. ए०इ०४ पृ० १२६, इ०ए०१८ पृ० १२६
४०. जै०शि०सं०कृभाग १ ले०न० ५७
४१. जै०शि०सं०भा०१ ले०न० ६८, १४४ भा०२ ले०न० १८०, भाग ४ ले०न० १४३, १४४
४२. वही भा०३ ले०न० ३०५
४३. वही भा०२ ले०न० ५७

४४. ए०इ० १८ पृ० ६५, ए०इ०२ पृ० ४
४५. जै०शि०सं०भाग १ ले०नं० ५०, ५३ भा०२ ले०न० १५०, २०६, २६६, भा०३ ले०न० ३०८, ३४३, भा०४ ले०न० २६५
४६. जै०शि०सं० भाग २ ले०न० २१३, २१८, २५३, २६४
४७. भा०अ०अ०पृ० ८६
४८. ए०इ०२० पृ० ५८
४६. जै०शि०सं०भा०४, ले०न० १८२
५०. वही ले०न० १६६
५१. वही भा०२ ले०न० २०६.२१०, २६७, भा०३ ले०न० ३१६, ३७३, ३३३, भा०४ ले०न० १६६, २६२
५२. जै०शि० सं० भाग ३ ले०न० ३५६, ४०८
५३. वही भा०२ ले०न० २१०
५४. वही ले०न० २५३
५५. वही ले०न० २६३
५६. जै०शि०सं० भा०२ ले०न० २५३
५७. वही भा०१ ले०न० ६१
५८. वही भा०३ ले०न. ४३६, भा०१ ले०न० २७, २६, ४८, ५०, १२३, १३६, ६१, भा०२ ले० न० २५३, १५०, १६६, भा०३ ले०न० ३३६
५६. वही भा०१ ले० न० ४४, ५३, ५६, १२४, भा०२ ले०न० १६८, २१४, २६३, २४८, भा०३, ले०न० ४८६, भा०४ ले०न० ७६, १२४
६०. वही भा०३ ले०न० ३२६, ४०१
६१. वही भा०२ ले०न० १५०
६२. वही भा०१ ले०न० २७,२६,३५,४८,४६, ५३, १३६, २१४, भा०२ ले०न० २०७, २३०, भा०३ ले०न० ४२०, भा०४ ले०न० १०५
६३. जै०शि० सं० भा० ४ ले०न० १५४
६४. जै०शि० सं० भा० ४ ले० नं० १५२
६५. वही भा०२ ले०न० १६६, २४१
६६. ए०इ०भा०१ पृ० १६
६७. जै०शि०सं० भा०२ ले०न० १६१, २४६, भा०४ ले०न० १६६
६८. जै०शि०सं० भा०२ ले०नं० १६७, २१६, भा० ३ ले०न० ३३३
६६. वही भा०३ ले०नं० ३६४
७०. वही भा०२ ले०नं० २४६
७१. वही भा०३ ले०नं० ३३४

७२. वही भा०२ ले०नं० १३०

७३. वही ले०नं० १४६

७४. जै०शि०सं० भाग २ ले०न० २३७

७५. वही भा०३ ले०न० ३३४,३२०

७६. ए०इ०४ पृ०६०

७७. जै०शि० सं० भा०२ ल०न० २१०, १६०

७८. वही ले०न० २२७, २४१, २५०

७९. वही ले०न० २५०

८०. जै०शि०सं०भा० ३ ले०न० ३२०

८१. ए०इ०भा०१ सियौदोनी लेख

८२. भा०अ०अ०पृ० १६०

८३. जै०शि०सं० भा०२ ले०नं० २५०

८४. वही ले०न० २४१

८५. वही भा० ३ ले०न० ३७३

८६. वही ले०न० ३२०

८७. जै०शि०सं०भा०४ ले०न० ३६

८८. वही भा०४ ले०नं० ६३, २६७

८९. वही ले०नं० २२३, भा०३ ले०न० ३२४

९०. वही भाग २ ले०नं० २२८ भा०४ ले०न० १५४

९१. वही भा०२ ले०न० २१२, २१८, २६६, भा०३ ले०न० ३२६

९२. वही भा०२ ले०न० २४७, भा०३ ले०न० ३१५, भा०४ ले०न० १५३

९३. जै०शि०सं०भा०१ ले०न० २५, १३०, २२६, भा०२ ले०न० २२८

९४. वही भा०२ ले०न० १६७, भा०१ ले०न० ६१, ६२

९५. वही भा०४ ले०न० २३, १२७

९६. वही भा०२ ले०न० २६२, भा०३ ले०न०३५६, ४०८, ३४७, भा०४ ले०न० २२३

९७. वही भा०४ ले०न०८१

९८. वही भा०३ ले०न० ३४७

९९. वही ले०नं० २२८

१००. जै०शि०सं०भा०१ ले०न० ३८, ५७, १२४, १३०, १३८, भा०२ ले०नं० १२१, ७३, १२४, १३०, १३१, १४६

१०१. जै०शि०सं०भा३ ले०नं० ३१८, ३२०, ३३४ भाग०४ ले०न०१३०

१०२. वही भा०१ ले०न०२४, ४४, ४७, भा०२, ले०न० १४०, २१८, ३०२ भा०३ ले०न० ३३३, ३५६

१०३. वही भा०३, ले०नं० ३५६, भा०४ ले०नं० ३५६, भा०४ ले०नं० २७३
१०४. वही भा०३ ले०नं० ३६४
१०५. वही भा०४ ले०नं० २३६, २४०, २४१
१०६. वही भा०४ ले०नं० ५६, ६१, १२३, १३६
१०७. वही ले०नं० १३८, १६६, २६१, २६४
१०८. वही भा०१ ले०नं० १३०, भा०४ ले०नं० १७६, १८६, २५६
१०६. वही भाग १ ले०नं० २५०, ३२०, ३३४, भा०४ ले०नं० १६२, २२१, २२३, २५६
११०. वही भा०४ ले०नं० १६७
१११. वही ले०नं० १३७, २५८, भा०१ ले० १४६
११२. वही भा०१ ले०नं० १८६, भा०४ ले०नं० १६३
११३. जै०शि०सं०भाग २ ले०नं० २०४
११४. वही भा०१ ले०नं० ३८, ४६६ भा०२ ले०नं० १३०, भा०४ ले०नं०५५
११५. वही भा०२ ले०नं० १४२
११६. वही भा०१ ले०नं० ६० भा०२ ले०नं० १०८, ३०१
११७. वही भा०२ ले०नं० ११३५भा०४ ले०नं० १५४
११८. वही भा०२ ले०नं० २०४, २१८, २१४, १७४, २७७ भा०३ ले०नं० ३०७, ३०८
११६. वही भा०३ ले०नं० ४०८
१२०. जै०शि०सं०भा०३ ले०नं० ३३४ भा०४ ल०नं० २२१
१२१. वही भा०२ ले०नं० २१३, २१४, भा०३ ले०नं० ४३५, ३३६
१२२. वही भा०१ ले०नं० ५३, ८०, ८४४, भा०२ ले०नं० १८१, २०४, २१३, २४८, २६२
१२३. वही भा०४ ले०नं० १६६, भा०३ ले०नं० ३२१
१२४. ए०इ०१ पृ० २
१२५. वही पृ० २५
१२६. जै०शि०सं०भा०३ ले०नं० ३१७
१२७. वही ले०नं० ३३३, ४०८
१२८. प्रा०भा०शा प० पृ० १६५
१२६. जै०शि०सं०भा०२ ले०नं० २७२
१३०. वही भा०३ ले०नं० ३६, ४६
१३१. ए०इ० भा० ११ पृ० ४६
१३२. जै०शि०सं० भा०४, ले०नं० ४६, १५०, १५१
१३३. वही ले०नं० २१५
१३४. वही १३०
१३५. वही भा०२ ले०नं० २१३, २२८, २४८, २७७ भा०३ ले०नं० ३०५, ३२०

१३६. वही भा०२ ले०न० २१७
१३७. वही भा०३ ले०न० ४११
१३८. वही भा०२ ले०नं० २७७
१३६. जै०शि०सं० भा०२ ले०न० २७७
१४०. वही भा०४ ले०न० १६५
१४१. वही भा०४ ले०न० ८१
१४२. वही भा०२ ले०न० २२८, २६७ भा०४ ले०न० ८१
१४३. वही भा०२ ले०न० २५३
१४४. वही भा०३ ले०न० ४०८
१४५. वही भा०२ ले०नं० १४३
१४६. वही भा०४ ले०न० ५५
१४७. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० १४३, १४४, भा०३ ले०न० ३७६
१४८. वही भा०३ ले०न० ३७३
१४६. वही भा०२ ले०न० २६६, भ०१ ले०न० ५०, ५३, भा०३ ले०न० ३०८
१५०. वही भा०२ ले०न० २७७
१५१. वही भा०१ ले०नं० ४०, ४२, ४४, १०६, भा०३ ले०न० ३४७
१५२. वही भा०१ ले०नं० ४६१, भा०२ ले०न० २३०, २६४, २६६। भा०३ ले०न० ३०५
१५३. वही भा०२ ले०न० २७७
१५४. जै०शि०सं०भा०३ ले०न० ३४६, ३७६, भा०२ ले०न० २६४
१५५. वही भा०४ ले०नं० १३८
१५६. वही भा०३ ले०न० ४३१
१५७. वही भा०१ ले०न० ४६, ५८, भा०२ ले०न० १२२, भा०३ ले०न० ४११, ४३५
१५८. वही भा०३ ले०न० ३२७, ३३६, ३५२
१५६. वही भा०१ ले०न० ४४, ५६, ४५, ४७, ४८, ५१, ५२, ६३, ६०, ४४६, ४७१, ४७८, ४६० भा०२ ले० न० २८८, २६१, भा०३ ले०न० ३०५, ३४७
१६०. वही भा०३ ले०न० ३२४, ४३१
१६१. वही भा०१ ले०न० ६१, भा०३ ले०न० ४११, ३०५।
१६२. पू०म०का०भा० पृ०१०४
१६३. जै०शि०सं०भा० ३ ले०न० ४०८
१६४. वही ले०न० ३२२, भा०४ ले०न० १५३
१६५. वही भा०१ ले०न० १४४, भा०३ ले०न० ३०५
१६६. वही भा०३ ले०न० ३०५
१६७. वही भा०३ ले०न० ४०८

१६८. वही भा०२ ले०न० २६४
१६६. ए०इ०१६, पृ० २०, भा०१ पृ० २
१७०. जै०शि०सं०भा०४ ले०न० ६७
१७१. वही ६७
१७२. जै०शि०स०भा०२ ले०न० २७७, पू०म०का०भ०पु० १०५
१७३. वही भा०१ ले०न० ६०
१७४. वही भा०२ ले०न० २३०
१७५. वही भा०३ ले०न० १७४
१७६. वही भा०२ ले०न० ३४०
१७७. वही भा०२ ले०न० १२३, १३१, १३८, २१४, २५३, २८४, भा०१ ले०न० १३८, भा०४ ले०न० २५८, २६२, २८२
१७८. प्रा०भा०इ० द्वि०खं० पृ० ७८
१७६. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० १६७, भा०३ ले०न० ३४७, ३६४
१८०. वही भा०२ ले०न० २५३, २८८
१८१. वही ले०न० २४, २५३, भा०४ ले०न० ८१, भा०३ ले०न० ३७६
१८२. वही भा०२ ले०न० १०४
१८३. वही ले०न० १६७, २२२, २३६, भा०३ ले०न० ३१२, ३३८, भा०४ ले०न० २४८
१८४. वही भा०३ ले०न० ४११, ४२६
१८५ वही भा०४ ले०न० ६८, ६६
१८६. वही ले०न० ८१
१८७, वही भा०४ ले०न० १३६
१८८. प्रा०भा०इ०द्वि०,ख पृ० ४७
१८६ जै०शि०सं०भा०२ ले०न० १३१, १४६
१६०. वही भा०३ ले०न० ३६०
१६१. वही ले०न० ३६४
१६२. वही भा०४ ले०न० १५२, १६६, २५५, २६१, २६७, २६८
१६३. वही भा०३ ले०न० ३७६, ३६०
१६४. वही भा०२ ले०१
१६५. जै०शि०सं० भा०१ ले०न० १२५
१६६. वही ले०न० ११२, ११३
१६७. वही ले०न० ८५, १५६, १६३, भा०२ ले०न० २८, २३२
१६८. वही भा०२ ले०न० ८५, १६०, २६८, भा० २ ले०न० ११३
१६६. वही भा०१ ले०न० ११२, १६० भा०२ ले०न० २२८

२००. वही भा०२ ले०न० २१४, २००, १२४, भा०१ ले०न० ८,१३, १४
२०१. जै०शि० स०भा०२ ले०न० २४८, २७७
२०२. जै० शि० स०भा० २ ले० न० २६६
२०३. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० २३७
२०४. जै० शि०सं० भा० २ ले० न० २७७, ३०१
२०५. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० २८६, भा० ३ ले० न० ३८३, ३८४
२०६. जै० शि० सं० भा० ४ ले० न० ६३
२०७. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० २२८
२०८. जै० शि० सं० भा० १ ले० न० ३८, ५६, ४६, ४५, ६०, ५३, ५६, ६२, ६५, ६६, ६७, १४४, भा० ३ ले० न० १२२, १८२, २७७,
२०९. जै० शि० सं० भाग २ ले० न० २०४
२१०. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० १३०
२११. जै० शि० सं० भा० १ ले० न० १३७, भा० ३ ले० न० २६४, ३१८
२१२. जै० शि० सं० भा० ४ ले० ल० न० ६३
२१३. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० २६६
२१४. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० २६३
२१५. जै० मूर्तिकला एंव स्थापत्य, खण्ड २ पृ० ४५७
२१६. जै० शि० सं० भा० ३ ले० न० २७७, २०४
२१७. जै० शि० सं० भा० १ ले० न० ७५, भा० ४ ले० न० ६३
२१८. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० १६१, २११, २४७
२१९. जै० शि० सं० भा० ३ ले० न० ३०६, ३१८, ३३६, ३०५ भा० २ ले० न० १०८, २१० । भ० ४ ले० न० १८३, २८७
२२०. जै० शि० सं० भा०२ ले० नं० २५०
२२१. वही भा०१ ले० न० ७८, ३६१, भा०४ ले० न० ६३, २६०
२२२. वही भा० ४ ले०न० ६५, ३१४
२२३. वही भा०२ ले० न० ४३१
२२४. वही भा० १ ले० न० ११५, भा०४ ले० न० ६८—६६
२२५. वही भा० २ ले०न० १६७
२२६. जैन मूर्तिकला एंव स्थापत्य खण्ड १ अ०२ पृ १५ जै०शि०सं० २ ले०न०२४
२२७. जै०शि०सं० भा०४ ले०न० १६६
२२८. वही भा०१ ले०न० ७८, १३० भा०२ ले०न० २२, १३८, १६६, भा०४ ले०न० १६६, २१६
२२९. जै०शि०ले०सं०भा०१. ५१, ८८, ८६, ५६, ४५, ५६, ८०, ६०, १०७, १३०, भा०२

— १२३, २२२, २२७, २६४, २०६, २१०, २१३, २२६, २४८, २७४, २७७, १३१, १४३, १४४, १४६

भा०३, ले०न० ३१८, ३२७, ४०८, ४६१, ३६४, ३७६, ३७३, ३५६, ४०८

भा०४, ले०न० २६५, २८२, २२, २१, १८६, १६६, २५६, २६२, १६६

२३०. वही भ०ले०न० २८४, २२८, १४७, भा०४ ले०न० २४, ५५, १३६, १५३, १६८, २८६

२३१. वही भा०२ ले०न० १३८, १४०, १८१, १६३, २१८, २१६, २५१, २५३, २७४, २८४, २६२, ३०२, २६७

भा०३ ले०न० ३४७, ३५६, ३७३, ४०८, भा०४ले०न० २३, १२७, १६६, १७३, २४६, २५०, १५०, १५१

२३२. वही भा०१ ले०न० ६१ भा०२ ले०न० १४६

२३३. वही भा०२ ले०न० १२१, १२२, १२४, १३१

२३४. वही भा०२ ले०न० २१०

२३५. जै०शि०सं० भा०२ ले०न० २४८, २७७, २८८, २६२, ३०१, भा०३ ले०न० ३१४, ३१८, ३१६ — ३२४, ३५६, ३८५

२३६. वही भा०२ ले०न० २४८, भा०३ ले०न० ३३४, ३२०, भा०४ ले०न० २०४, २६३

२३७. वही भा०३, ले०न० ३२७, ४३१, भा०४ ले०न० ५६, ८३, १६५, १६१, २८२

२३८. वही भा०४ ले०नं० २१

२३६. वही भ०३ जै०न० ३७३, ४३१, भा०१ ले०न० १३७

२४०. मनुस्मृति के चार श्लोक प्रत्येक लेख के अन्त में दिये गये हैं।

२४१. जै०शि०सं०भ०२ ले०न० १३६, १५८, १६६ भा०४ ले०न० १०५, १७६, २८८

२४२. वही भा०१ ले०न० ३८, १५२, भा०२ ले०न० १४४, १३६, १७८, १८०, भा०३ ले०न० ४६१, भा०४ ले०न० २७५, २८१, ७६, १४३, २६८, ३०३, ३१५

२४३. वही भा० १ ले०न० ६८, १४४, भा०२ ले०न० १४३, १८०, भा०४ ले०न० १४४, १४३

२४४. जै०शि०सं०भा०१ देवकीर्ति प्रशस्ति ले०न० ३६, ४०, शुभचन्द्रप्रशस्ति ले०न० ४१, मेघचन्द्र प्रशस्ति ले०न० ४७, प्रभाचन्द्र प्रशस्ति ले०न०५० आदि

२४५. वही भा०२ ले०न० २०४

२४६. वही भा०३ ले०न० ३१२, ३३३

२४७. प्रज्ञा पृ० २

२४८. जै०शि०सं० भा०३ ले०न० ३१५

२४६. वही भ०३ ले०न० ३३२, ४३५

२५०. वही भा०३ ले०न० ३३२

२५१. इ०ए०जि०७ प०३४
२५२. वही जि०१८ पृ० २४८
२५३. जै०शि०सं०भा०३ ले०नं० ३३३, पू०म०का०भा०पृ० ३४२, प्रज्ञा पृ० ३
२५४. वही भा०३ ले०न० ४३५
२५५. वही भा०४ ले०न० २६५
२५६. वही इ०ए० जि० १७ पृ २७४
२५७. इ०ए०जि०४ पृ० १७६
२५८. आ०पु० २५/७६–२१७
२५९. वही १४/८०–८५
२६०. जै०शि०स० भा०३ ले० ३३२
२६१. पू०म०का०भा पृ० ३४३
२६२. जै०शि०सं०भा० २ ले०न० १६७
२६३. वही ले०न० २२२, २७७
२६४. वही भा०४ ले०न० १५४
२६५. जै०कश०सं०भा०२ ले०न० २६२, भा०४ ले०न० १६७
२६६. वही भा०२ ले०न० ३०१
२६७. वही भा०३ ले०न० ३४६
२६८. वही भा०२ ले०न० २७७
२६९. वही भा०१ ले०न० १०४, ११०, भा०२ ले०न० २४७
२७०. वही भा०३ ले०न० ४३१, भा०४ ले०न० १६८
२७१. वही भा०४ ले०न० ५१, ५३
२७२. जि० र०को०पृ० १०८, १०६
२७३. "हिस्ट्री औफ मौनिचिज्म" फ्रोम इन्शक्रपशन्स एन्ड लिटरेचर पु० ५१३
२७४. जै० शि०सं० भा०१ ले०न०१
२७५. जै० शि०सं० भा०२ ले०न० ६८
२७६. जै० शि०सं० भा०१ ले०न०१
२७७. जै० शि० सं० भा०२ ले०न० ६८, ६६
२७८. जै० शि०सं० भा०२ ले०न० ६०, ६१
२७९. जै० सा०इ०, द्वि०सं० पृ० ४८५
२८०. जै० शि० सं० भा० २ ले० न० ६०, ६४
२८१. जै० शि० सं० भा० ३ ले० नं० १११, इ० ए० ७ पृ० ११२
२८२. जै० शि० सं० भा० १ ले० न० १०५
२८३. जै० शि० सं० भा० १ ले० न० १०८

२८४. नीतिसार (इन्द्रनन्दिकृत) पद्य नं० ६–८
२८५. जै० शि० सं० भा० १ ले० नं० ५५
२८६. जै० शि० सं० भा०२ ले० नं० १११, ११३, ११४
२८७. जै० शि० सं० भा० २ ले० नं० १४६
२८८. जै० शि० सं० भा० २ ले० नं० १६३
२८६. जै० शि० सं० भा० ४ ले० नं० ५५
२६०. जै० शि०. सं० भा०२ ले० नं० १३७
२६१. जै० शि० सं० भा० २ ले० नं० १८६, २१७, भा०४ ले० नं० ६१, भा० ३ ले० नं० ३२१
२६२. जै० शि० सं० भा० ४ ले० नं० १३४। ५–जै०शि०सं०भा०४ले०नं० १३८,१६५
२६३. जै० प० १, अं० ३, पृ० ६३, ६६
२६४. जै० शि० सं० भा०२ ले० नं० १२७
२६५. जै० शि० सं० भा०२ ले०नं० १५०, भा० १ ले०नं० ५५, ५६, ४५, ४६२
२६६. जै० शि० सं० भा०२ ले० नं० ६५, १२७, १३१–१३७, १४४, १४६, १५०, १५८, २०४
२६७. जै०शि० सं०भा०४ ले०नं० १८०, २२२
२६८. जै०शि० सं०भा०२ ले० नं० १३२
२६६. जै० शि० सं०भा०२ ले०नं० १२२, १२३
३००. जै० शि०सं०भा०२ ले० नं० २२३
३०१. जै० शि० सं० भा०२ ले० नं० २२३, २३२, २३६, २४१, २५३, २६६, २८४, २८५
३०२. जै० शि० सं० भा०४ ले० नं० ७४
३०३. जै० शि० सं० भा० ४ ले० नं० २७२
३०४. जै० शि०सं०भा०४ ले०नं० २६०, ३६०, भा०३ ले०नं० ४११, ४६५
३०५. वही भा०३ ले०नं० ४११
३०६. वही भा०४ ले०नं० ६४
३०७. वही भा०४ ले०नं० २१७
३०८. वही भा०४ ले०नं० ३७२
३०६. वही ले०नं० १६३, २२६, २५६
३१०. वही ले०नं० १२६, १३६, १४०
३११. जै०शि०सं०भा०२ ले०नं० १८५, २३४, २६६, भा०३ ले०नं० ३१८
३१२. जै०सा०इ०ले०नं०४६ पृ० ३६७–७४
३१३. जै०शि०सं०भा०४ ले०नं० ८५, भा०२ ले०नं० २६७
३१४. वही ले०नं० ११७

३१५. वही भा०४ ले०न० १५३, जै०ए०भा० ११ अंक २ पृ० ६३, ६५
३१६. वही ले०न० १६०
३१७. जै०शि०सं०भा०४ ले०न० २३७, २३८
३१८. वही भा०४ ले०न० ६६, भा०२ ले०न० २०७, २६७, २७७
३१६. वही ले०न० २१२, भा०२ ले०न० २०६
३२०. वही ले०न० २६१
३२१. वही भा०३ ले०न० ३१३, ३७७, ३८६, ४०८, ४३१
३२२. वही ले०न० ३१३, ४०८
३२३. वही ले०न० ३७७
३२४. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० २६७
३२५. वही ले०न० २७७
३२६. वही भा०३ ले०न० २६६
३२७. वही भा०४ ले०न० २७७
३२८. वही भा०४ ले०न० २१४
३२६. वही भा०४ ले०न० २४०
३३०. वही ले०न० १५४, १५५, १५७, भा०२ ले०न० २२७
३३१. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० ६६, १००, १०५
३३२. वही भा०४ ले०न० २०
३३३. वही भा०४ ले०न० १४३, २६८, ३००
३३४. वही भा०४ ले०न० १२४
३३५. वही भा०२ ले०नं० १०६
३३६. वही ले०न० १२१
३३७. जै०शि०सं०भा० १ ले०न० ४२, ४३, ४७, ५० भा०१ ले०न० ४०
३३८. वही भा०४ ले०न० १३०, १६८
३३६. वही भा०२ ले०न० १२४, भा०४ ले०न० २५६
३४०. वही भा०४ ले०न० ७०, १३१
३४१. वही भा०२ ले०न० १६०, २०५
३४२. वही भा०४ ले०न० २०७
३४३. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० १३०
३४४. वही ले०न० १८२
३४५. वही भा०४ ले०न० २०६
३४६. वही जै०ए०भा०६ अंक २ पृ० ६८, ६६
३४७. जै०शि०सं०भा०३ भूमिका पृ० १५, १६

३४८. जै०शि०सं०भा०२ ले०न० १६६, १७८
३४९. वही ले०न० १८८, १९०, १९२, २०२, २१४–२१६, २२६, २४९
३५०. वही ले०न० १८९
३५१. वही भा० ४ ले०न० २८२, भा०२ ले०न० २७४, भा०३ ले०न० ३०५, ३१९, ३२६, ४०८।
३५२. वहीं ले० न० १७५
३५३. वही ले०न० २२६, २५२
३५४. वही ले०न० २१३, २१६
३५५. जै०शि०सं० भा०३ ले०न० ३०५
३५६. वही भा०४ ले० न० २६५
३५७. जैन सिद्धन्त भास्कर भा० २ कि०न० ४ पु० २८, २९
३५८. जै०शि०सां०भा० ३ ले०न० ३०५
३५९. वही भा०२ ले०न० २२८
३६०. जै०शि०सां०भा० ३ ले०न० ३०५
३६१. वही भा०३ भूमिका पृ० ६९
३६२. वही भा०४ ले०न० ८४
३६३. वही भा०४ ले०न० २२
३६४. वही भा०४ ले०न० ५६
३६५. जै०शि०सं०भा०। ले०न० २८, ३१, २११, २१२, २१४, २१८
३६६. वहीं ले०न० २७, २०७, २१५।
३६७. वही ले०न० २७, २९
३६८. वही ले०न० ३१, ३३।

अध्याय – ८

जैन ऐतिहासिक तथ्यों पर हिन्दू प्रभाव

जैन मान्यताओं एंव प्राचीन साहित्य के अनुसार भोगभूमि के पश्चात् कर्ममूलक जगत का उदय हुआ। कर्मभूमि की प्रतिष्ठा का श्रेय प्रथम तीर्थकंर ऋषभदेव को ही दिया गया है। इन्होंने धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एंव राजनैतिक व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया। वैदिक साहित्य में ऋषभदेव को एक महान तपस्वी एंव आराध्य के रुप में वर्णित किया गया है[1]। ऋषभदेव के पश्चात् अन्य तीर्थकंरों ने जैन परम्परा की विभिन्न धाराओं को आगे बढ़ाया। पार्श्वनाथ ने अपनी साधना एंव तपश्चर्या के बल पर इस बात को जनमानस में पहुँचाया कि अहिंसा ही धर्म की आत्मा है। समन्वय की भावना ही संस्कृति का बल एंव जीवन है। महावीर ने अहिंसा स्याद्वाद, कर्मवाद एंव साम्यवाद को मानव जीवन के सुख एंव शान्ति का माध्यम माना। महावीर के पश्चात् जैन साहित्यकारों एंव आचार्यो ने पूर्व की परम्परा का संरक्षण एंव संवर्द्धन किया।

जैन संस्कृति के विकास में हिन्दू संस्कृति का पर्याप्त योगदान रहा। हिन्दू संस्कृति के अनुरुप ही जैन संस्कृति ने मानव के आन्तरिक जीवन को शुद्ध करने एंव बाह्य साधनों द्वारा आन्तरिक शुद्धता की ओर ले जाने में सहायक आचार एवं विचारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। जैनधर्म ने अपनी विचार एंव जीवन सम्बन्धी व्यवस्थाओं में संकुचित दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं इतिहास को स्थायी एवं व्यापक रुप देने के लिए उदारवादी एंव समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाया।

इसी तरह जैनाचार्यो ने लोकभावनाओं के सम्बन्ध में उदारवादी दृष्टिकोण को स्थान दिया। वैदिक परम्परा में संस्कृत साहित्य को अत्यन्त आदर का स्थान दिया गया है। उसे ही देवी वाक् मानकर हिन्दू आचार्यो एंव इतिहास लेखकों ने सदैव उसी में साहित्य सृजन किया। जैनाचार्यो ने भी अपना साहित्य अधिकांशतः संस्कृत भाषा में लिखा जिससे वैदिक भाषा संस्कृत का उत्तरोत्तर विकास हुआ लेकिन जैनाचार्यो ने समय एवं क्षेत्रीय आधार पर धर्म उपदेश के लिए लोकभाषाओं का उपयोग किया।

छठी शताब्दी ई०वी० के उत्तरयुगीन जैन साहित्य से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि जैन इतिहास लेखकों ने धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिसमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एंव धार्मिक जीवन के विविध पक्षों का

प्रतिविम्बन हुआ है। इस समय तक वैदिक परम्परा में हिन्दू पुराणों एंव महाकाव्यों का निर्माण हो चुका था। इन्हीं आदर्शो पर जैन साहित्यकारों ने अनेक पुराणों एवं चरितकाव्यों की रचना की। तीर्थकंर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, प्रभृति महापुरुषों के चरित को काव्य रुप में निबद्ध करने की परम्परा ईसवी सन् की सॉतवी शताब्दी से प्रारम्भ होती है। रविषेण एंव जटासिंह नन्दी ने रामायण की शैली पर अपने चरित एंव पुराण नामक साहित्य का सृजन किया।

पुराण

पुष्पदन्त के महापुराण में अइहास एक पुरुषाश्रिता कथा, पुराण त्रिशष्टि पुरुषाश्रिता कथा : पुराणानि का उल्लेख है[२]। अतएव हिन्दू पुराण की भॉति जैन पुराणों का सम्बन्ध त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित से माना गया है। आदिपुराण में भी कहा गया है कि यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है[३]।

पुराणों के लक्षण

हिन्दू पुराणों की भॉति जैनपुराणों में उनके लक्षणों का उल्लेख नहीं पाया जाता लेकिन पुराणों के अध्ययन से उनके लक्षणों की जानकारी होती है। हिन्दू पुराणों के "सर्ग" एंव "प्रतिसर्ग प्रथम दो लक्षण जैनाचार्यो द्वारा वर्णित अवसर्पिणी एंव उत्सर्पिणी युग की अवधारणा में पाये जाते हैं। हिन्दू पुराणों के सर्ग, प्रतिसर्ग, में इस जगत की उत्पत्ति एंव प्रलय का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इसी तरह आदि पुराण में वर्णित अवसर्पिणी एंव उत्सर्पिणी युग के क्रमशः मनुष्यों के बल, आयु एंव शरीर के बढ़ने एंव कम होने की जानकारी होती है। इन युगों के छह छह भेद कालचक्र के परिभ्रमण से कृष्ण एंव शुक्ल पक्ष की तरह घूमते रहते हैं[४]।

वंश शब्द वंश परम्परा को स्पष्ट करता है। पूर्वमध्यकालीन जैनआचार्यो ने भी अपने धर्म प्रचार का माध्यम पूर्वकाल से चली आती हुई वंश परम्परा को बनाया है[५]। हरिवंशपुराण में विभिन्न वंशों का विस्तृत वर्णन किया गया है[६]।

जैन पुराणों में १४ कुलकरों (मनुओं) की गणना की गयी है[७]। इन्होंने भोगभूमि के नष्ट होने के पश्चात् विभिन्न प्रकार के कार्यो में व्यक्तियों को प्रवृत्त कराया। जैन पुराणों में १४ मनुओं का विस्तृत वर्णन न करके अन्तिम कुलकर इक्ष्वाकु ऋषभ के पिता नाभि का विस्तृत वर्णन दिया है[८]।

जैन पुराणों में वर्णित इन मनुओं अथवा कुलकरों के वर्णन में वैदिक साहित्य से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। आगमिक साहित्य में किसी भी प्रकार के विभिन्न युगीन मनुओं की अवधारणा का उल्लेख नहीं है। पौराणिक साहित्य में प्राप्त मनुओं की यह अवधारणा महाभारत में भी प्राप्त होती है[९]।

जैन पुराणों में हिन्दू पुराणों की[१०] ही भाँति राजाओं के वंश वर्णन को वंशानुचरित कहा जा सकता है। आदिपुराण में विभिन्न राजाओं की वंशावलियाँ प्राप्त होती हैं। जैन पुराणों के आख्यानों को भी उनका लक्षण कहा जा सकता है। जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति एंव फल का वर्णन प्राप्त होता है[११]।

अवसर्पिणी एंव उत्सर्पिणी युग

जैनपुराणों में वर्णित अवसर्पिणी एंव उत्सर्पिणी युग का वर्णन महाभारत एंव अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित उत्तरकुरु की व्यवस्था पर आधारित है[१२]। अवसर्पिणी युग की सामाजिक स्थिति का वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। मनुष्य भोगभूमि व्यवस्था में रहते थे[१३]। पुराणों में वर्णित इसके छह भेदों से स्पष्ट है कि धीरे धीरे ये व्यवस्था क्षय होती जा रही थी एंव अवसर्पिणी युग अपहरण एंव दोष युक्त वातावरण में बदल गया। जैनों की ये युगीन व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों में नैतिक एंव आध्यात्मिक मूल्यों के ह्रासकाल क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर एंव कलियुग से मिलती है[१४]। जैन पुराणों में वर्णित ऋषभ द्वारा कर्मभूमि व्यवस्था में असि, मसि कृषि वाणिज्य एंव शिल्प की शिक्षा देने का वर्णन प्राप्त होता है[१५]। वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों से भी ब्रह्मा के पास व्यक्तियों के जाने एंव प्रजा के लिए उनके द्वारा भूमि को धनधान्य से पूर्ण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१६]।

रामायण एंव महाभारत के पात्रों पर साहित्य सृजन

जैन इतिहास लेखकों ने अपने धर्म को व्यापक एंव स्थायी रुप देने के लिए एवं हिन्दू पुराणों में वर्णित पात्रों को उन्नत एंव उदात्त रुप देने के लिए जैनीकरण की प्रक्रिया अपनायी। रामायण को आधार बनाकर सर्वप्रथमं विमलसूरि ने प्राकृत ग्रन्थ "पउमचरिय" की रचना की। उसके पश्चात् स्वयम्भू ने अपभ्रंश में एवं रविषेण ने संस्कृत में पदमपुराण की रचना की। रामायण में प्राप्त होने वाले पात्र–दशरथ, राम, सीता, हनुमान, लक्ष्मण, रावण, त्रिजटा, मन्दोदरी, कुम्भकर्ण मेघवाहन एंव विभीषण आदि का ज्यों की त्यों उल्लेख स्वयम्भू ने किया है। रावण का बहुरुपिणी विद्या सिद्ध करने हेतु शान्ति जिनालय में ध्यान मग्न होने पर अंगद, नील, एवं स्कन्द द्वारा उसका ध्यान भंग करने के लिए लंका में उपद्रव करने का वर्णन प्राप्त होता है। इसी तरह वानर वंश में हनुमान के पिता पवनदेव की उत्पत्ति विवाह एवं वीरता का उल्लेख किया गया है[१७]।

जैन पद्मपुराण में रामायण में वर्णित राक्षस एंव वानर वंश को विद्याधर वंश से, एंव कैकेयी, अंजना, सीता एंव मन्दोदरी आदिनारी पात्रों के चरित्र को

सहानुभूति पूर्वक चित्रित करके उन्हें दया, ममता एंव वात्सल्य का स्त्रोत सिद्ध किया है। रामचरित को ऊँचा उठाने हेतु उनके हाथ से भरत के सिर पर राजपट्ट बंधवाते हैं। दशरथ जिनभक्त बतलाये गये हैं। रामायण की तरह ही जैन पद्मपुराण में चार वंशों की उत्पत्ति का वर्णन दिया गया है।

रामायण के समान ही महाभारत सम्बन्धी कथाओं को जैनपुराणकारों द्वारा अपनाया गया। ये रचनाऐं "हरिवंशपुराण या पाण्डव पुराण" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पुराणों में २२ वें तीर्थकंर नेमिनाथ, वासुदेवकृष्ण, बलदेव, जरासिन्धु तथा कौरव एवं पाण्डवों का वर्णन है। स्वयम्भू ने अप्रभ्रंश में "हरिवंश" अपरनाम "रिट्ठनेमिचरिउ" एंव धवल ने "हरिवंशपुराण" लिखा। कथा का आधार हरिवंशपुराण है। जिनसेन ने संस्कृत में "हरिवंशपुराण" लिखा। हिन्दू धर्म के कृष्ण का वर्णन जैनों द्वारा अत्यधिक किया गया। कवि गुणवर्मन् ने कन्नड़ भाषा में "हरिवंश" नामक रचना की इसमें हरिवंश एंव कुरुवंश की कथा वर्णित है जिसमें कृष्णचरित का वर्णन किया गया है। पम्प ने "पम्पभारत" में कृष्ण को लौकिक महापुरुष के रुप में चित्रित किया है। कविकर्णमार्य ने अपने अपने "नेमिनाथ पुराण" में कृष्ण चरित का बहुत सजीव वर्णन किया है नेमिचन्द्रकृत "नेमिनाथ पुराण" में भी कृष्णचरित प्राप्त होता है। होय्यसल नरेश वीर वल्लाल देव के दरबारी कवि ने "जगन्नाथ विजय" नामक नाटक में कृष्णचरित कृष्ण जन्म से शाल्ववध करके द्वारिकागमन तक की कथा तक वर्णित किया है। इसमें कृष्ण लोकरक्षक के रुप में आये हैं।

रामायण एंव महाभारत की तरह अन्य ख्यातिप्राप्त काव्यकृतियों से प्रेरणा प्राप्त कर उसी अनुकरण पर या शैली पर काव्य रचनाऐं की। बाण की कादम्बरी पर धनपाल ने "तिलकमंजरी" एंव ओडयदेव वादीभसिंह ने "गद्यचिम्तामणि", एवं "किरातार्जुनीय" एंव "शिशुपालवध" की शैली पर हरिचन्द्र ने "धर्माशर्माभ्युदय" एवं मुनिभद्रसूरि ने "शान्तिनाथ चरित" की रचना की। जिनसेन ने अपने "पार्श्वाभ्युदय" की रचना कालिदास के मेघदूत ग्रन्थ की समस्याओं को लेकर की।

जैनमूर्तिकला पर हिन्दू प्रभाव

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी होने के कारण आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है। समन्वयवाद की विशेषता जैनधर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने में सफल सिद्ध हुयी। जैनधर्म की विशेषता है कि सांसारिक जीवन एंव जन्मजन्मान्तरों से मुक्ति पाने के साधनों को धार्मिक उपाख्यानों के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाते रहना। धार्मिक भावनाओं को मूर्त्त रुप देने के लिए जैन मूर्तियों एवं मन्दिरों का निर्माण किया गया। शनैःशनैः ये तीर्थकंर ही उपास्यदेव के रुप में सामने आये। मूर्तियों के साथ ही उपासना के प्रतीकों का भी प्रादुर्भाव हुआ। चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, त्रिरत्न, स्तूप एवं

अष्टमांगलिक चिन्ह–पूर्णघट, श्री वत्स, संपुट, पुष्पपात्र, पुष्पपडलग, स्वस्तिक, मत्स्ययुग्म, भद्रासन एंव धर्मचक्र पूजा के प्रतीक थे। जैनधर्म की मान्य ये प्रतीक पूजा हिन्दू धर्म में मान्य प्रतीक पूजा से प्रभावित है जिसमें विभिन्न प्रतीकों – (यथा–कमल को लक्ष्मी, सिंह को दुर्गा, श्रीवत्स को विष्णु इत्यादि) को विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित किया गया है और उस प्रतीक में उसी देवता का ध्यानकर पूजा की जाती है।

सर्वप्रथम कुषाण कालीन मथुरा कला ने तीर्थकंर मूर्ति को जन्म दिया। इसी समय बौद्ध धर्म में बुद्ध की एंव हिन्दू धर्म में विष्णु, दुर्गा, शिव, सूर्य, कुबेर आदि ब्राह्मण धर्म की उपास्यमूर्तियाँ बहुतायत से बनने लगी। इन जैन मूर्तियों पर गान्धार कला का पूर्णरुपेण प्रभाव दृष्टिगत होता है। हिन्दू मूर्तियों की भाँति ही ये मूर्तियाँ आध्यात्मिक है एंव बाह्य संसार के प्रति उदासीनता का भाव अभिव्यक्त करती हैं[१८]। जैन कला वैष्णव धर्म से अनुप्राणित शुंगकालीन कला की भाँति ही मानव जीवन के सभी पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। एक ओर वीतराग उपदेश देते हुए उपाध्याय परमेष्ठी को देखते हैं तो दूसरी और परस्त्री लम्पट को पिटते हुए। पशु पक्षियों, लाक्षावृक्षों एंव प्रतीकों का अंकन भी हिन्दू धर्म का प्रभाव है[१९]।

तीर्थकंरों की मूर्तियों में विशेषकर आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर एंव शान्तिनाथ की प्रतिमाऐं उपलब्ध होती हैं। ये मूर्तियाँ पद्मासन एंव कायोत्सर्ग मुद्रा में प्राप्त हैं[२०]। इनके मस्तक मुण्डित या छोटे घुंघराले बालों से युक्त है। कान कन्धे तक लटकने वाले नहीं, महापुरुष के बोधक चिन्हों में हथेलियों पर धर्मचक्र एवं पैरों के तलुवों पर त्रिरल एंव धर्मचक्र दोनों बने रहते हैं। कुछ प्रतिमाओं में हाथ की ऊँगलियों के पौर पर भी श्री वत्सादि मंगलचिन्ह बने हैं जो बौद्ध एंव हिन्दू धर्म के प्रभाव स्वरुप है[२१]।

आदिनाथ के कंधों पर लहराती बालों की लटों एंव पार्श्वनाथ तीर्थकर की मूर्तियों में सर्प फणावलि का अंकन शिव के साथ नागों की फणावलि एंव विष्णु की शेषशैय्या का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये फणावलि पृष्ठभाग में तकिया के रुप में दिखलायी गयी है[२२]। देवगढ़ से दो ऐसी पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ मिली हैं जिनके आसन के रुप में सर्प की कुण्डली भी दिखायी गयी है। इसे शेषशायी विष्णु का अनुकरण माना गया है।

शेषशायी विष्णु के अनुकरण में तीर्थकंरों की माता को एक आकर्षक मुद्रा में लेटे हुए दिखलाया गया हे जिसकी सेवा में विभिन्न देवियाँ संलग्न हैं। माता के गौरव एंव स्नेह के प्रतीक २४ तीर्थकंरों का भी अंकन इसमें प्रदर्शित है[२३]। शिव की जटाऐं लम्बी होने के साथ ही जुडेनुमा आकार में बंधी होती है लेकिन तीर्थकंरों की जटाऐं इतनी लम्बी एंव विस्तृत दिखलायी गयी हैं कि वे जुड़ेनुमा आकार में बंधी होने पर भी कन्धों एंव पीठ पर फैली रहती है कभी कभी ये पिण्डलियों तक लम्बी

दिखायी गयी है जो जैन मूर्ति की अपनी विशेषता है[२४]।

आसनस्थ तीर्थंकर जो सिंहासनों पर बैठाये दिखलाये गये हैं। वे चक्रवर्तित्व का बोधक होते हुए भी हिन्दूधर्म में मान्य पूजा पद्धति से प्रभावित हैं। कुछ मूर्तियॉ जो वस्त्रयुक्त अथवा हाथ से वस्त्र पकड़े हैं पर हिन्दू मूर्तियों का प्रभाव है। जैन मूर्तियॉ भी हिन्दू मूर्तियों की भॉति विशेष चिन्हों से जानी जाती थी[२५]।

ब्राह्मण धर्म में विष्णु एंव अन्य देवी देवताओं की मूर्तियों के पृष्ठ भाग में ज्योतिपुन्ज का निर्माण किया जाता था। जब जैन धर्म में तीर्थकंर प्रतिमाऐं बनने लगी तब अपने उपास्य देव को प्रभावयुक्त, कान्तियुक्त एंव जनसामान्य को आकर्षित करने के लिए ज्योतिपुज्ज को प्रभामंडल के रुप में चित्रित किया गया। इसके साथ ही तीर्थकंर के जन्म के समय तीर्थकंर की माताओं को जो १६ स्वप्न दिखायी देते उसमें श्वेत हस्ति भी था उसे प्रदर्शित करने के लिए प्रभामंडल हस्तिनख से अलंकृत किये गये।

जैन प्रतिमाओं में चौकी पर नव ग्रहों की आकृतियॉ भी दृष्टिगोचर होती हैं जो हिन्दूमत के नवग्रहों का अनुकरण था।

यक्ष यक्षिणियॉ एंव गन्धर्व मूर्तियॉ

बाह्मणधर्म में मान्यता है कि उपास्य देवों की मूर्तियों के साथ में उनकी शक्ति अर्थात् सम्बन्धित देवियों की मूर्तियॉ भी स्थापित की जाती थीं। इसके साथ ही विशेष देवों की विशेष प्रयोजनों से पूजा की जाती थी। इसी के परिणाम स्वरुप जैन तीर्थकंर की मूर्ति के पास यक्ष यक्षिणियों एंव गन्धवों की मूर्तियों का अंकन प्राप्त होता है[२६]। जैनमतानुसार इंद्र ने प्रत्येक तीर्थकंर की सेवा हेतु यक्षिणियों को नियुक्त किया है[२७]। ये गन्धर्व तथा विद्याधर की श्रेणियों में रखे गये हैं। ये बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत की गयी हैं। इन यक्षिणियों में मुख्यतः चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका आदि एंव यक्षों में अनुषंगी, धरनेन्द्र आदि हैं। इनसे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में देवी की पूजा विशेष रुप से लोक प्रचलित थी।

हिन्दू देवी देवताओं का जैन देवता समूह में समावेश

जैन धर्मानुयायियों के मतानुसार धार्मिक पुरुषों की प्रतिमाऐं मनुष्यों को सत्कार्य की ओर प्रेरित करती हैं। अतएव उनके द्वारा अपने धर्म से ही सम्बन्धित नहीं अपितु हिन्दूधर्म से सम्बन्धित अन्य मूर्तियों का उल्लेख अपने साहित्य में किया गया है। इसके साथ ही उन मूर्तियों को ऐसे स्थान पर रखा गया जिस स्थान से महापुरुषों का सम्बन्ध हो इसी कारण जैनों द्वारा तीर्थकंर प्रतिमा के अतिररिक्त ब्राह्मण मूर्तियों – श्री गणेश, अम्बिका, बलराम, वासुदेव एंव तान्त्रिक देवों एंव देवियों

का समावेश जैन देवता समूह में किया गया। जैन पुराणों में हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित देवी देवताओं का उल्लेख किया गया हे। इनमें प्रमुख रुप से ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, शिव, चन्द्र, काम, रति, अप्सरा, नारद, बृहस्पति, अश्विनी, आदित्य, गणेश, किन्नर, राहु आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

ब्रह्मा

'ब्रह्मा को उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त में जगत का नियामक माना गया है। ब्रह्मा द्वारा आठ दिशाओं में इच्छानुसार लोकपाल नियुक्त करने की जानकारी मिलती है[२८]। जैन पुराणों द्वारा ऋषभ के पिता नाभि को सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माता रुंप कर्त्ता[२९], विधाता[३०], लोक पितामह[३१], अजा[३२], अजन्मा[३३], अयोनिज[३४], स्वयम्भू[३५], एंव आत्मभू[३६] कहा गया है।

विष्णु

जैन इतिहास लेखकों ने ९ वासुदेवों के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के "विष्णु" को भी अपने साहित्य में स्थान दिया है। जैन पुराणों में विष्णु के "नृसिंह"[३७] एवं "वामन"[३८] अवतार का उल्लेख किया गया है। विष्णु देवी लक्ष्मी के पति रुप में अनेक नामों से कहे गये हैं। राम एंव रमापति शब्द का प्रयोग जैन पुराण कारों ने एक साथ किया हैं एंव उनके आर्शीवाद प्राप्ति के लिए इच्छा व्यक्त की है[३९]।

हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में विष्णु के सहस्त्र नाम पाये जाते हैं। जैनाचायों ने विष्णु के सहस्त्र नामों का प्रयोग निज के लिए किया है[४०]।

लक्ष्मी

ब्राह्मण हिन्दू पुराणों की भॉति ही लक्ष्मी को समुद्र की पुत्री बतलाया गया है[४१]। जैन पुराणों में लक्ष्मी के श्री, पद्म[४२], कमला[४३], आदि नाम प्राप्त होते हैं। गुणभद्र ने लक्ष्मी को चन्द्रमा की बहिन बतलाया है[४४]। सौन्दर्य एंव सम्पत्ति की प्रतीक लक्ष्मी के कमलासन के परम्परात्मक विश्वासों को जैन पुराणकारों द्वारा स्वीकृत किया गया है[४५]। तीर्थकंरों की माता के पुत्र जन्म पर हीं, श्री कीर्ति के साथ लक्ष्मी के आने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[४६]। वैदिक पुराणों में लक्ष्मी एंव इन देवियों का वर्णन उमा एंव सरस्वती के साथ किया गया है[४७]। धृति एंव बुद्धि को धर्म की आठ पत्नियों में स्थान दिया गया है[४८]।

शिवा

महाभारत में प्राप्त ग्यारह रुदों के वर्णन को जैन पुराणकारों द्वारा अपनाया

गया[५१]। लेकिन जैन पुराणों में इनके नाम में कुछ भिन्नता पायी जाती है[५०]। जैनपुराणों में ये ईश्वर रुप में स्वीकार नहीं किये गये हैं। महावीर के जीवन वर्णन में गुणभद्र ने इनके "स्थ्णु" नाम एंव रुप का वर्णन किया है[१]। शिव के इस प्रसिद्ध नाम का उल्लेख महाभारत में किया गया है[५२]। त्रि० श० पु० चरित में कहीं शिव को नृत्य करते हुए तो कहीं गंगा एंव उमा के साथ अपने गण समूहों के साथ नृत्य करते हुए दिखाये गये हैं[५३]। भरत एंव बाहुबलि के बीच होने वाले युद्ध को इन्द्र एंव शिव द्वारा देखे जाने के उल्लेख मिलते हैं[५४]।

गणेश

ब्राह्मण देवता गणेश को अपनाया गया । जैन पुराणों में इसे मंगलकारक देवता माना गया है[५५]। प्रस्तर एंव कास्य प्रतिमाऐं प्राप्त होती है। गणेश की मूर्ति को प्रायः अम्बिका के साथ स्थान दिया गया है जिसमें हिन्दू परम्परा के अनुसार उनके बाऐं हाथ में लड्डू हैं जिसे सूँड़ स्पर्श कर रही है।

अम्बिका

शिव की शक्ति अम्बिका को जैनाचार्यो द्वारा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अम्बिका को तीर्थकंर नेमिनाथ की यक्षिणी माना गया है। इसकी सबसे प्राचीन व विख्यात मूर्ति का उल्लेख समन्तभद्र ने खाचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है[५६]। जिन सेन ने भी अपने हरिवंश पुराण में इस देवी का स्मरण किया है[५७]।

सरस्वती

जैनाचार्यो द्वारा सरस्वती की अत्यन्त प्राचीनकाल से पूजा की जाती रही है। जैन मन्दिरों में सरस्वती की मूर्ति स्थापित की जाती थी। हिन्दू मान्यता के अनुसार ही ये हंसवाहिनी पायी जाती हैं जिसके हाथ में पुस्तक अवश्य रहती है। जैन ग्रन्थों में इस देवी के लक्षण भिन्न भिन्न पाये गये हैं[५८]।

कृष्ण बलराम

जैन पुराणों में कृष्ण एंव बलराम को ऑठवें एंव नवें वासुदेव माना गया है। तीर्थकंर नेमिनाथ के पार्श्ववर्ती देवताओं के रुप में किये गये इनके अंकन में कृष्ण चतुर्भुज एंव बलराम हाथ में मदिरा का प्याला लिए हुए हैं साथ ही इनके मस्तक पर नागफण है। कृष्ण को हिन्दू परम्परा के अनुसार ही शंख, चक्रादि से युक्त चित्रित किया गया है।

रेवती या षष्ठी

जैन पुराणों में इनका सम्बन्ध शिशुजगत से मान्य किया गया है। मूर्तियों में गोदी में एक पालना एंव उसमें शिशु को दिखाया गया है जिसकी मुखाकृति बकरे के समान है[५९]।

लोकपाल

इन देवी देवताओं के अतिरिक्त जैन पुराणों में वैदिक पुराणो के लोकपालों को भी अपने साहित्य में स्थान दिया गया है। कुछ इतिहास लेखकों ने चार लोकपालों एंव कुछ लेखकों ने परवर्ती पौराणिक परम्परा के आधार पर आठ लोकपालों का उल्लेख किया है[६०]। हिन्दू धर्म में भी रामायण[६१] एंव महाभारत[६२] में लोकपालों की संख्या चार दी गयी है। महाभारत मे एक स्थान पर इन्द्र एंव अग्नि को लोकपालों के समूह से बाहर माना है[६३]। गुणभद्र ने पौराणिक परम्परा के आधार पर आठ लोकपालों का उल्लेख किया है[६४]। हिन्दू पुराणों में वर्णित इन देवताओं के वाहनों का भी उल्लेख जैनपुराणकारों द्वारा किया गया है। इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथी[६५] एंव शंकर के बैल[६६] का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके कारण उन्हें ईशान एंव बैल की सवारी करने वाला कहा गया है[६७]।

चन्द्र

ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति ही जैन पुराणों में चन्द्र की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से मानी गयी है[६८]। महाभारत से दक्ष की २७ कन्याऐं चन्द्रमा को देने के उल्लेख प्राप्त होते है[६९]। चन्द्र को दक्ष की पुत्रियों का पति[७०] एंव दाक्षायणी पति कहा गया है[७१]।

अप्सरा एंव गन्धर्व

रामायण[७२] एंव महाभारत[७३] में प्राप्त काम एंव रति[७४], उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा, अलम्बुसा, मेनका, आदि सभी प्रमुख अप्सराओं[७५] को जैन इतिहास लेखकों द्वारा अपने साहित्य में स्थान दिया गया। इनको जैन इतिहासज्ञों ने हिन्दू पौराणिक ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान दिया है वे जिनभक्त थीं एवं जैनदीक्षा धारण करती थी[७६]।

हिन्दू पौराणिक साहित्य में उल्लिखित विश्ववसु, तुम्बुरु एंव नारद, दहा, हुहा आदि प्रसिद्ध गन्धर्वो को जैन लेखकों द्वारा तीर्थकरों के निर्वाणोंत्सव पर नृत्य करते हुए दिखाया गया है[७७]। त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित में प्रथम तीर्थकंर के विवाहोत्सव पर उपस्थित रम्भा, उर्वशी, धृताक, मंजूघोष, सुगन्धा, तिलोत्तमा, मेनका,

सुकेशी, सहाजनया, चित्रलेखा, मारीचि सुमुखी, गान्धर्वी एंव दिव्या आदि स्वर्ग की अप्सराओं द्वारा नृत्य करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

इसी तरह ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित नारद, वृहस्पति, आदित्य, अश्विनी, जयन्त, गणेश, किन्नर एंव राहू को जैनाचार्यो ने अपने पुराण ग्रन्थों में स्थान दिया एंव उनकी उत्पत्ति विषयक विचार ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अनुरुप दिये हैं।

धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों पर प्रभाव

हिन्दू पुराणोंकारों का मूल उद्देश्य मानवीय नैतिक मूल्यों एंव आदर्शों को चित्रित करना था। वैदिक पौराणिक उपदेश इन्हीं मानवीय मूल्यों एंव आदर्शो में सन्निहित है। महाभारत में की गयी धर्म की परिभाषाऐं इसी सत्य को प्रकट करती है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, दया, इन्द्रियसंयम, … आर्जव आदि धर्म के विशिष्ट लक्षण कहे गये है[८७]। धर्म एंव नीति सम्बन्धी आचरण युक्त समाज में नियन्त्रण रहता है धर्म सभी प्राणियों से सम्बन्ध रखता है।[८८] धर्म दुष्कर्मो एंव दुराचरणों से प्राणीमात्र की रक्षा करता था[८९]।

जैनपुराणों के उपदेश हिन्दू धर्म के अनुरुप ही है। जिनसेन ने आदि पुराण में दो जगह धर्म की परिभाषा दी है। प्रथम परिभाषा वैशेषिक सूत्र से मिलती है जिसमें भौतिक एंव आत्मिक कल्याण करने वाला ही धर्म कहा गया है[९०]। दूसरी परिभाषा मनुस्मृति से पूर्णरुपेण मिलती है[९१] जिसके आधार पर महापुराण में वेद, पुराण, स्मृति, चरित्र, कियाविधि, मन्त्र, देवता, शुद्ध, आहार आदि जहॉ हों वही धर्म है कहा गया है। महाभारत में प्राप्त धर्म की परिभाषा का अनुकरण गुणभद्र ने किया है। जिसमें धर्म को उच्च व्यक्तियों द्वारा धारण करने एंव सम्यक् ज्ञान, दर्शन चारित्र एंव तप को धर्म के चार तत्व बतलाये गये हैं[९२]।

अहिंसा

जैनधर्म के आचार का मूल है अहिंसा। अहिंसा एक केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों और जैन मत घूमते हैं। जैन धर्म के अन्तर्गत मन, वचन एंव कर्म किसी भी प्रकार से होने वाली हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती है लेकिन अहिंसा का व्यावहारिक रुप परवर्ती वैदिक धर्म के समान है[९३]। हिन्दू पुराणों में अहिंसा को महानधर्म के रुप में स्वीकार किया गया है[९४]। जैनाचार्यो ने अहिंसा को अति सूक्ष्मता के साथ एवं हिन्दुओं ने कुछ लचीलेपन से धर्म में स्थान दिया है। वैदिक परम्परा में मनु ने सब कार्यो में अहिंसा को प्रधानता दी एंव मानव संस्कृति को अहिंसा पर आधारित किया[९५]।

जैनों की इस अहिंसात्मक भावना या सिद्धान्त पर "हिन्दू सांख्य" का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। वैदिक काल में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" जैसी

मान्यताओं के आ जाने पर भी इन भावनाओं के विपरीत सांख्य में विधेय हिंसा को भी वस्तुभूत हिंसा मानकर" अधर्माचरण माना गया है। महर्षि पतज्जलिं द्वारा भी अहिंसा की व्याख्या की गयी है[६६]।

सत्य

जैन धर्म के ये पंच महाव्रत योगदर्शन के प्रवर्तक पतज्जलि द्वारा बताये गये पॉच यमों से पूर्ण रुपेण मिलते हैं। महावीर स्वामी के योग का दूसरा आधार सत्य है। असत्य को अनृत कहा गया है। पातज्जंलि योगदर्शन[६७] के अनुसार सत्य में सुदृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी की वाणी से कभी असत्य निकलता ही नहीं। उसके अन्तःकरण से वही बात निकलती है जो कियारुप में परिणित होने वाली हो। महावीर की वाणी भी सत्यव्रत थी उनके वचन त्रिकाल सत्य रहे। योगदर्शन की भॉति ही जैनधर्म के अन्तर्गत वह सत्य भी असत्य है जो दूसरों को दुःख अथवा अहित करने वाला हो।

अस्तेय

महावीर स्वामी की पातज्जंलयोग दर्शन[६८] के समान ही अस्तेय में सुदृढ़ आस्था थी। अस्तेय में प्रतिष्ठित व्यक्ति राग को पूर्णतया त्याग देता है। इसी कारण वह संसार की समस्त सम्पत्तियों का स्वामी बन जाता था। इसी तरह महावीर स्वामी चारों ओर राजवैभव होने पर भी बैराग्य की ओर प्रवृत्त थे लेकिन वे संसार के वैभव से सम्पन्न थे। यह अस्तेय ही उनके योग का तीसरा माध्यम था।

ब्रह्मचर्य

काम वासनामय प्रवृत्तियों में रत रहना अब्रह्मचर्य है एंव उससे परे रहना ब्रह्मचर्य है। महावीर स्वामी ने राजसी वैभव का त्याग कर यावत् जीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया। ब्रह्मचर्य उनके योग का चौथा माध्यम था। पातंज्जंल योगदर्शन[६९] में कहा गया है कि योगी में ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हो जाने पर उसे अपरिमित वीर्यलाभ प्राप्त होता है। महावीर ने वीर्यलाभ द्वारा शारीरिक मानसिक एंव आत्मिक शक्तियों को प्राप्त कर "महावीर" पदवी को धारण किया था उनका वास्तविक नाम वर्धमान था।

अपरिग्रह

संसार के समस्त पदार्थो में आसक्ति भाव रखना परिग्रह है एंव परिग्रह का त्याग, अनासक्ति भाव से रखना अपरिग्रह है। महावीरस्वामी के योग के पॉचवे

माध्यम के बारे में योगदर्शन का कहना[१००] है कि स्थूल सांसारिक परिग्रहों का त्याग तो योगी अपने अभ्यास के प्रथम चरण में त्याग देता है लेकिन अविद्या, राग, क्लेश एंव अपनी देह में ममत्व भाव आदि इन परिग्रहों को त्याग देने पर योगी यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अपरिग्रह योगी तीनों कालों में अपने स्वरुप का ज्ञाता रहता है। इस सर्वज्ञता को महावीर स्वामी ने प्राप्त किया था।

महावीर का यह पंच महाव्रत जो कि उपनिषद् विद्या से पूर्णरुपेण प्रभावित है अत्यन्त कठिन है। इसी कारण आत्म ज्ञान को रहस्यविद्या अथवा उपनिषद् विद्या कहा गया है[१०१]। महावीर स्वामी अन्तर्मुखी व्यक्ति थे उन्होंने अपनी इन्द्रियों को बाह्यवृत्तियों से पराङ्मुख कर लिया था इसी कारण वे औपनिषदिक योगी थे। ये धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, मोक्षमार्ग के उपदेशक एंव तीर्थकंर कहे गये हैं[१०२]।

जैन धर्म के दार्शनिक एंव उपदेशक मतों पर भी हिन्दू ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है।

स्याद्वाद

जैनधर्म में विचार का मूल–स्याद्वाद है लेकिन साख्य में इस प्रकार के विचारों को स्वीकृत नहीं किया गया है लेकिन विचारशैली के आधार पर जो परिणाम दृष्टिगत होते हैं उनसे स्पष्ट है कि जैन स्याद्वाद पर सांख्य के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। जैनधर्म के विचार जिस दृष्टि को लेकर चलते हैं उनके अनुसार समस्त विश्व के मूलभूत तत्व दो भागों में एक जीव तत्व दूसरे अजीव या जड़ तत्व में विभक्त हैं।

सांख्य में भी मूलभूत तत्वों को दो भागों में – "पुरुष" एंव "प्रकृति" में विभाजित किया गया है। पुरुष चेतन तत्व है एंव प्रकृति जड़ तत्व। चेतन एंव जड़ इन दो स्वतन्त्र तत्वों को स्वीकार करने के कारण ही सांख्य वैदिक दर्शन को द्वैतवादी समझा जाता है । इस प्रकार मानव एंव विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए जैनधर्म के द्वैतवादी दर्शन स्याद्वाद पर सांख्य दर्शन के द्वैतवाद का प्रभाव है।

साम्यवाद

हिन्दू संस्कृति के मूलतत्व अध्यात्मवाद, अहिंसावाद, साम्यवाद एंव कर्मवाद का प्रभाव जैन ऐतिहासिक तथ्यों पर स्पष्टतः दिखायी देता है। जैन संस्कृति में व्यक्तिपूजा की अपेक्षा त्याग एंव तपस्या जैसे गुणों पर बल दिया जाता है। णमोकार मंत्र में उन समस्त तीर्थकंरों को नमस्कार किया गया है जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं "अरहंत शरणम् प्रवज्जामि" में उन्हीं आत्माओं की शरण के लिए प्रार्थना की गयी।

है जो जैनधर्म के मान्य अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, एंव अनन्तवीर्य गुणों से युक्त है। समत्व का सिद्धान्त जो वैदिक ग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों में सभी वर्णो, धर्मो एंव प्राणी मात्र के लिए पाया जाता है वह जैन धर्म की आत्मा है।

कर्मवाद

हिन्दू कर्म के सिद्धान्त को जैन संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कर्म के अनुसार ही उसे फल मिलता है। ईश्वर या अन्य कोई बाह्यसत्ता इस कारण कार्य के नियम पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र द्रव्य है यह जीव के कर्मो से आकृष्ट होकर आत्म परिणामों की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार बन्ध को प्राप्त होता है। सुख दुख, उत्थान, पतन, मनुष्य देव, तिर्यच, नरक आदि सभी गति कर्मो पर आधारित है।

जैन उपासना के तीन आयाम एंव हिन्दूधर्म

जैन धर्म में उपासना के तीन आयाम दृष्टिगत होते हैं ये भी हिन्दू धर्म से पूर्णरुपेण प्रभावित है।

आत्मज्ञान

पहले आयाम में आत्मानुभूत उपासना है जिसमें सम्यक् चारित्र को विशेष बल देते हुए मोक्ष प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य था। उपनिषदों, सांख्ययोग एंव बौद्ध सभी में ब्रह्मज्ञान, आत्म ज्ञान एंव शुद्धज्ञान की साधना का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति कहा गया है आत्मविवेक एंव आत्म शुद्धि को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है।

तन्त्र–मन्त्र

हिन्दू धर्म में तन्त्रमन्त्रों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जैन धर्म में भी उपासना का द्वितीय आयाम–तन्त्र मन्त्र के द्वारा अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध करना था लेकिन ये आयाम अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण था। भगवान महावीर द्वारा एक तापस द्वारा मुखपुत्र गौशालक पर छोड़ी गयी तेजोलेश्या को शान्त करने के लिए शीतोलेश्या का प्रयोग करने की जानकारी मिलती है। महावीर ने इस प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधना करने का उपदेश किसी को नहीं दिया। समता भाव धारण करते हुए कर्मक्षय करने के १२ प्रकार के अन्तरंग एंव बहिरंग तप करने के उपदेश दिये। फिर भी प्राप्त जैन अवशेषों पर यक्ष यक्षिणियों एंव यन्त्र बने हुए हैं अतएव स्पष्ट है कि जैन तन्त्र मन्त्र का प्रयोग कुछ जैनाचार्य अवश्य करते रहे[१०३] और ये हिन्दू धर्म का प्रभाव था।

भक्ति

जैनधर्म में उपासना के तृतीय आयाम भक्ति धारा की उत्पत्ति हिन्दूधर्म की भक्तिधारा से हुयी। भागवतपुराण वर्तमान भक्ति धारा का स्त्रोत है। दक्षिण पूर्व में यामुनाचार्य एंव रामानुजाचार्य द्वारा भक्तिवाद को एक सुनिश्चित दार्शनिक आधार प्रदान किया गया। हिन्दू धर्म की भक्तिधारा से प्रेरित होकर जैन मन्दिरों में भक्ति उपासना होने के साथ ही भक्ति काव्य साहित्य की रचना की गयी। इसी कारण पूर्वमध्यकाल में जैनधर्म में पंचव्रतों का पालन उतना मुख्य नहीं रहा जितना कि मन्दिर, चैत्य बनवाना, मूर्तियॉ प्रतिष्ठित कराना एंव भक्ति भाव में विभोर होकर मूर्तियों के सामने पूजा एंव कीर्तन करते हुए मदमस्त हो जाना था। इसके लिए अन्तरंग एंव बहिरंग शुद्धि के बाद देवपूजा, दान, व्रत अभिषेक आदि करना आवश्यक हो गया[१०४]। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत साधना मार्ग – ज्ञान, भक्ति एंव क्रिया पर समान बल दिया गया है। जैन साधना में एकान्त ज्ञान, भक्ति या क्रिया को महत्व नहीं दिया गया है। वहॉ सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्रणि मोक्षमार्गः कहकर रत्नत्रय आराधना का विधान प्राप्त होता है।

सगुण एंव निर्गुण भक्ति का प्रभाव

जैनदर्शन में निराकार आत्मा एंव वीतराग साकार भगवान के स्वरुप में एकता के दर्शन होते हैं। पंचपरमेष्ठी महामन्त्र में सगुण एंव निर्गुण भक्ति का समन्वय प्राप्त होता है। अर्हन्त सकल सगुण परमात्मा जाने जाते हैं उनके शरीर होता है वे दिखायी देते हैं। सिद्ध निराकार होते हैं उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं सकते। लेकिन जैनधर्म समान रुप से अर्हन्त् एंव सिद्ध की पूजा एंव भक्ति करने का उपदेश देते हैं।

योग

हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित योग का प्रभाव जैन पौराणिक साहित्य में वर्णित जैन योगियों के व्यवहार एंव आचार पर स्पष्ट दिखायी देता है। भगवद्गीता में "समत्व" ही योग है, कहा गया है । कृष्ण ने अर्जुन को जो शिक्षा दी कि तू अनासक्त भाव से योग में स्थित होकर कर्म कर। यही कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है[१०५]। इसी तरह जैनाचार्यो ने मोह एंव क्षोभ से रहित आत्म परिणाम रुप समत्व ही धर्म है, बतलाया है यह सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का मूल है[१०६]। महापुराण में जैन योगियों के व्यवहार एंव आचार विचारों का जो वर्णन प्राप्त होता हे वह गीता में वर्णित आचार व्यवहार के अनेक तत्वों को लिए हुए है। जैन योगी द्वारा सत्य अहिंसा, अस्तेय, ब्रहचर्य, विमुक्तता एंव रात्रिभोजन त्याग का जो व्रत लिया जाता है[१०७] वह

गीता के अनुरुप है[१०७]। जैन दर्शन में मान्य क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, तप, त्याग, अकिंचन, संयम एंव ब्रह्मचर्य इन दस धर्मो का वर्णन गीता में विस्तृत रुप से प्राप्त होता है[१०८]। जिनसेन द्वारा वर्णित जैन योगी आत्मसुख से बिल्कुल परे थे, सन्तोषीवृत्ति द्वारा उनकी सभी इच्छाऐं नष्ट कर दी गयी थी[११०], वे आध्यात्मिक अध्ययन में लीन रहते[१११], अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति से प्रसन्न एंव अप्राप्ति से दुखी नहीं होते[११२]। वे मान अपमान, सुख–दुःख, प्रसन्नता अप्रसन्नता, प्रशंसा अनिन्दा आदि को समान रुप से अनुभव करते थे[११३]। योगियों के ये व्यवहार गीता में वर्णित वर्णनों से पूर्णरुपेण मिलते हैं[११४]। जिसमें सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय, प्रिय को प्राप्त कर हर्षित न होना अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न होना अर्थात् सुख–दुःख को समान समझने वाला धीरपुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है।

जैन धर्म के अन्तर्गत सामयिक की अत्यन्त प्रतिष्ठा है। अणुव्रती गृहस्थ के चार शिक्षाव्रतों एंव महाव्रती साधु के पॉच चारित्रों में सामयिक का समावेश है। रागद्वेष की निवृत्ति परक आवश्यक कर्त्तव्यों में समता भाव का अवलम्बन सामायिक है[११५]। आचार्य अमितगति ने "सामायिक पाठ" में सामायिक के स्वरुप का अच्छा प्रतिपादन किया है[११६]। आचार्य कुन्दकुन्द सम्भाव को श्रमणत्व का मूल मानते है[११७] संयम एवं तप से युक्त वीतराग श्रमण जब सुख दुख में समान अनुभूति करने लगता है तभी वह मोक्षोपयोगी कहा जाता हे यह गीता के सुख–दुख की समत्व के अनुभूति का प्रभाव है।

स्थितप्रज्ञ एंव वीतराग

श्री मद्भगवद्गीता में वर्णित "स्थित प्रज्ञ" न तो दुःख में उद्विग्न होता है और न सुख में स्पृही। इस तरह रागद्वेष से रहित इन्द्रिय संयमी आत्मा वाला अन्तः करण ही निर्मलता को प्राप्त करता है[११८]। जैनाचार्यो ने "स्थितप्रज्ञ" को ही "वीतराग" की संज्ञा दी है और वीतरागता को ईश्वर (आप्त) का लक्षण माना है[११९]। गीता की तरह ही जिनसेन कहते हैं कि कर्मो से विमुख होना मिथ्याचार है, विजय नहीं[१२०]। स्नेह एंव राग से दूर एंव संसार से विरक्तता ही उनकी विजय है। उन बुद्धिमानों की इन्द्रियॉ वश में होती है[१२१]। जिसकी इन्द्रियाँ वंश में नहीं होती वह कष्ट उठाता है[१२२]। गीता के ये वर्णन जैन पुराणों में वीतरागी द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक बताये गये हैं[१२३] मुक्ति जो परमात्मा की वास्तविकता है वह आत्मा स्वभाव की स्थिरता (साम्य) द्वारा प्राप्त कर सकते हैं[१२४]।

मोक्ष एंव पुरुषार्थ

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति

बतलाया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थो में प्रथम तीन को अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन माना गया है। जिसे त्रिवर्ग कहा गया है[१२५]।

जैनधर्म के अन्तर्गत जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही मान्य किया गया है – सामाजिक जीवन व्यतीत करने के पश्चात् मानव मोक्ष की ओर अग्रसर होता था[१२६]। उसके लिए धर्माचरण, तप, संयम, मूर्तिपूजा, एंव भक्ति उपासना दान, त्याग, मन्दिर एंव मूर्ति निर्माण इत्यादि को आवश्यक बतलाया है जो धर्म एंव अर्थ साधन की ओर संकेत करते हैं। हिन्दू पुराणों में मान्य काम को जैनधर्म में मानवी रुप दिया गया है एंव २४ कामदेवों को जैनपुरुष माना है। जैनाचार्यो ने इनके चरित्र पर ग्रन्थ भी लिखे। इनके माध्यम से मानव की दुर्बलताओं एंव उत्थान पतन के चित्रणों द्वारा मनुष्य को मोक्ष की ओर उन्मुख होने की दिशा प्रदान की है। धर्म अर्थ काम को ही मोक्ष प्राति का साधन माना है[१२७]।

धार्मिक दृष्टि से साहित्यिक कृतियों के समान ही अभिलेखीय क्षेत्र में भी हिन्दू धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैन अभिलेखों में प्रायः प्रशस्तियों का प्रारम्भ "ॐ नमो वीतरागाय" से होता है जिससे ज्ञात होता है कि यह जैनमत के समर्थकों का है। यह मंगलाचरण प्रसिद्ध वैष्णवमन्त्र--ॐ नमो वासुदेवाय या ॐ नमो नारायणाय के सदृश जैनमंत्र की विशेषता है। सम्भवतः यह हिन्दूमत का ही प्रभाव था कि लेखों में इस प्रकार के मंगलाचरण का प्रयोग होने लगा। हिन्दू ग्रन्थों में इष्टदेव की प्रार्थना पहले पद में की जाती थी इसी तरह जैन साहित्य में पहला पद तीर्थकंर प्रार्थना के निमित्त लिखा जाता था।

प्रायः सभी जैन अभिलेखों के अन्त में मनु के चार श्लोकों को स्थान दिया गया है जिसमें दान की गयी वस्तु की रक्षा करने वाले पुण्य के भागी एंव रक्षा न करने वाले पाप के भागी कहे गये हैं इनसे स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य मनुस्मृति में वर्णित धार्मिक उपदेशों से प्रभावित थे।

वर्णव्यवस्था

जैन पुराणों में प्राप्त धार्मिक एंव दार्शनिक वर्णनों की भॉति ही सामाजिक वर्णन भी हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों से प्रभावित एंव समानता रखे हुए हैं। हिन्दू परम्पराओं में वर्णव्यवस्था का आधार कर्म रहा है। कर्म के द्वारा ही व्यक्ति उच्च एंव निम्न वर्ण को प्राप्त करता है। गीता में कहा गया है कि समदर्शी पण्डित ब्राह्मण एंव चाण्डाल में तथा गाय हाथी एंव कुत्ते में कोई भेद नहीं करते[१२८]। मनु ने भी वेद का अध्ययन न करने वाले ब्राह्मण को परिवार सहित शूद्र होने का उल्लेख किया है[१२९]। हिन्दू धर्म की भॉति ही जैनधर्म जन्मना वर्ण व्यवस्था का विरोध करता हुआ कर्मणा वर्णव्यवस्था में विश्वास करता है। जैन आगमिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जन्म

के आधार पर ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं की जा सकती। ऋषभ ने ब्राह्मण के गुणों का वर्णन किया है[१३०] ऋषभ द्वारा भरत से माहन् माहन् कहे जाने के कारण ये माहन् कहे जाने लगे[१३१]। हेमचन्द्र ने इसका समर्थन किया है कि ये माहन् धार्मिक विचारों वाले व्यक्ति थे[१३२] ये बाद में ब्राह्मण कहलाने लगे[१३३]। वैदिक पुराणों की भांति ही जैनाचार्यो ने द्विजों का भी उल्लेख किया है जो कुछ संस्कारों के सम्पन्न करने से इस संज्ञा को धारण करते थे। द्विज पवित्र धागे का प्रयोग करते थे[१३४] एंव असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, द्वारा जीविकोपार्जन करते थे[१३५]।

हिन्दू धर्म में मान्य ब्राह्मण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को भी जैन पुराणकारों द्वारा मान्य किया गया है[१३६]। रामायण[१३७] बताती है कि प्रारम्भ में समस्त समाज एक वर्ग से सम्बन्धित था। महाभारत[१३८] में भी कहा गया है कि प्रारम्भ में भिन्न भिन्न वर्ग नहीं थे सभी मानव ब्रह्मा से सम्बन्धित थे। अपने अपने कार्यो के अनुरुप ये विशेष वर्गो में विभाजित कर दिये गये। वायुपुराण में भी कहा गया हे कि सत्ययुग मे वर्ण संस्था एंव उसके कार्य विभाजित नहीं थे। मानव जाति का विभिन्न वर्गो में स्तरीकरण त्रेतायुग में हुआ[१३९]। जैन महापुराण में भी हिन्दुओं के अनुरुप ही प्रारम्भ में एक जाति होने एंव जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों के अपनाने के कारण ये वर्णो में विभक्त होने के वर्णन प्राप्त होते हैं[१४०]। जो भगवद्गीता की[१४१] तरह ही गुणकर्मो के अनुसार चारों वर्णो की सृष्टि होने की बात बतलाते हैं। जैन पुराणों में वर्णो के बतलाये गये कर्तव्य रामायण महाभारत एंव गीता से पूर्णतः मिलते हैं[१४२]। जैनपुराणों में प्राप्त क्षत्रियों के कार्य कालिदास के द्वारा की गयी छत्र शब्द की व्याख्या पर आधारित है[१४३]। पुरुष सूक्त[१४४] एंव महाभारत[१४५] की तरह ही ऋषभ द्वारा अपने भुजाओं से शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रियों एंव जंधाओं से व्यापारिक कार्य करने वाले वैश्यों एंव निम्न जीवन बिताने वाले शूद्रो की उत्पत्ति पैरों द्वारा करने की जानकारी होती है[१४६]।

शीलांक ने समाज को ऋषभ द्वारा दो वर्गो १ राजन् एवं २ प्रकृतिलोक में विभाजित करने की बात कहीं है[१४७]। हेमचन्द्र ने क्षत्रियों के चार वर्गो – उग्र, भोज, राजन्य एंव क्षेत्र का वर्णन किया है[१४८]।

वैदिक धार्मिक ग्रन्थों की तरह ही जैन पुराणों में शूद्रों (श्वपाकों) को पर्याप्त सम्मान दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशव नाम चाण्डाल के गुण सम्पन्न मुनि होने के उल्लेख मिलते हैं[१४९]। इस चतुर्थ वर्ण का मुख्य कर्त्तव्य तीनों वर्णो की सेवा करना था[१५०]। शूद्रों को दो वर्गो – छूत एंव अछूत में विभाजित किया है। छूत शूद्र के अन्तर्गत धोबी एंव नाई को सम्मिलित किया है[१५१]। मनुस्मृति के समान ही शीलांक ने चार वर्णो के अतिरिक्त ६० वर्गो (मिली जुली जाति) की उत्पत्ति का उल्लेख किया है[१५२]। इस तरह हिन्दू धर्म के अनुकूल ही एक व्यक्ति का वर्ण कर्म

के द्वारा निश्चित होने की बात कहीं गयी है[१५३]।

आश्रम व्यवस्था

जैन साहित्य में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। पुराणों में दो आश्रमों – सागराश्रम एंव "निर्गराश्रम" कमशः गृहस्थों एंव मुनियों के लिए वर्णित किया गया है। जो ऋषभ के राज्यकाल से ही बने हुये थे[१५४]। रविषेण ने दो प्रकार के आचारों श्रावकाचार एंव मुनिआचार का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त तीसरे आचार का भी उल्लेख किया है जो मायावी आचार कहलाता था[१५५]। हिन्दू पौराणिक आश्रम व्यवस्था का अप्रत्यक्ष रुप से वर्णन किया हे जिसमें जीवन के चार स्तर विशेष उपाधियों से वर्णित किये गये हैं। जीवन के ये चार आश्रम--ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एंव भिक्षुक नाम से जाने जाते हैं जो कि जैनधर्मानुयायियों को एक स्तर से दूसरे स्तर में अधिक शुद्ध बनाते है[१५६]। जिनसेन द्वारा वर्णित ये आश्रम एंव वर्ण व्यवस्था जो वैदिक संस्थाओं पर आधारित है को वैदिक व्यवस्था के विरोध में जैन प्रतिकिया के परिणाम स्वरुप वर्णित किया गया है[१५७]।

धार्मिक संस्कार

जिनसेन ने व्यक्ति के जीवन को उन्नत एंव सफल बनाने के लिए धार्मिक संस्कारों को अधिक महत्त्व दिया है। हिन्दू स्मृतिकारों की तरह उसने कहा है कि आचारों की पवित्रता को बिना प्राप्त किये कोई व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एंव आध्यात्मिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता है[१५८]। जैन पुराणकारों ने गर्भान्वय एंव दीक्षान्वय दो प्रकार के संस्कारों का उल्लेख किया है। गर्भान्वय जैन समुदाय (समाज)में उत्पन्न व्यक्तियों के लिए एंव दीक्षान्वय जैनधर्म में दीक्षित होने वाले के लिए[१५९]। गर्भान्वय संस्कारों की संख्या ५३ एंव दीक्षान्वय संस्कारों की संख्या ४८ बतायी गयी है[१६०]। मनुस्मृति में जन्म से लेकर मरण तक जिन गर्भधानादि आदि कियाओं का वर्णन मिलता है वे सभी हिन्दू संस्कार इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। हिन्दू स्मृतिकारों की तरह ही[१६१] जिनसेन संस्कारों का प्रारम्भ गर्भस्थ शिशु के आचारों से ही करते हैं। जैनधर्म के अन्तर्गत संस्कारों को सीमावद्ध नहीं किया गया है जबकि हिन्दू धर्म में अन्तिम दो आश्रमों का सेवन करने वाले व्यक्तियों के लिए किसी विशेष संस्कार की व्यवस्था नहीं की गयी[१६२]।

गर्भाधान

जिनसेन के अनुसार यह मन्त्रपूर्वक किया जाता था[१६३]। जिसे "आधान" कहा जाता था। हिन्दू संस्कार गर्भाधान की अपेक्षा अधिक कियाऐं सम्पन्न की जाती थी[१६४]।

जिसमें तीन चक्र, तीन छत्र, एंव तीन पवित्र अग्नि की रेखाऐं जिनमूर्ति के बायें एंव दाये चित्रित की जाती थी[१६५]। जिनसेन ने हिन्दू पुसंवन एंव गर्भाधान दोनों को "आधान" संस्कार में सम्मिलित रुप दिया है। वैदिक सीमन्तोन्नयन को भी संस्कारों में सम्मिलित नहीं किया है।

प्रियोद्भव

हिन्दू परम्परा के अनुसार ही यह संस्कार जन्म लेने के बाद मनाया जाता था[१६६]। जैन इसे प्रियोद्भव कहते हैं। हिन्दू पद्धति से कुछ भिन्नता लिए पिता द्वारा कुछ क्रियाऐं की जाती थी[१६७]। महाभारत में[१६८] जातकर्म के समय उच्चारण किया जाने वाला मंत्र महापुराण में ज्यों की त्यों पाया जाता है जो इस संस्कार के समय बोला जाता था[१६९]।

नामकर्म

मनुस्मृति की भांति ही महापुराण में जन्म के १२ वें दिन नामकरण संस्कार सम्पन्न करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[१७०]। महापुराण के अनुसार बच्चे एंव मातापिता के कल्याण के लिए यह एक शुभ दिन में मनाने का निर्देश दिया गया है[१७१]। परिवार की समृद्धि वर्द्धक बच्चे का नाम रखा जाता था[१७२]।

बहिरिना

यह संस्कार हिन्दू संस्कार निष्कासन की ही भांति है जो जन्म के बाद दूसरे, तीसरे एंव चौथे माह में शुभ दिन में मनाया जाता था जिसमें बच्चा पहली बार घर से बाहर जाता था[१७३]।

अन्नप्राशन

हिन्दू संस्कार अन्नप्राशन की भांति जैनों में यह संस्कार जन्म के बाद छठे मास में सम्पन्न किया जाता था[१७४]।

वर्षावर्धन

महापुराण के अनुसार यह जन्म के एक वर्ष बाद मनाया जाता था[१७५]। मनुस्मृति, सूत्रसाहित्य एवं याज्ञवलकय स्मृति में इस संस्कार का उल्लेख नहीं है लेकिन भवभूति के रामचरितमानस में इसका उल्लेख प्राप्त होता है[१७६]। यह संस्कार प्रतिवर्ष मनाया जाता था एवं इस संस्कार में बच्चे की कलाई पर बीते हुए वर्षो की संख्या के अनुसार धागे में गांठें बाँधकर बाँधा जाता था। उत्तररामचरित मानस में

इसे संख्यामंगल ग्रन्थि कहा गया है[१७७]।

केशवा या चोल संस्कार

हिन्दू संस्कारों में वर्णित चूड़ाकर्म एंव मुंडन संस्कार को जैन शास्त्रों में केशवा संस्कार कहा गया है इसमें शुभ दिन में बच्चे के बाल काटे जाते है[१७८] जैनों का यह नाम आश्वालयन गृहयसूत्र के आधार पर रखा गया है जिसमें बाल काटने के कार्य को केशवापन कहा गया है[१७९]। स्मृतियों में वर्णित चोल नाम भी जैनों द्वारा इस संस्कार को दिया गया है[१८०]। स्मृतियों के अनुसार यह संस्कार एक वर्ष से पाँचवे वर्ष के बीच में सम्पन्न किया जाता था[१८१] जिनसेन के अनुसार भी यह संस्कार तीसरे वर्ष या पांचवे वर्ष में सम्पन्न किया जाता था।

उपनयन

हिन्दू उपनयन संस्कार को जैनों द्वारा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है यह जन्म के सॉतवे वर्ष में सम्पन्न होता था[१८२]। हिन्दुओं में तीनों वर्णो के उपनयन संस्कार का समय अलग अलग दिया गया है[१८३]। इस संस्कार में बच्चे के बाल काटकर, एक कौपीन एंव सादा वस्त्र पहनने को दिया जाता था। इसके साथ ही पवित्र मंत्रों से शुद्ध किये हुए धागे से बना जनेऊ (मुंजग्रास) उसके वक्षस्थल पर लपेटा जाता था। जो कि ब्रह्मचारी द्वारा पवित्र व्रत धारण करने का सूचक था[१८४]। इसी संस्कार के कारण तीनों वर्णो में जन्म लेने वाला द्विज कहलाता था[१८५]। यहॉ से एक महत्वपूर्ण जीवन प्रारम्भ होता है जो ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है[१८६]।

व्रताचार्य

हिन्दू संस्कार "व्रतादेश[१८७] की भॉति ही इस "व्रताचार्य" संस्कार में ब्रह्मचारी को व्रतों का पालन करने के लिए शिक्षा दी जाती थी[१८८]। इनका पालन विद्यार्थी जीवन की समाप्ति तक करता था[१८९]।

व्रताव्रतरण

जैनों के इस संस्कार पर हिन्दुओं के "समावर्त्तन संस्कार" का स्पष्ट प्रभाव है जो ब्रह्मचारी द्वारा अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद किया जाता था। जिनसेन के अनुसार विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ होने से १२ या १६ वर्षो तक व्रतों का पालन किया जाता था[१९०]। हिन्दू ग्रन्थों के अनुसार २४ वर्ष की आयु के बाद "समावर्त्तन संस्कार सम्पन्न करने का समय माना जाता था[१९१]। इस संस्कार के समय अपने गुरु की आज्ञा से वस्त्र आभूषण आदि पहनता था[१९२]।

विवाह

वैदिक पुराणों एंव स्मृतिकारों की तरह ही जिनसेन ने विवाह को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वैवाहिक संस्कार की विधि एंव क्रियाएं हिन्दू धर्म की भांति ही सम्पन्न की जाती थी। पवित्र अग्नि को साक्षी मानकर विवाह किया जाता था। सिद्ध मूर्ति के सामने वर एंव कन्या पाणिग्रहण करके कुछ व्रतों को धारण करते थे[१९३]। जिनसेन ने मनु का अनुकरण करते हुए[१९४] अनुलोम अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता दी[१९५]।

हिन्दू धर्म से प्रभावित इन संस्कारों से ज्ञात होता है कि जैन इतिहास लेखकों के लिए अपने धर्म के सिद्धान्त को व्यापक रुप देने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों से सामजंस्य करना आवश्यक था इसी कारण उनकी सामाजिक अवधारणायें हिन्दूओं से प्रभावित एंव बहुत कुछ समानता लिये हैं। कभी कभी तो जैन इतिहास कारों द्वारा हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के श्लोकों गाथाओं एंव पद्यों को ज्यों की त्यों ले लिया गया है। महाभारत की यतोधर्मः तत्रः विजय" यह गाथा पद्मपुराण में मिलती है[१९६]। महापुराण एंव त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित में प्राप्त दार्शनिक एंव शिक्षात्मक विचार महाभारत से लिये गये हैं[१९७]। रामायण के अनेक उदाहरणों को जैन पुराणकारों द्वारा उन्हीं स्थितियों में ही नहीं लिये गये बल्कि उन्हीं शब्दों में लिया गया है। विशेष रुप से कहावत, शिक्षा एंव वर्णनात्मक शैली में समानता है। आदिपुराण[१९८] में वर्णित सांसारिक क्षणभंगुरता का आधार बाल्मीकि रामायण[१९९] है।

जिनसेन का काव्यात्मक रेखाचित्र बाल्मीकि रामायण के कलात्मक वर्णन का अनुकरण है। बाल्मीकि रामायण ने उसकों सशक्त शब्द शक्ति दी तथा कल्पना शक्ति एंव दृश्यों को स्पष्ट ढंग से वर्णन करने की शक्ति दी[२००]।

संदर्भ ग्रन्थ

१. ऋगवेद ८/८/२४, अ०वे०१६/५२, वि०पु०२/१, पु० ७७, मा० पु० पु० १५० ब्र०पु० १४/५६–६१, भा०पु० ५/३–६ ।

२. म०पु०भा०। पृ ३३

३. आ.पु० १/१६–२३

४. वही ३/१४–२१

५. प०पु० १/५१

६. ह०पु० ३/१६५

७. प०च०भा०५ ३/५०–५५, पद्म००३/७३–८७, ह०पु० ७/१२५, १६६ आ०पु०३/६३, १५२, त्रि०श०पु०च० १/२/१६०–२०६

८. प०च० ३/५० पद्म०च०३/७५, आ०पु० ३/२२६–२३०

९. म०भा० १३/१८/२०६, ३/३/५६
१०. पु०वि० पु० ६८–६६ ।
११. आ०पु० ४/३, २/३८, ४/४१।
१२. पं.च० ३/३५–४२, पद्म च० ३/४६–६३, ह०पु० ७/६४–१०५, आ०पु० ३/२४–५० ।।
१३. म०भा०भा००३ १४०/११ब, १४६, १२–२२
१४. वही १४६/११–४०
१५. ह०पु० ६/३५, म०पु० १६/१८०
१६. वा०पु० ८/६१–६२, मा०पु० ४६/६४–७६ ।
१७. 'प्रकाशितमन' अक्टूबर १६७८ वर्ष ५ आंक ५ ।
१८. देवगढ़ की जैनकला – चित्र संख्या ५१ ।
१६. देवगढ़ की जैनकला, अध्याय ५ ।
२०. जै० शि० सं० भा०२ ले० न० १६१, २५० ।
२१. "मथुरा कला में मांगलिक चिन्ह" आज वाराणसी १६ फ० १६६४ ।
२२. जैन आइकोनोग्राफी – ए वाल्यूम ऑफ इण्डियन एवं इरानियन स्टडीज पु० ३४२। जै० शि० सं० भा०२ ले० न० २५०।
२३. देवगढ़ की जैनकला चित्र सं० ६३।
२४. देवगढ़ की जैनकला – चित्र संख्या ६८, ७३।
२५. भा० सं० जे० ध० यो० पु० ३४६।
२६. जै० शि० सं० भा०। प्रस्तावना।
२७. भा० सं० जै० ध० यो० पु० ३४६–३५०।
२८. उ० पु० ५४/१०३–११०।
२६. म० पु० २५/१४०।
३०. म० पु० १६/२६७।
३१. म० पु० २५/१४२।
३२. म० पु० २४/३४, २५/१०६।
३३. म० पु० २४/३०, २५/१०६।
३४. म० पु० २५/१०६।
३५. म० पु० २४/३५, २५/१००।
३६. म० पु० २४/३३, २५/१००।
३७. च० म० पु० पु० १६७. १११. त्रि, शा० पु० च० भा० ५ पु० २७७–७८।
३८. च० म० पु० च० पु० ४१।
३६. चि० श० पु० च० ४/७५।
४०. आ०पु० २५/६७, १००–१०७, ११३, ११७, १२०–१२८, १३३, १४४, १४६, १६७,

२०१, २१०–११।
४१. ह० पु० १७/३ब, म० पु० ४३/२६५–६७।
४२. प०च० ७/७०।
४३. पद्म च० ७/१५२।
४४. उ० पु० ५४/१८८ब।
४५. प०च० ७/७०, पद्म च० ७/१५२, च० म० पु० च० पु० २२१।
४६. प० च० २/५६, आ० पु० १२/१६४ प० च० १/१४/२ (स्वयंभ्भू) म०पु० भा० ३, १/६, ह० पु० ८/३६।
४७. म० भा० ३ ३७/३३, रा०भा० ३ ४६/१६ब।
४८. म० भा० १/६६, १४/१५।
४९. ह० पु० ६०/५३१–३७, प०च० ५/६/६३।
५०. म० भा० १/६६, १/१२२।
५१. उ० पु० ७४/३३१–३७।
५२. म० भा० १/२१०, ३/३८, ३/१२५।
५३. त्रि० श० पु० च० भा० ५ पु० ३१६, ३४२।
५४. त्रि० श० पु० च० १/५/५७८।
५५. त्रि० श० पु० च० भा० ३ पु० २८७।
५६. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र पद्य १२७, पु० ३३६।
५७. ह०पु० प्रशस्ति
५८. भा० सं० जै०ध० यो०पु० ३५८।
५९. जै०ए०मार्च १९३७, पु० ७५–७६ ।
६०. प०च०७/२०, ७/२७–३१, प०च०७/४७ (विमल)
६१. बा०रा०२/१६.२४।
६२. म०भा० ३/४१, ५५, ६/१७.४६।
६३. म०भा० ५/१६–२७।
६४. उ०पु० ५४/१०२/११०
६५. प०च०२/११५, प०च० (रविए) २/२४३।
६६. त्रि०श०पु०च० ७/७/५०, प०च० (स्वयम्भू) ८/५/२–१०।
६७. प०च० (स्वंयम्भू) ८/५/६, त्रि०श०पु०च० १/५/५६०।
६८. त्रि०श०पु०च० ४/७/२२५ ब।
६९. म०भा०१/५६, ६/३५–४५।
७०. त्रिश०पु०च०भा०५ पृ० ३४३।
७१. वही भा०४ पृ० ५४
७२. बा०रा०१/२३/१०–१४

७३. म०भा० १३/११/३
७४. म०पु०४३/२६४, प०च० (स्वयम्भू) १/६/५, त्रिश०पु०च० १/३/४२८ब
७५. प०च०(रवि०) ७/३१, ह०पु० ८/११२ ब, प०च० (स्वयम्भू) ८/१/८ त्रि०श०पु०च० ४/७/३२०।
७६. प०च० (रवि) ३/१७६–८१, ह०पु०८/१५८,त्रि०श०पु०च ४/७/३२०
७७. म०भा०१/२२/५४–५६, ३/४३/१४, १४/८८/३६–४६।
७८ त्रि०श०पु०च० १/२/७८५, ७६३, म०भा० १/१२२/६०ब ३/४३/२८–३०
७९. पंच० ११/५०फ, प०च०(रवि) ११/११७पु, त्रि०श०पु०च० ७/२/५०४–१४
८०. प०च० ७/११, प०च० (रवि) ७/३१, प०च० (स्वयम्भू) ८/१/४।
८१. त्रि०श०पु०च०भा०३, पु० २३२।
८२. वही ४/५/८५।
८३. वही भा०३ पु० २७०।
८४. वही पु० २८७।
८५. वही ४/१/६५४।
८६. वही भा० ३ पृ० २२०
८७. म०भा० ८/२२/१६
८८. म०भा० ६६/५८
८९. वही २/१०६/१२
९०. आ०पु० १/१२०, ५/२०
९१. म०पु० ३६/२०–२१, म०स्मृति २/१२
९२. वही ४७/३०२–३०३ अ
९३. आ०ती० पु० २६–३५
९४. म० भा० ८/११५/१
९५. म०भा० १०/२५–२८, शा०प० २७१/१–१३
९६. यो०द० २/१३५
९७. वही २/१३६
९८. वही २/१३७
९९. यो०द० २/१३८
१००. वही २/१३९
१०१. क०उ० ४/१
१०२. व०च० १५/१३/५
१०३. प्र०च० ५/३८ पु० ५१
१०४. य०च० ८/३–१०
१०५. भ०गी० २/४८–५०

१०६. प्र०सा० १/७
१०७. म०पु० ३४/१६६
१०८. म०गी० ६/१–३
१०९. म०पु० ३६/१५७–५८, भ०गी० ६/१०–१४, १६/१–३
११०. वही ३४/१७१ अ १७३ब
१११. वही २४/१८७अ
११२. वही ३४/२०३ अ
११३. वही ३४/२०४, बो०पा० ४६।
११४. भ०गी०२/५६.५७, ६६–७१, ३/३०, ४/२१–२२२, ५/२०, ६/७–१०, ७/१३–१४, १६, १८, १९।
११५. स० सू० ७/१२, ९/१२।
११६. सा०पा०३।
११७. प्र०सा० १/१४।
११८. भ०गी०२/५६–५७,६४।
११९. र०क०श्रा० १/६
१२०. भ०गी०३/६, १/६०–६१, ६८
१२१. भ०गी०२/६१
१२२. वही ६/३६, ५/२२ब
१२३. त्रि०श०पु०च०भा ०४ पु ६८
१२४. भ०गी० ५/१९
१२५. भ०भा० १२/१६१, आ०पु०२/३१, म०पु०१/११८, २/३१, २४/५अ वही १२/१६२–६६, १२/२४५
१२६. वही १२/१६२–६६, १२/२४५
१२७. त्रि०श०पु०च० २/१/२९, २२५, म०पु० २४/५०, ४४/५०, ४४/५०, ५१/८, ५३/५।
१२८. भ०गी० ५/१८
१२९. म०स्मृति २/१६८
१३०. प०च०४/८१
१३१. वही ४/८४, प०च० (रवि) ४/१२१–१२२, त्रि०श०पु०च १/६/२२९ ब
१३२. त्रि०श०पु०च० १/६/२२–२८
१३३ वही १/६/२४८अ, ह०पु० ११/१०५–१०७
१३४. म०पु० ३८/४७–४९।
१३५. म०पु० ४०/१६७

१३६. वही ३७/११७अ, ३६/१२७
१३७. उ०का० ३०, २१
१३८. म०भा० १२/१८८/१०
१३६. वा०पु०८/६१ब ५७/६००, ५७/८१–८७
१४०. म०पु० ३८/४५, ह०पु०।७/१०३ अ
१४१. गीता ४/१३
१४२. प०च० ३/११५–३१७, प०च० (रवि) ३/२५६–५८, ह० पु० ६/३६। म०पु० ३८/४६, गीता १८/४३–४४, म०भा० १२/२६६/२०–२१।
१४३. रघुवंश २/५३
१४४. ऋ०वे० १०/६०/१२
१४५. म०भा० ६/६७/१०–१६, ८/३२ द्व४३७–४४
१४६. म०पु० १६/२४४–४५
१४७. च०म०पु०च० पु० ३६
१४८. त्रि०श०पु०च० १/२/३४–३८
१४६. उ०स०१२/१
१५०. म०पु० ५/१०/४
१५१. आ०पु० १६/१८५–८६
१५२. च०प०पु०च०पु० ३६
१५३. उ०सू० २५/३३, म०पु० ३८/४३
१५४. प०च०५/१६६
१५५. वही ४/४४५
१५६. म०पु० ३६/१५१–५२, म०भा० १२/२४२–४३ब
१५७. म०पु० ३६/२४–१५१ब
१५८. म०पु० ३८/४७–४६
१५६. वही ३६/७
१६०. वही ३८/५२
१६१. म०स्मृति भा०२ १६/२७,२६,३०,३४,३६ भा००३ २/४
१६२. म०भा० १२/१६२/१–६
१६३. म०पु० ३८/७०अ, म०स्मृति २/२६–२७, ३/४५,हि०स० पु० ६०–६६
१६४. म०पु० ३८/७१–७३
१६५. म०पु० ३८/७१, ४०/३–४
१६६. वही ३८/८५, ४०/१०८–१३३
१६७. हि०स० पु० ८६–६८

१६८. अ०भा० १/६८
१६६. आ०पु० ४०/११४
१७०. म०स्मृति २/३०, म०पु० ३८/८७, हि०सं०पु० १०८
१७१. म०पु० ३८/८७ ब
१७२. वही ३८/८८ब
१७३. म०पु० ३८/६०–६२ म०स्मृति २/३४ अ
१७४. म०पु ३८/६५, म०स्मृति २/३४ब
१७५. वही ३८/६६–६७।
१७६. उ०रा०च०मा० ३/४५
१७७. वही ३/३
१७८. म०पु० ३८/६८ अ
१७६. आ०गृ०सू० १/१७/१२
१८०. म०पु० ३८/६८ब
१८१. म०स्मृति २/३५
१८२. म०पु० ३८/१०४अ
१८३. म०स्मृति २/६६–३६
१८४. म०पु० ३८/१०४, १३६, ४०/१५६–१५८
१८५. वही ३८/१५६
१८६. म०भा० १२/१६१–६८।
१८७. म०स्मृति २/१७३
१८८. म०पु० ३८/११५–१६, म०स्मृति २/१७६–७८, २/१०८
१८६. वही ३८/११७, म०स्मृति २/१०८
१६०. वही ३८/१२३
१६१. हि०सं० पु० १६१
१६२. म०पु० ३८/१२४
१६३. वही ३८/१२७–३४
१६४. म०स्मृति ३/१३
१६५. आ०पु० १६/२४७, म०पु० ३६/८५
१६६. प०च० ११/७४, म०भा० ६/६६/३५
१६७. म०पु ३४/१६६–१७१, त्रि०श०पु०च० १/३/१६६, २७१–७३
१६८. आ०पु० ८/७७
१६६. बा०रा०२/१०५–११६
२००. आ०पु०२६/२७, रा०३०/४८, म०पु०२६/४२, बा०रा०३०/४७

अध्याय – ६

उपसंहार

जैन इतिहास के अन्तर्गत सर्वप्रथम आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में "इति इह आसीत्" कहकर इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत की है। इतिहास की पूर्वयुगीन मान्यताओं ने जैन इतिहास के स्वरुप को प्रभावित किया है। पूर्व वृतान्तों को उनके वास्तविक रुप में प्रस्तुत करना जैन इतिहास की विशेषता है।

इतिहास लेखन का प्रारम्भ महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रारम्भ होता है। जैन इतिहास अपने प्रारम्भिक चरण में धार्मिक एंव दार्शनिक सिद्धान्तों का मात्र विश्लेषण प्रस्तुत करने वाला है। पूर्व मध्ययुग में जैनधर्म की समन्वयवादी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एंव अन्याय पक्षों के प्रस्तुतीकरण में हुआ है।

जैन इतिहास में कर्मभूमि से पहले भोगभूमि व्यवस्था थी। सर्वप्रथम आदि तीर्थकंर ऋषभदेव ने कर्मभूमि की स्थापना की एंव प्रजा को असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्या इन षट्कर्मो की शिक्षा दी। जैन इतिहास का प्रस्तुतीकरण इसी क्रम से हुआ है।

ऋषभदेव के पश्चात् जैनधर्म में तेइस तीर्थकंर हुए। अन्तिम चार तीर्थकंरों की ऐतिहासिकता जैनेतर परम्पराओं में भी स्वीकृत है। महावीर ने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाकर पार्श्वनाथ के चातुर्यामिक उपदेश को पंचयामी बनाया। जैन इतिहास में महावीर के उपदेशों के संकलन जो सर्वप्रथम गणधर द्वारा द्वादशांग आगम बारह अंग एंव चौदह पूर्वो के रुप में किये गये, इनमें महावीर एंव महावीर से पूर्व के धार्मिक, दार्शनिक नैतिक विचारों के साथ ही ज्योतिष, आयुर्वेद, आदि शास्त्रों का समावेश किया गया। कालान्तर में अंगों एंव पूर्वो का लोप हो जाने के पश्चात् जैन साहित्य के पुर्ननिर्माण के आन्दोलन का सूत्रपात ई०पू० १६० में कलिंग चक्रवर्ती सम्राट खारवेल ने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर एक मुनि सम्मेलन बुलाकर किया गया।

प्रथम शताब्दी से पॉचवी शताब्दी तक के साहित्य में दार्शनिक चिन्तन, लोकोत्त अध्यात्म, एंव लोकोन्नायक आचार विचार पर अधिक ध्यान दिया गया और विभिन्न आचार्यो द्वारा विभिन्न ग्रन्थों की रचनाऐं की गयीं[1]।

छठी शताब्दी ई० वी० के बाद का जैनसाहित्य हिन्दू परम्परा के कथानक एंव आख्यानों से प्रभावित जान पड़ता है। विभिन्न राज्यवंशों के प्रश्रय से जैन साहित्य

की अधिकाधिक समृद्धि हुयी। सॉतवी शताब्दी में रविषेण एंव जटासिंहनन्दी ने रामायण की शैली पर पद्मचरित एंव बरांगचरित की रचना की। रविषेण ने रामायण में हेय दृष्टि से देखे जाने पात्रों के प्रति उदात्त एंव सहानुभूति पूर्ण भाव प्रदर्शित किया है। ये दोनों ही ग्रन्थ जैन इतिहास के अन्तर्गत समाज एंव संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आंठवी शताब्दी में जैन आचार्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थ गणित, ज्योतिष, भूगोल, समाज, राजनीति पर प्रकाश डालते हैं[1]। नवीं शताब्दी के जैन आचार्यो द्वारा पुराण एंव महापुराण की रचना करके एक नवीन साहित्यिक विधा को जन्म दिया गया जो जैन इतिहास के साथ ही साथ काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नवीन साहित्यिक शैली का दिग्दर्शन "पार्श्वाभ्युदय" में हुआ है।

दंसवी, ग्यारहवीं शताब्दी में प्रणीत चरितकाव्य इतिहासपरक विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने वाले हैं। चरितकाव्यों की शैलीगत विशेषताओं के अतिरिक्त वे तत्युगीन इतिहास का सांगोपांग वर्णन करने में अत्यधिक सक्षम है[2]। इसके अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी में इतिहासकारों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में इतिहास के अध्ययन हेतु विपुल सामग्री प्राप्त होती है[3]।

द्वितीय शताब्दी से लेकर बारहंवी शताब्दी के अन्तराल में संस्कृत भाषा की तरह ही प्राकृत भाषा में भी जैन इतिहासकारों द्वारा साहित्य सृजन किया गया जिसमें तीर्थकंरों के चरित्र के साथ ही साथ विभिन्न कथाओं आख्यानों, उपाख्यानों एंव राजा एंव साम्राज्ञियों के चरित्रों का निरुपण किया गया है[1]।

अपभ्रंश भाषा में काव्य, कथा, पुराण के साथ ही गणित आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र आदि विविध विषयों पर रचनाऐं की गयी[2]।

नवी शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के राज्यकाल से जैन साहित्यकारों ने कन्नड, तमिल एंव मराठी भाषाओं में काव्य रचना का प्रारम्भ किया जो जैन इतिहास की दृष्टि से बड़े ही महत्व के हैं[3]।

निवृत्तिमार्गी एंव आचार प्रधान धर्म होने के कारण जैन इतिहासकारों का मूल उद्देश्य अपने धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों को स्थायी रुप देना था। वे जनसाधारण में नैतिक भावना एंव आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करना चाहते थे इस उद्देश्य से उन्होंने जैनधर्म में मान्य शलाकापुरुषों का चरित्र निरुपण किया। पूर्वमध्ययुगीन जैनाचार्य पूर्व प्रचलित वैदिक परम्पराओं की समीक्षा करते हुए पाये जाते हैं इसी कारण उनके द्वारा हिन्दू धर्म के ऐतिहासिक तथ्यों के जैनीकरण करने के प्रयास किये गये। राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण जैनधर्मानुयायी राजाओं द्वारा किये गये धार्मिक कार्यो का वर्णन करना भी उनके साहित्य का उद्देश्य था।

विभिन्न जनपदीय लोकभाषाओं में धार्मिक, आख्यान, उपाख्यानों के माध्यम

से जैनधर्म को व्यापक एंव सर्वोपरिरुप प्रदान करना जैन इतिहास लेखकों की विशेषता थी। पूर्वमध्यकाल में जैनाचार्यो एंव इतिहास लेखकों द्वारा समन्वयवादी प्रवृत्ति को अपनाना उनकी धार्मिक सहिष्णुता एंव उदारवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। जैनग्रन्थों में प्राप्त काल निर्देश इतिहास निर्माण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अपने इन्हीं उद्देश्यों के अनुरुप ही जैन इतिहासकारों ने जैनधर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों का विश्लेषण एंव त्रेशठशलाकापुरुषों के चरित्र निरुपण एंव उनके पूर्वभवों के वर्णन निरुपण को अपने साहित्य का विषय बनाया। तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट धार्मिक सिद्धान्त श्रुतपरम्परा से चले आ रहे थे। कालक्रमानुसार उनके लुप्त होने पर जैन इतिहासकारों ने धर्म एंव दर्शन के सिद्धान्तों को स्थायी रुप देना चाहा जिसके लिए समय समय पर वाचनाऐं हुयी अन्त में पांचवी शताब्दी ई० वी० में विभिन्न वाचनाभेदों को व्यवस्थित रुप प्रदान करके देवर्धिगण क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों को लिपिवद्ध किया।

जैन श्रमणों के आचार विचारों एंव धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को आगम साहित्य का विषय बनाया गया। साधारण के लिए हृदयगम्य बनाने हेतु आख्यानों उपाख्यानों के रुप में शलाकापुरुषों के चरित्रों को अपनाया गया।

आगम साहित्य में निरुपित विषय का विकास आगम साहित्य पर लिखे जाने वाले व्याख्यात्मक साहित्य–चूर्णी, भाष्य, टीकाओं एंव निर्युक्तियों में पाया जाता है।

छठी शताब्दी ई० वी० में हिन्दू धर्म के विभिन्न धार्मिक चिन्तन की धाराओं को विकास हो चुका था उनके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के साहित्य का प्रणयन भी हो चुका था। जैन इतिहासकार पुराणों सदृश धार्मिक साहित्य से प्रभावित हुए, परिणामस्वरुप ऐतिहासिक काव्य एंव पुराण लेखन की परम्परा जैन इतिहास में भी श्रृंखला रुप में पायी जाती है। साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है। परिणामस्वरुप तत्कालीन परिस्थितियॉ एंव सामाजिक मान्यताऐं, साहित्य में स्वतः प्रतिबिम्बित हो उठती हैं। यही कारण है कि पौराणिक एंव चरितकाव्यात्मक साहित्य में त्रेशठशलाकापुरुषों एंव जैनधर्मानुयायी व्यक्तियों के चरित्र–निरुपण के साथ ही तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण भी नैसगिंक रुप में हुआ है। परिणामतः आगम साहित्य में सूत्र रुप में वर्णित विषय परवर्तीयुगीन साहित्य में विस्तृत होकर सिद्धान्तों का रुप धारण कर लेते हैं।

जैन इतिहासकारों ने धार्मिक सिद्धान्तों को लोकप्रिय एंव व्यापक रुप प्रदान करने के लिए कथात्मक शैली को अपनाया। कथा साहित्य तत्कालीन जैन जगत एंव संस्कृति का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करने में अत्यधिक सक्षम माने जाते हैं।

वर्तमान में साहित्यिक साक्ष्य की अपेक्षा अभिलेखीय साक्ष्यों को अधिक विश्वसनीय एंव महत्वपूर्ण माना जाता है। आगमों में वर्णित विषयों का विकास अभिलेखीय साहित्य में भी पाया जाता हैं। जैनधर्म को जनसाधारण के साथ ही साथ राजवंशों द्वारा प्रश्रय प्राप्त था इसी कारण जैनधर्मानुयायी राजाओं द्वारा किये गये धार्मिक कृत्य, भूमिदान ग्रामदान, मन्दिर एंव मूर्तिनिर्माण, मन्दिर जीर्णोद्वार, भिक्षुजीवन अपनाने समाधिमरण करने आदि का उल्लेख अभिलेखीय साहित्य में हुआ है। तत्कालीन संघ, गण, गच्छ, बलि एंव आचार्य परम्परा का उल्लेख जैन प्रशस्ति एंव अभिलेखों में प्राप्त होता है।

जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि निवृत्तिमार्गी जैनधर्म प्रवृत्तिमूलक उदारवादी दृष्टिकोण को अपने में समाहित किये हुए हैं। जैन धर्म में धर्म को निःश्रेयस की सिद्धि प्रदान करने वाला बतलाया गया है। त्रयरत्नों को मोक्षप्राप्ति के साधन (रुप) में माना गया है। जैनधर्म मुनिआचार एंव श्रावक आचार में विभक्त है जिनमें मुनियों के लिए पंचमहाव्रतों – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अमैथुन के साथ ही त्रिगुप्ति एंव पंचसमितियों का पालन करना आवश्यक था। तप, ध्यान, त्याग, वैराग्य एंव शील पर विशेष बल दिया गया है। श्रावकों को पंच अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, बारह अनुप्रेक्षाओं एंव ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने का निर्देश दिया गया है जैनधर्म में कर्म के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है। कर्मो के अनुसार ही शुभ, अशुभ, गतियों एंव दुःख सुखों के प्राप्त होने की बात कहीं गयी है। दुष्कर्मो के फलों का निरुपण करके सत्कर्मों एंव धर्म में प्रवृत्त कराना उनका उद्देश्य था।

जैनधर्म में पंचपरमेष्ठी मंत्र, पूजा एंव दान का अपना महत्व है। जैन भिक्षुओं के निवास स्थान, रहनसहन, आहार आदि के सम्बन्ध में निश्चित नियमों का पालन करना होता था लेकिन दुर्भिक्ष एंव अन्य कष्टों के आने पर उन्हें अपवाद मार्ग का आश्रय लेने की अनुमति प्रदान की गयी है।

छठी शताब्दी ई० वी० से बारॅहवी शताब्दी के जैनसाहित्य में चित्रित समाज एंव संस्कृति पूर्वमध्ययुगीन सामाजिक विशेषताओं से युक्त है। जैन सामाजिक संगठन का आधार कर्म था। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत आश्रमविकल्प, संविभाग एंव आश्रमवाद पर बल दिया गया है। विशेषतः मुनियों का निवास स्थान नगर से बाहर उद्यान एंव जंगलों में था सजातीय एंव एक विवाह को अधिक महत्व दिया गया था। विवाह प्रायः वयस्क होने पर किया जाता था। पर्दाप्रथा का अभाव, शिक्षा का समान अधिकार, धार्मिक क्षेत्र में समान अधिकार होना स्त्रियों की उच्च अवस्था को स्पष्ट करता है।

जैन साहित्य में वर्णित राजा का स्वरुप हिन्दू परम्परा की भॉति देवी शक्ति सम्पन्न न होकर मानवीय रहा है। सामान्यतया छः शत्रुओं पर विजय, पक्षपात रहित

होना, धर्म अर्थ काम का अविरोध सेवन, दयालुता, नीति, पराक्रम आदि श्रेष्ठ गुणों का होना आवश्यक था। राज्य का हस्तान्तरण करते समय प्रायः राजकुमार को शिक्षा दी जाती है। प्रायः राज्य का विस्तृत स्वरुप प्राप्त होता है। देश, समय, शत्रुवल, आत्मबल एंव शरीरबल को प्रधानता देते हुए साम, दाम, दण्ड, भेद से किस समय किस नीति को अपनाना चाहिए, की मीमांसा की गयी है। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा का समुचित पालन करना है। प्रजारंजन व प्रजा, पालन आवश्यक कर्त्तव्य बतलाया गया है। राज्य की मूल शक्ति आचार पराक्रम, सैन्य, एंव कोश की शक्ति में निहित बतायी गयी हैं। राजा अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाला एंव त्रिवर्ग का प्रवर्तक है। मनुष्यों की रक्षा के कारण नृप, पृथ्वी की रक्षा के कारण भूप एंव प्रजा को अनुरंजित करने के कारण राजा कहा गया है।

राजा के अनेक भेद—कुलकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, महामाण्डलिक, मंडलाधिप, सामन्त, द्वीपपति, भूधर आदि वर्णित किये गये हैं। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण राजाओं के जो लक्षण जैन ग्रन्थों में पाये जाते हैं वे अन्य परम्परा के लक्षणों के अपेक्षाकृत कुछ वैचित्र्य रखते हैं। चक्रवर्ती भरत को भरत आदि छः खण्डों का अधिपति कहा गया है उसके चौदह रत्न, नवनिधि एंव दस प्रकार के भोगों का विस्तृत वर्णन किया है। न्याय एंव पराक्रम राजाओं की विजय के आधार थे। शिक्षा प्राप्ति के बाद एंव राज्याभिषेक आदि अन्य अवसरों पर माता, पिता, गुरु एंव आचार्यो द्वारा शिक्षा देने का वर्णन किया गया है। मंत्रिपरिषद एंव अन्य अधिकारियों एंव उनके गुणों पर प्रकाश डाला गया है। राज्य के सप्तागों में कोष एंव दुर्ग का वर्णन, सेना के भेद, दूत व्यवस्था, न्याय व्यवस्था आदि का उल्लेख किया गया है। प्रभुता, उत्साह एंव मंत्र शक्ति द्वारा राजा प्रजा के कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

पुराणों में लोकों, द्वीपों तथा क्षेत्रों के उल्लेख के साथ—साथ नगरों पर्वतों एंव नदियों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है जो भूगोल विषयक ज्ञान को स्पष्ट करता है। साथ ही साथ विभिन्न राजाओं के राज्य सीमाओं, राज्य के स्वरुप एंव व्यापारिक केन्द्रों आदि का वर्णन भूगोल की जानकारी हेतु महत्वपूर्ण है।

सभी प्रकार के जीवन में अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य अर्थोपार्जन के साधन थे। जल एंव स्थल मार्गो से व्यापार होने एंव व्यापार में आने वाले कष्टों का वर्णन किया गया है। कथाओं से व्यापारिक स्थानों, वस्तुओं एंव वहॉ के निवासियों के रहन—सहन, वेशभूषा, एंव स्वभाव व्यवहार का उल्लेख प्राप्त होता है।

जैन साहित्य की उपरोक्त विधाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि विवेच्यकाल में जैनधर्म ने अन्य धर्मो के तत्वों को अपने में आत्मसात् कर लिया थां धर्म को सर्वोपरि रुप देने एवं धर्म की रक्षा के लिए जैनधर्म द्वारा हिन्दू धर्म के मूलभूत

सिद्धान्तों को अपनाया गया। जैन संस्कृति के विकास में हिन्दू संस्कृति का पर्याप्त योगदान रहा। उदारवादी एंव समन्वयवादी प्रवृत्ति होने के कारण जैनधर्म में अनेक हिन्दू ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश हुआ है। जैनपुराणों में हिन्दू पुराणों की परम्परा एंव वर्णित विषय को अपनाया गया है। रामायण एंव महाभारत के पात्रों के आधार पर चरितकाव्यों एंव पुराणों का निर्माण हुआ। पुराणों में वर्णित पात्रों को उन्नत एंव उदात्त रुप देने के लिए जैनीकरण की प्रकिया अपनाकर जैनधर्म को सर्वोपरि रुप दिया। धार्मिक भावनाओं को मूर्त्त रुप देने हेतु हिन्दू धर्म के अनुरुप मन्दिरों एंव मूर्तियों का निर्माण किया गया एंव वैदिक देवी देवताओं को जैन देवता समूह में स्थान दिया गया। जिन, शिव, विष्णु तथा बुद्ध को एक ही तत्व के विभिन्न रुप माने गये।

जैन इतिहास में प्राप्त मुनि आचार हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित धर्म के लक्षणों से मिलते हैं। जैन साहित्य में धर्म की परिभाषा महाभारत के आधार पर की गयी है। जैनधर्म के स्याद्वाद पर सांख्य के विचारों एंव अध्यात्मवाद, साम्यवाद, कर्मवाद एंव धार्मिक ऐतिहासिक तथ्यों पर भगवद्गीता के उपदेशों का पूर्ण प्रभाव ज्ञात होता है। हिन्दू धर्म की उपासना पद्धति एंव योग से जैन उपासना एंव जैन योगियों के व्यवहार एंव आचार पूर्णरुपेण प्रभावित हैं।

वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ, संस्कार, व्यवस्था, हिन्दू व्यवस्था के अनुरुप हैं। जैन साहित्यिक विधाओं का सृजन हिन्दू ऐतिहासिक साहित्य के आधार पर हुआ। चरितकाव्यों में प्राप्त तीर्थकंर के उपदेश गीता के श्लोकों की तरह ही उच्चारित किये जाते हैं। चौबीस तीर्थकंरों की ऐतिहासिकता भागवत सम्प्रदाय की चौबीस अवतारों की मान्यता से बहुत कुछ प्रभावित है। ऋग्वेद के प्राकृतिक दृश्यों की कुछ अलंकारिक कथाओं के आधार पर जैन लोक कथाओं एंव उपकथाओं का निर्माण हुआ है।

अन्ततोगत्वा कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म के अनुरुप एंव प्रभावित होने पर भी जैन साहित्य की अपनी विशेषताऐं हैं जिसके कारण वह अपनी सत्ता व्यापक रुप में बनाये हुए हैं। जैन इतिहास साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा गया जिसका कि वर्ण्य विषय धार्मिक सिद्धान्तों एंव त्रेशठशलाकापुरुषों के चरित्र निरुपण के साथ ही तत्कालीन सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एंव भोगोंलिक परिस्थितियों का चित्रण करना रहा परिणामस्वरुप इतिहास निर्माण एंव ऐतिहासिक परम्परा को कमवद्ध रुप देने में जैन इतिहास का पर्याप्त योगदान है।

१. तत्वार्थसूत्र, युक्त्यानुशासन, सम्मतिसूत्र, द्वात्रिशंतिकाओं, जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, दशभक्ति, प्रियलक्षणक दर्शन–आदि ।

२. द्विसन्धान महाकाव्य, नाममालाकोष, जयधवलाटीका, लघीस्त्रयीवृत्ति तत्वार्थ *राजवार्तिक,* षडदर्शनसम्मुख आदि।

३. बृहत्कथाकोष, वर्धमानचरित, शान्तिनाथ चरित, चन्द्रप्रभचरित, धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत, प्रद्युम्नचरित तिलक–मंजरी आदि।

४. मोहराजपराजय, नेमिनिर्वाण – महाकाव्य, त्रिशष्ठिशलाकापुरूष चरित कुमारपालचरित, एवं धनेश्वर, श्रीपाल, हरिचन्द्र, पद्मानन्द, गुणचन्द एवं विजयपाल आदि द्वारा प्रणीत ग्रन्थ।

५. षटखण्डागम, कसायपाहुड, पउमचरिय, वसुदेव, हिण्डी, कुवलयमाला जिनसहस्त्रनामस्त्रोत, चउपन्नमहापुरिसचरिय, महावीरचरिय, रयणचूडरायचरियं, धूर्ता, ख्यान, सुरसुन्दरीचरियं, कुमारपालचरित। आदि।

६. पउमचिरत, रिट्ठणेमिचरिउ एवं पुष्पदन्त, त्रिभुवनस्वयम्भू, धनपाल द्वारा प्रणीत ग्रन्थ।

७. यशोधरचरित, अनन्तनाथ चरित, नेमिनाथचरित, भरतेशवैभव, धर्मामूल, जीवकचिन्तामणि, शिलप्पडिकारम आदि।

सहायक ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

भगवती आराधना – (शिवकोटि) देवेन्द्रकीर्तिग्रन्थमाला शोलापुर १६३५

निशीथचूर्णी, एंव भाष्य – जिनदासमणि – सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा १६५७–६०

महानिशीथ – डब्ल्यू० शूब्रिंग, बर्लिन १६१८

विपाकसूत्र – (टीका) अभयदेव, बड़ौदा वि०सं० १६२२।

औधर्निर्युक्ति – टीका द्रोणाचार्य बम्बई १६१६ ।

ज्ञातृधर्मकथा – टीका–अभयदेव, आगमोदय, बम्बई १६१६

आवश्यकचूर्णी – जिनदासगणि, रतलाम १६२८

बृहत्कल्पभाष्य – संधदासगणि, आत्मानन्द जैन सभा, भवनगर १६३३–३८

व्यवहारभाष्य, टीका – मलयगिरि, भवनगर १६२६ ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति – टीका, शन्तिचन्द्र बम्बई १६२०।

उत्तराध्ययन – टीका, नेमिचन्द्र बम्बई १६२०। अंग्रेजी अनुवाद, हरमन उत जैकावी।

व्याख्याप्रज्ञप्ति–टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई १६२१, रतलाम १६३७, गुजराती अनुपाद, वेचरदास, अहमदाबाद, वि०सं० १६७६–८८।

औपपादिकसूत्र – टीका, अभयदेव, द्वितीय संस्करण, वि०सं० १६१४।

स्थानांगसूत्र – टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, १६३७।

राजप्रश्नीयटीका – अभयदेव, गुजराती अनुवाद, बेचरदास, अहमदाबाद, वि०सं० १६६४।

उत्तराध्ययनचूर्णी – जिनदासगणि रतलाम १६३३।

आंचारांगचूर्णी – जिनदासगणि रतलाम १६४१।

प्रश्नव्याकरण – टीका अभयदेव बम्बई १६१६

गच्छाचारवृत्ति – टीका, विजयविमलगणि अहमदाबाद १६२४।

सूत्रकृतांग – चूर्णी–जिनदासगणि, रतलाम १६१४, टीका, शीलांक, आगमोदय समिति बम्बई १६१७।

दशवैकालिक चूर्णी – निदासगणि रतलाम १६२३।

कल्पसूत्र टीका – सभयसुन्दरगणि, बम्बई १६३६।

उपासक दशा – सम्पादन, पी०एल०वैषपूना १६३०, टीका अभयदेव

निरियावलियों – टीका, चन्द्रसूरि, अहमदाबाद १६३८, सम्पादन अहमदाबाद १६३४

आवश्यक निर्युक्ति – भद्रवाहुचूर्णी – टीका – आगमोदयसमिति बम्बई १६१६

जीवाभिगमसूत्र, टीका – मलयगिरि बम्बई १६१६

पउमचरिउ (स्वयम्भू) भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण भाग १–३, १९५७–५८
जिनदत्तवचरित – (गुणभद्र) मा०दि०जै० ग्रन्थमाला
जिनरत्नकोश – पं०मणिविजय ग्रन्थमाला अहमदाबाद १९४६, ह०दा०वेलणकर, पूना १९४४
सुपासनाहचरिय – (लक्ष्मणगणि) – जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस सन् १९१८, गुजराती अनुवाद – जैन आत्मानन्द सभा भाव–नगर १९२५।
जिनरत्नकोश – जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस सन् १९१८,
चन्द्रप्रभ चरित (वीरनन्दी) निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९१२,
नेमिनिर्वणि महाकाव्य (वाग्भट प्रथम) निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३६।
महावीर चरित – हिन्दी अनुवाद पं० खूबचन्द्र शास्त्री, सूरत १९१८।
अंगुत्तर निकाय – हिन्दी अनुवाद – महाबोधि सभा कलकत्ता १९५७,
कंरकंडचरिठ – हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित कांरजा सीरीज १९४४।
उत्तराध्ययन – एच० जैकोवी द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित सेक्रेड बुक्स आफ् ईस्ट्, जिल्द, ४,५, (१९६५)
अर्थवेद संहिता १–२ अनु० ग्रिफिध बनारस १९१६।
आचारांग – ह० जैकोवी (पालि टैकस्ट सोसायटी, लन्दन, १८८२।
कौटिल्यीय अर्थशास्त्र – राजारामशास्त्री द्वारा अनुवादित, मैसूर १९०९,
जम्बूद्वीप पण्णति – बम्बई १९२०,
जहसर चरिउ (पुष्पदन्त) – पी०एल० बैद्य द्वारा सम्पादित कारां सीरीज १९३१
जिन सहस्त्रनाम – आशाधर, जिनसेन, सकल कीर्ति, हेमचन्द्र कृत स्तोत्रों का पाठ, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५४,
तत्वार्थसूत्र (उमास्वाति) – ज्ञानपीठ काशी, १९४६
दीर्धनिकाय – हिन्दी अनुवाद, प्रथम संस्करण भिक्षु राहूल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश कश्यप, सारनाथ, १९४२
धर्मपरीक्षा (अमितगति) – हिन्दी अनुवाद बम्बई १९०८।
नीतिवाकयामृत (सोमदेव) – सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, सीरीज न० २२ बम्बई
पाश्वभ्युिदय (जिनसेन) – योगिराज टीका, १९०९, माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई वी०सं० २४५१,
महापुराण (जिनसेन–गुणभद्र) १, ३ – पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित मा० दि० ग्रं० बम्बई १९३७–४७,
महाभारत – गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत – रावल सिंह चौहान – भार्गव पुस्ताकलय काशी
मेद्यदूत (कालिदास) – मोती लाल बनारसीदास, बनारस १९६१,

रत्नकरण्ड श्रावकाचार – चम्पतराय कृत अंग्रेजी अनुवाद विजनौर १६३१।
प्रवचनसार (कुन्दकुन्द) – बम्बई १६३५,
तैत्तिरीय उपनिषद् – आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रंन्थांक १५ आनन्दाश्रम मुद्रणालय १८६२–१६३८
पाण्डव पुराण – शुभचन्द्राचार्य – जैन संस्कृत संध सीतापुर वी नि०स० २४८०
प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुंग) – सिन्धी ज़े०सी० शान्ति निकेतन १६३३,
वासुदेव हिण्डी (संधदास–धर्मसन) – भावनगर १६३१, आत्मानन्द जैन, ग्रंथमाला प्रथम खण्ड
वशिष्ठ धर्मसूत्र – गमर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई १६१६।
षटखंडागम (धवलाटीका सहित) – हीरा लाल जैन, अमरावती व विदिशा भाग १–१६ भूमिका, हिन्दी १६३६–१६५६
अनुवाद, अनुकमणिका आदि सहित।
सूत्रकृतांग (नियुर्कित सहित) – पी० एल० वैद्य, पूना, १६३८।
वैदिक इन्डेक्स भाग – २ – मैकडोनल एण्ड कीथ, १६१२
दशकुमार चरित काले – बम्बई १६२५,
सर्वार्थ सिद्धि – रावजी सखाराम दोषी – मा० दि० जै० १६३७,
कथासरित्सागर (सोमदेव) भाग १–१० – लन्दन १६२४–२८,
कौटिल्य अर्थशास्त्र – चौरवम्बा विद्याभवन वाराणसी १६६२
युकत्यानुशासन, समन्तभद्र वीर सेवा मन्दिर दिल्ली वी०नि०सं० २४७७
तत्वार्थसूत्र सुख लाल जैन किशनगढ़, मगनलाल, हीरालाल पाटनी १६५२
पातज्जल योगदर्शन – विजयानन्द सूरी, श्री आत्मानन्द जैन पु०प्र० मंडल आगरा वी० नि० सं० २४४८।
बाल्मीकि रामायण – पं० पुस्तकालय काशी सं० २०१३,
पार्श्वनाथ चरित – वाणिजसूरि, दि, जै, ग्रन्थमाला वि० १६७३,
उत्तराध्ययनसूत्र – सर्वोदय प्रकाशन, १६५६ (प्राकृत)
राजतरिंगणी (कल्हण) – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६५०।
मनुस्मृति – दर्शनानन्द सरस्वती, पुस्तक मन्दिर मथुरा सं० २०१५,
भागवत पुराण – भूधरदास १६०५
आप्व मीमांसा – जैन संस्कृत संशोधन मंडल बनारास १६५३।
उपमितिभव प्रपंच कथा – देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्वार फन्ड (सं०४६) बम्बई १६१८–२०।
भविसयन्तकहा – गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज २२ बड़ौढ़ा १६२३,
चउपत्र महापुरिस चरियं – प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी ५, १६६१

जिनागम कथा संग्रह – गोपाल दास जीवाभाई पटेल – वी० मि० सं० २४ ७८
बृहत्कथाकोष हरिषेणाचार्य – भारतीय विद्याभवन बम्बई सं० १६६६ सं०–आ० ने० उपाध्ये।
पार्श्वनाथ का चातुर्यामधर्म – हेमचन्द्र मौदी पुस्तकमाला हीरा, बम्बई १६५७
कथाकोश प्रकरण – जिनेश्वर सूरि, भारतीय विद्याभवन, बम्बई बी०नि०स० २००५
परिशिष्ट पर्व – जर्मन जैकौवी, कलकता, १६३२
३. आराधना कथा कोष – जिनवाणी प्रचारक कार्यालय सं० १६५४
४. भगवती आराधना – (शिवकोटि) देवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थमाला शोलापुर १६३५
४. आराधना कथा कोष – जिन वाणी प्रचारक कार्यालय प्रवचन सारोत्रिर (नेमिचन्द्र) बम्बई १६२२–२६
जैन शिलालेख संग्रह – मा०दि०जै० ग्रन्थ समिति बम्बई १६२८
जैन शिलालेख संग्रह भाग–२ मा०दि०जैन ग्रन्थमाला बम्बई १६५२
जैन शिलालेख संग्रह भाग–३ मा०दि०जैन ग्रन्थमाला बम्बई १६५७
जैन शिलालेख संग्रह भाग–४ भारतीय ज्ञानपीठ काशी वीर निर्वाण सं० २४६१
जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह – वीरसेवा मन्दिर दिल्ली १६५४
जैन धातु प्रतिमा लेख – श्री जिनदत्तसूरि – ज्ञानभंडार सूरत ई० सू० १६५०
जैन लेख संग्रह – पूरनचन्द्र नाहर – बनारस हिन्दू वि० वि० सं० १६२६
प्राचीन जैन स्मारक
बीकानेर जैन लेख संग्रह – पा०रे०श० अग्रवाल, कलकत्ता नाहटा ब्रादर्स वी०नि०सं० २४८२
वर्द्धमान चरित – असग – रावजी सखाराम दोशी, नेमचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
सोलापुर मार्च सन् १६३१
क्षत्रचूड़ामणि – वादीभसिंह – दिगम्बर जैन जम्बू विद्यालय, वीर नि०स० २४५३
पार्श्वनाथ चरित भा० ४ वादिराज – मां०दि०जै० ग्रन्थमाला बम्बई सन १६७२
हिन्दी अनुवाद – (पं० श्री लालकृत) जयचन्द्र जैन कलकत्ता १६२२
बंराग चरित – जटासिंह नन्दी, सं०आ०ने० उपाध्याय, माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई १६३८
जीवन्धर चम्पू हरिचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ काशी जुलाई १६५८
चरित चक्रवर्ती मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया वी०नि०सं० २४७६।
प्रद्मुन चरित – महासेन – मा०दि०जै० ग्रन्थमाला समिति, वि०नि०सं० १६३७
नेमिचरित – विक्रम कवि – निर्णय सागर प्रेस बम्बई मई सन् १६१४
जसहरचरिउ – कांरजा जैन सीरीज ७, बम्बई १६३१
त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित – हेमचन्द्र सूरि, जै०ध०प्र०स० भावनगर १६०६–१३

भा० १–२ का हिन्दी अनुवाद, जैनेन्द्र प्रेस ललितपुर
राजीमती – दि०फाइन आर्ट प्रिटिंग प्रेस अजमेर वि०स० २००८
चन्द्रप्रभचरित – वीरनन्दि – बम्बई १९१२
सुरसुन्दरी चरिय – जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस सं० १९७२
करंकुडचरिउ – कारंजा जैन सीरीज ४, सन् १९३४
णायकुमारचरिउ – देवकीर्त्रि जैन सीरीज १, सन् १९३३
धर्म–शर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) – काव्यमाला–८, निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३३, भारतीय ज्ञानपीठ काशी (हिन्दी अनुवाद)
द्विसंधान महाकाव्य (धनज्जंय) काव्यमाला ५७, निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९२०
भारतीय तिलक मंजरी (धनपाल) निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३८
यशस्तिलक चम्पू प्रथम खण्ड (सोमदेव सूरि) पं० सुन्दरलाल शास्त्री। श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला वाराणसी १९६०
यशस्तिलक चम्पू द्वितीय खण्ड (सोमदेव) श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला वाराणसी १९७१
समराइच्च कहा – (हरिभद्रसूरि) सं० मधुसूदन चि०मोदी गूर्जररत्न ग्रन्थ कार्यालय अहमदाबाद १९३६
यशोधरचरित – वादिराज
गद्यचिन्तामणि – (वादीभसिंह) वाणी विलास प्रेम, श्री रंगम् १९१६ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से हिन्दू अनुवाद
कुवलयमाला (उद्योतनसूरि) भारतीय विद्याभवन बम्बई १९५९–१९७० दो भागों में
रयणचूड़ रायचरिय–पं० मणिविजय ग्रन्थमाला अहमदाबाद १९४९।
चउपन्नमहापुरिस चरिय (शीलंकाचार्य) प्राकृत ग्रन्थ परिषद सन् १९६१
जम्बूचरिय – सिंधी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई १९५८
कुमारपाल चरितं – आचार्य हेमचन्द्र – भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना १९३६
वृहत्कथामंजरी – श्री क्षेमेन्द्र – निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३१
धूर्ताख्यान (हरिभद्र) सं० श्री जिनविजयमुनि भारतीय विद्याभवन बम्बई २०००
जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह – (मुनि जिनविजय) भारतीय विद्याभवन बम्बई सं० १९९९
तत्वाथवार्तिक – (अंकलक देव) भा०१, भारतीय ज्ञानपीठ काशी–१८ फरवरी १९४४
कथासरित्सागर (सोमदेवभट्ट) निर्णय सागर प्रेस सं० १८५२
पद्मपुराण – प्रथम द्वितीय, तृतीय भाग (रविषेणाचार्य) भारतीय ज्ञानपीठ काशी जुलाई १९५८, १९५९, सं० पन्नालाल जैन
हरिवंशपुराण (जिनसेन) सं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी फरवरी १९४४,

१९९२।
आख्यानक मणिकोशः (मुनि नेमिचन्द्र) प्राकृत ग्रन्थ परिषद १९६१
पउमचरियं (विमल सूरि) सं० मुनिपुण्यविजय प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी १९६२।
कषायपाहुड (गुणधरा चार्य) सं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी मथुरा सन् १९४८।
कसाय पाहुड भाग २ से भाग ६ क्रमशः सन् १९४८, ५५, ५६, ५८, ६१, ६३।
समवायाग सूत्रम् – भाग–१ (घासीलाल टीकाकार) अखिल भारत जैन शास्त्रोद्वार समिति सन् १९६२
लोकविभाग (सिंह सूरिर्षि) सं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री – जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर सन् १९६२
पाण्डव पुराण (शुभचन्द्राचार्य) जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर सन् १९५४
निशीथसूत्रम् भाग १,२,३,४, (अमरमुनि) सन्मति ज्ञानपीठ आगरा सन् १९५७, १९५८, १९६०।

सहायक ग्रन्थ

१. श्रमण संस्कृति की रुप रेखा – पुरुषोत्तमचन्द्र जैन, पटियाला १९५७
२. जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश – जै०सी०जैन०भा०ज्ञा० काशी १९६१
३. जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर – आत्मानन्द जैन अम्बाला वी०नि०सं० २०१५
४. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह – शुभराज नाहटा कलकत्ता वी०नि०सं० १९९४
५. जैन इतिहास की पूर्व पीठिका – हीरालाल जैन, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, वि०नि०सं० १९३९।
६. जैन साहित्य और इतिहास – नाथूराम प्रेमी – यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी १९५६
७. प्राचीन जैन इतिहास – मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया वी०नि०सं० २४४७
८. जैन धर्म में अहिंसा – दि०जै०पु० सूरत १९३८
९. भारतीय इतिहास एक दृष्टि – जै०पी०जैसन, भा०ज्ञा०काशी १९६१
१०. जैन मन्दिर एंव हरिजन–बालचन्द्र प्रेस जयपुर वी०नि०सं० २४६५
११. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश – जुगलकिशोर मुख्तार १९५६
१२. जैन गजट हीरक जयन्ती ग्रन्थ, अजितकुमारशास्त्री वी०नि०सं० २४७८
१३. जैनवीरों का इतिहास – हिन्दी विद्यामन्दिर देहली वी०नि०सं० २४५६ दो

हजार वर्ष पुरानी कहानियॉ – काशी १६४६
१४. श्रीमद्रराजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ–जैन श्वेताम्बर संघ लाहोर १६५७
१५. महावीर स्मृति ग्रन्थ भा–१ काम्ताप्रसाद जैन, १६४८–४६
१६. ब्र०पं० चन्द्राबाई अभिनन्दन ग्रन्थ अखिल भारतीय जैन ग्रन्थ महिला परिषद आरा १६५४ हिन्दू सभ्यता – मुकर्जी, वासुदेव शरण अग्रवाल दिल्ली १६५८।
१७. गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ – अखिल भारतीय जैन विद्वत परिषद १६६७।
१८. गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ – गुरुदेव स्मृति ग्रन्थ समिति – लोहामंडी आगरा १६६४।
१६. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ – श्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति वि०नि०सं० २४७६।
२०. छवि स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ – भारत कला भवन १६२०–१६७०
२१. हीरक जयन्त कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ – पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री १६६४
२२. जैनधर्म का परिचय – श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था राजस्थान वी०नि०सं० २४८४।
२३. प्राचीन भारतीय अभिलेख (प्र०भा०) प्रज्ञाप्रकाशन पटना १६७० द्वि०सं०
२४. समन्वय की गंगा मूर्तिशिल्प (चतुर्वेदी जगदीश चन्द्र) नवचेतना प्रकाशन गुइनरोड लखनऊ १६६४
२५. जैन प्रतिमा विज्ञान– मदनमहल जनरल स्टोर जबलपुर सन् १६७४
२६. जैन लेख संग्रह – अज्ञात
२७. इतिहास प्रवेश – संस्करण–४, इन्द्रचन्द्र नारंग – हिन्दी भावन ३१२, इलाहाबाद सन् १६५२
२८. तीर्थकंर महावीर भाग–१, काशीनाथ सराग, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई १६६२
२६. तीर्थकंर महावीर भाग–२, काशीनाथ सराग, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई १६६२
३०. प्रमुख ऐतिहास जैन पुरुष एंव महिलाऐं –ज्योति प्रसाद जैन – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन सन् १६७५।
३१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ – प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति टीकमगढ़ १६४६
३२. पौद्धार अभिनन्दन ग्रन्थ – अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल मथुरा सं० २०१०।
३३. जैन साहित्य एंव इतिहास – संस्करण २ साहित्यमाला बम्बई २ सन् १६५६।

३४. जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि – काशीनाथ सराग, यशोधर्म मन्दिर बम्बई १६५८।

३५. प्राकृत जैन कथा साहित्य – भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद १६७१।

३६. जैन साहित्य का बृहद इतिहास – भाग–१ दोशी पं० बेचरदास – पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १६५६

३७. वही भाग २, जगदीश एंव मेहता, मोहनलाल सं० १६६६

३८. वही भाग ३, जगदीश एंव मेहता, मोहनलाल सं० १६६७

३६. वही भाग ४, जगदीश एंव मेहता, मोहनलाल सं० १६६८

४०. वही भाग ५, शाह अम्बालाल सन् १६६६

४१. वही भाग ६, चौधरी गुलाबचन्द्र सन् १६७३

४२. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन – श्री जगदीशचन्द्र जैन सुशील वोहरा प्रकाशन जयपुर १६७१

४३. सोमदेवकृत यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन– डा० गोकुलचन्द्र पार्श्वनाथ विद्याश्रम १६६५

४४. हिन्दू सभ्यता – राधकमल मुकुर्जी – राजकमल प्रकाशन दिल्ली १६२८

४५. वीर विहार मीमांसा – दिल्ली १६४६

४६. जैन *आगम साहित्य में भारतीय समाज*(जगदीशचन्द्र जैन) चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १, १६६५।

४७. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान – मध्यप्रदेश शासन साहित्य (हीरालाल जैन) परिषद् भोपाल १६६२

४८. जैन कला एंव स्थापत्य खण्ड १,२,३, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १६७५ सं० लक्ष्मीचन्द्र जैन।

४६. देवगढ़ की जैनकला – डा०भागचन्द्र जैन – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १६७४ हिन्दू संस्कार – राजवली पाण्डेय, बनारस १६५७।

५०. पूर्व मध्यकालीन भारत – डा० वासुदेव उपाध्याय – भारत दर्पण – ग्रन्यमाला प्र०सं० सं० २००६

५१. प्राकृत साहित्य का इतिहास – हरदेव बाहरी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

५२. बाल्मीकि रामायण – गीता प्रेस गोरखपुर।

५३. रघुवंश (कालिदास) – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १६३१

५४. हितोपदेश – निर्णय सागर प्रेस बम्बई

५५. काठक संहिता – एल० बी० श्रेडर, लीपसिंग १६२२

५६. बाजसनेयी संहिता

अंग्रेजी पुस्तकें – सहायक ग्रन्थ

१. एस्पैक्टस ऑफ जैन आर्ट एण्ड आर्टीटेक्चर – नवजीवन प्रेस अहमदाबाद दिसम्बर १९७५

२. हिस्ट्री ऑफ जैन मोनचिज्म फ्रोम इन्शकिपशन्स एण्ड लिटरेचर

३. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर – भाग २ विष्टरनित्स । देवचन्द्र लालभाई, पुस्तकोंद्धार फन्ड बम्बई १९१८–२०।

४. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नौदर्न इण्डिया फ्रोम – गुलाबचन्द्र चौधरी – प्रकाशित शोध प्रबन्ध जैन सोर्सेज़, ६५० ए०डी० टू १३०० ए०डी० अमृतसर १९५४

५. दि जैन सोर्सज ऑफ हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ठ इण्डिया – ज्योति प्रसाद जैन प्रकाशित शोध प्रबन्ध।

६. आस्पैक्ट ऑफ एन्शियन्ट – इंडियन पोलिटी, – एन०एन०ला० आक्सफोर्ड, १९२१

७. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया – बी०ए० स्मिथ, आकसफर्ड, १९२४, चतु०संस्करण

८. आउट लाइन ऑफ जैनिज्म – जै०एल०जैनी०कैम्ब्रिज १९१६

९. औरिजन एण्ड डैवलपैंन्ट आफ कस्टम इन इण्डिया – एन०के०दत्त, लन्दन १९३१

१०. इण्डियन फिलासफी – एस०राधाकृष्णन् लन्दन १९२३

११. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स जिल्द १–१२ ननिगोपाल मजूमदार बांगल १९२६

१२. एन्शियन्ट इण्डिया एज – डिस्काइबड इन कलासिकल लिटरेचर जे०डब्ल्यू०मैककिडंल वैस्टमिंस्टर १९०१

१३. जिनपूजाधिकार मीमांसा – जे०केमुखतार बौम्बे १९१३

१४. ए० हिस्ट्री ऑफ हिन्दू – यू० धोषाल, कलकत्ता १९२३ पोलिटिकल थियरीज

१५. जैन कम्यूनिटी – ए सोशल सर्वे – बी०ए०संगकेख बोम्बे १९५९

१६. जैन दर्शन – महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य काशी १९५५।

१७. जैनधर्म – कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वि०सं० २४७५

१८. जैन विविलिओग्रेफी – छोटेलाल जैन, कलकत्ता, १९४५

१९. जैन साहित्यिनों संक्षिप्त इतिहास (गुजराती एम०डी० देसाई) बाम्बे १९२३

२०. *जैन शासन सुमेरुचन्द्र दिवाकर काशी १९५०*

२१. जैन सिस्टम ऑफ एडूकेशन बी०सी०दास गुप्ता कलकत्ता १९४२
२२. ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शियन्ट एण्ड मैडिकल इण्डिया नन्दलाल डे, लन्दन १९२७
२३. डॉकिट्रन ऑफ कर्म इन जैन फिलासफी – एच०ग्लासप, बाम्बे १९४२
२४. डैवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रेफी – जे०एन०बनर्जी (द्वि.स. – कलकत्ता)
२५. डैवलपमैन्ट ऑफ हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज – एन०सी० बन्ध्योपाध्याय, कलकत्ता १९२७
२६. दिकल्चर एण्ड दि हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन पीपुल जिल्द–२, (द्वि०सं०) रमेशचन्द्र मजूमदार और एस०डी० पुसलकर, भारतीय विद्याभवन, १९५३।
२७. दि जैनाज इन दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, एम०विण्टरनित्स अहमदाबाद १९४६
२८. लाइफ इनएनिशयन्ट इण्डिया – एज डिपकटेड इन जैन कैननस – जगदीश चन्द्र जैन बौम्बे १९४७।
२९. स्टडीज इन इपिक एण्ड पुराव्यज – ए०डी०फुसाल्कर बौम्बे १९५५।
३०. हिस्ट्री ऑफ कस्टम् इन इण्डिया – एस०बी०केलकर, न्यूयार्क, १९४७
३१. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र जिल्द–४ पी०वी०काणे, भण्डारकर – ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना
३२. हिन्दू पोलिटक्स – के०पी० जायसवाल कलकत्ता १९२४
३३. हिन्दू कास्टम् एण्ड सेक्ट्स – जे०एन०भट्टाचार्य, कलकत्ता १८९६
३४. स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनेस्ट्रेशन – के०ए०नीलकण्ड शास्त्री मद्रास १९३२
३५. एस्पैक्ट्स ऑफ ब्राह्मणेकिल इन्फलुरेन्स औन जैन माइथोलोजी – भारती भारती भण्डार दिल्ली १९७८।
३६. स्कूल्स सैक्ट्स इन जैन लिटरेचर – विश्वभारती अप्रैल १९३१
३७. यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर – शोलापुर १९४९
३८. जैन फिलासफी – जैन कल्चर रिसर्व सोसायटी बनारस १९५५।
३९. इपिक माइथोलोजी – हापिकन्स ई०डब्ल्यू स्ट्रासबर्ग १९१५।

पत्रिकाऐं

जैन सिद्धान्त दर्पण, पत्रिका, प्रकाशित मन
जैनगजट

जैनभारती
जैनेन्द्र प्रक्रिया
तुलसी प्रज्ञा
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
जैन शतक
जैन महिलादर्श
अनेकान्त, फरवरी १९४१ से १९५५ तक
जैन सिद्धान्त भास्कर – हीरालाल जैन
जैनमित्र
जैनहितुच्छु – नाथूलाल जैन
जिनवाणी
सन्मति सन्देश
अमरभारती
जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
जनरल ऑफ विहार रिसर्च सोसाइटी, भारती
जैन साहित्य संगोष्ठी स्मारिका अक्टूबर १९७८
प्रज्ञा
इंडियन एण्टीकवेरी
भारतीय जैन साहित्य संसद
जैन साहित्य संशोधक
जैन शोधांक
जैन सन्देश
इण्डियन कल्चर
इम्पीरियल गजेटियर
एपिग्राफिक इंडिका
एनसाइक्लोपिडिया ऑफ इथिक्स एण्ड बरजीजन
जैन इंडियन एण्ड एन्टीकवेरी
भारतीय विद्या
आर्किओलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोटर्स
जनरल ऑफ उत्तरप्रदेश हिस्टोरिकल सोसाइटी
वीरवाणी
जैन प्रचारक
दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण

अहिंसा वाणी
जैनहितबोध
इडियन एण्टीकवेरी
प्रकाशितमन प्रज्ञा
नागपुर यूनिवर्सिटी जनरल
जर्नल आव् बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी
मथुरा संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, विश्व ज्योति।
जैन युग निर्माण
दि आर्क्योलौजिकल सर्वे ऑफ गुजरात
दि आर्क्योलौजिकल सर्वे ऑफ मैसूर
जनरल ऑफ ओरियन्टल इन्स्ट्रीटयूट बडौदा

CLASSICAL PU[illegible]OMPANY

28, SHOPPING CENTRE, KARAMPURA
NEW DELHI-110015
PHONE : 5465978